नोटः ष्ठा के जगह पर श तथा ष्टके जगह पर ट पढ़ा जाये।

राष्ट्रसन्त महन्त अवेद्यनाथ स्मृति व्याख्यान-माला

विमर्ष्ठा-२०१६

सम्पादक
प्रदीप कुमार राव

महाराणा प्रताप स्नातकोत्तर महाविद्यालय
जंगल धूसड़, गोरखपुर- २७३०१४

विमर्ष-२०१६

राष्ट्रसन्त महन्त अवेद्यनाथ स्मृति व्याख्यान-माला

२६ अगस्त से ०१ सितम्बर, २०१६

वर्ष-१०, अंक-१०

ISSN : 0976-0849

परामर्ष मण्डल :

प्रो. यू.पी. सिंह, पूर्व कुलपति, वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल वि.वि.जौनपुर

प्रो. प्रताप सिंह, पूर्व अध्यक्ष, उच्चतर शिक्षा सेवा चयन आयोग, उ.प्र.

प्रो. रामअचल सिंह, पूर्व कुलपति, रा.म.लो.अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद

प्रो. शिवाजी सिंह, पूर्व अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गो.वि.वि.गोरखपुर

प्रो. सदानन्दप्रसाद गुप्त, आचार्य (अ.प्र.) हिन्दी विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गो.वि.वि.गोरखपुर

सम्पादक :

प्रदीप कुमार राव

सह-सम्पादक :

महेश्वा नारायण त्रिगुणायत

डॉ. अविनाश्वा प्रताप सिंह

सुबोध कुमार मिश्र

***मूल्य* : १५० रुपये**

© **सम्पादकाधीन**

प्रकाश्वक :

महाराणा प्रताप स्नातकोत्तर महाविद्यालय

जंगल धूसड़, गोरखपुर

मुद्रक :

कमल ऑफसेट प्रिण्टर्स

दुर्गाबाड़ी, गोरखपुर-२७३००१

वन्दे भारतमातरम् !!

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेष्ठचैव दक्षिणम्।

वर्ष तद्भारत नाम भारती यत्र सन्ततिः।। वा.पु.

पष्टवी का वह भाग जो समुद्र के उत्तर में तथा हिमालय के दक्षिण में स्थित है, भारतवर्ष है, जहाँ भारती प्रजा रहती है।

अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने।

यतो हि कर्मभूरेषा ह्यतोऽन्याः भोगभूमयः।। वा.पु.

इस जम्बू-द्वीप में भी, हे महामुने! भारतवर्ष श्रेष्ठ है, क्योंकि यह कर्मभूमि है और बाकी भोग-भूमियाँ ही हैं।

अत्र जन्म सहस्राणां सहस्रैरपि सत्तम।

कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसञ्चयात्।। वा.पु.

भारतवर्ष में जीव हजारों जन्मों के अनन्तर पुण्य जुटाने से कदाचित् मनुष्य जन्म प्राप्त करता है।

एतद्देष्ठाप्रसूतस्य सकाष्ठादग्रजन्मनः।

स्वं स्वं चरित्रं ष्ठिक्षेरन् पष्ठिव्यां सर्वमानवाः।। मनु.

इस देष्ठा में जन्म पाए हुए श्रेष्ठ जन्मा पुरुषों से पष्ठिवी के सारे मनुष्य अपने-अपने चरित्र की ष्ठिक्षा ग्रहण करें।

रत्नाकराधौतपदां हिमालयकिरीटिनीम्।

ब्रह्मराजर्षिरत्नाढ्यां वन्दे भारतमातरम्।।

समुद्र जिसके पाँव पखार रहा है, हिमालय जिसका किरीट है और जो ब्रह्मर्षि-राजर्षि रूप रत्नों से समष्ठद्ध हैं, ऐसी भारत-माता की मैं वन्दना करता हूँ।

भारतीय जीवन दृष्टि

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः।

देवा नो यथा सदमिद् वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे॥ (ऋग्वेद 1/49/1)

कल्याणकारिणी, अप्रतारित, अप्रतिरुद्ध तथा अर्थसाधिका बुद्धियाँ हमारे पास सब ओर से आयें, जिससे निरलस एवं प्रतिदिन रक्षा करने वाले देव सर्वदा हमारी वृद्धि के लिए हों।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।

स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥ (ऋग्वेद 1/8/8)

हे देव! हम कानों से अच्छा सुनें। यजनीय देवगण! हम आँखों से अच्छा देखें। हम दृढ़ाङ्ग शरीरों से तुम्हारी स्तुति करते हुए, देव-स्थापित आयु प्राप्त करें।

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।

बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽसि ओजो मयि धेहि।

महोऽसि महो मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि। (यजुर्वेद 19/9)

(हे परमात्मन्! तुम) तेज हो, मुझमें तेज स्थापित करो। पराक्रम हो, मुझमें पराक्रम स्थापित करो। बल हो, मुझमें बल स्थापित करो। ओज हो, मुझमें ओज स्थापित करो। मह हो, मुझमें मह स्थापित करो। सहिष्णु हो, मुझमें सहिष्णुता स्थापित करो।

भद्रं इच्छन्त ऋषयः स्वर्विदः, तपो दीक्षा उपसेदुः अग्रे।

ततो राष्ट्रं बल ओजश्च जात तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥ (अथर्व. 19/41/1)

आत्मज्ञानी ऋषियों ने जगत् का कल्याण करने की इच्छा से सृष्टि के आरम्भ में दीक्षा लेकर जो तप किया, उससे राष्ट्र-निर्माण हुआ, राष्ट्रीय बल और ओज भी हुआ। इसलिए सब विवुध इस राष्ट्र के सामने नम्र होकर इसकी सेवा करें।

आ ब्रह्मन्! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्। आ राष्ट्रे राजन्यः शूराविध्यतेऽतिव्याधी महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुः, वोढाऽनड्वान्, आशुः सप्तिः, पुरन्धिर्योषा, जिष्णुरथेष्ठाः, सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे-निकामे पर्जन्यो वर्षतु। फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्। योगक्षेमो नः कल्पताम्। (यजुर्वेद. 22/22)

हे ब्रह्मन्! राष्ट्र में हमारे ब्राह्मण, ब्रह्म वर्चस्वी हों। हमारे राजन्य शूर, अस्त्र-शस्त्र में निपुण, रिपुदल के महासंहारक तथा महायोद्धा हों। हमारी गायें दुधारू हों, बैल हल आदि ढोने वाले हों, घोड़े वेग से दौड़ने वाले हों, स्त्रियाँ घर सँभालने वाली हों, योद्धा विजयशील हों, तथा युवक सभ्य एवं वीर हों। जब-जब हम चाहें बादल बरसें। हमारी फल-फूलवती खेतियाँ पकती रहें और हमारा योगक्षेम चलता रहे।

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।

तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

पुण्य-स्मृति

गोरक्षपीठ द्वारा संचालित
महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद्
शिक्षा क्षेत्र की एक अग्रणी संस्था है।
पूर्वी उत्तर प्रदेश में गोरखपुर को केन्द्र बनाकर
प्राथमिक से उच्च शिक्षा तक लगभग चार दर्जन
शिक्षण संस्थानों का संचालन करने वाले
महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद्
की स्थापना १९३२ ई. में
गोरक्षपीठाधीश्वर
महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज
ने की थी और इसे विशाल वटवृक्ष का रूप दिया
उनके शिष्य महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज ने।
महाराणा प्रताप स्नातकोत्तर महाविद्यालय
इसी महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद्
जैसे वटवृक्ष की एक शाखा है।
राष्ट्रसन्त महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज
की
पुण्यस्मृति में
सादर समर्पित है

विमर्श-२०१६

राष्ट्र सन्त महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज

जन्म-तिथि : 18 मई 1919
जन्म स्थान : ग्राम- कांडी, जिला- गढ़वाल (उत्तरांचल)
पारिवारिक स्थिति : बाल ब्रह्मचारी
शिक्षा : शास्त्री, संस्कृत (वाराणसी एवं हरिद्वार में अध्ययन)
दीक्षा : 08 फरवरी 1942
गोरक्षपीठाधीश्वर : 29 सितम्बर 19694
राजनीतिक उपलब्धियाँ : **विधानसभा सदस्य**

- 1962 मानीराम, हिन्दू महासभा
- 1967 मानीराम, हिन्दू महासभा
- 1969 मानीराम, हिन्दू महासभा
- 1974 मानीराम, हिन्दू महासभा
- 1977 मानीराम, जनता पार्टी

लोकसभा सदस्य

- 1970 गोरखपुर संसदीय क्षेत्र, हिन्दू महासभा
- 1989 गोरखपुर संसदीय क्षेत्र, हिन्दू महासभा
- 1991 गोरखपुर संसदीय क्षेत्र, भारतीय जनता पार्टी
- 1996 गोरखपुर संसदीय क्षेत्र, भारतीय जनता पार्टी

संसदीय दायित्व : 1971 सदस्य, परामर्शी समिति, गृह मंत्रालय (भारत सरकार)
1989 सदस्य, परामर्शी समिति, गृह मंत्रालय (भारत सरकार)
महत्त्वपूर्ण पद : महासचिव, महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद्, गोरखपुर।
धार्मिक पद : गोरक्षपीठाधीश्वर, श्री गोरक्षनाथ पीठ, गोरखपुर।

अध्यक्ष

- श्रीराम जन्मभूमि मुक्ति यज्ञ समिति।
- अखिल भारतवर्षीय अवधूत भेष बारहपंथ-योगी महासभा, हरिद्वार।
- श्रीराम जन्मभूमि मन्दिर निर्माण उच्चाधिकार समिति।
- गुरु गोरखनाथ सेवा संस्थान, गोरखनाथ, गोरखपुर।

चिकित्सा के क्षेत्र में : **अध्यक्ष**

- गुरु श्री गोरखनाथ चिकित्सालय, गोरखनाथ, गोरखपुर।
- महन्त दिग्विजयनाथ आयुर्वेद चिकित्सालय, गोरखनाथ, गोरखपुर।
- श्री माँ पाटेश्वरी सेवाश्रम चिकित्सालय, देवीपाटीन, तुलसीपुर, बलरामपुर।
- गुरु गोरखनाथ इन्स्टीट्यूट ऑफ मेडिकल साइन्सेज, सोनबरसा, मानीराम, गोरखपुर।

सामाजिक-सांस्कृतिक : श्रीराम जन्मभूमि-मुक्ति आन्दोलन के प्रणेता।
साहित्य एवं विज्ञान : विभिन्न मासिक पत्रिकाओं में योग और दर्शन पर लेख प्रकाशित।
प्रबन्ध सम्पादक, मासिक पत्रिका 'योगवाणी'।
योग के क्षेत्र में : अध्यक्ष, महायोगी गुरु गोरखनाथ योग संस्थान, गोरखनाथ, गोरखपुर।
ब्रह्मलीन : 12 सितम्बर 2014
जनता दर्शन : 13 सितम्बर 2014
समाधि : 14 सितम्बर 2014

चरैवेति! चरैवेति!

वैदिक ग्रन्थ 'ऐतरेय ब्राह्मण' के 'चरैवेति! चरैवेति!' ष्ठीर्षक मंत्र राष्ट्र-सन्त महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज के जीवन में साक्षात् दिखता है। इन मंत्रों का मूल स्वरूप और सहज-सरल भावानुवाद यहाँ प्रस्तुत है-

नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति इति रोहित ष्ठुश्रुम।
पापो नष्ठद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा।। **चरैवेति! चरैवेति!**

भावार्थ : (हरिष्ठचन्द्र के पुत्र रोहित को उपदेष्ठा करते हुए इन्द्र कहते हैं) हे रोहित! हम ऐसा सुनते हैं कि श्रम करने से जो नहीं थका है, ऐसे मनुष्य को श्री की अथवा ऐष्ठवर्य और वैभव की प्राप्ति होती है। बैठे हुए आलसी आदमी को पाप धर दबाता है। इन्द्र उसका ही मित्र है, जो बराबर चलता रहता है। इसलिए चलते रहो! चलते रहो!

पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फल ग्रहिः।
ष्ठेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः।। **चरैवेति! चरैवेति!**

भावार्थ : जो मनुष्य चलता रहता है, उसकी जांघों में फूल फूलते हैं। उसकी आत्मा भूषित और ष्ठोभित होकर फल प्राप्त करती है। ऐसे चलने वाले परिश्रमी व्यक्ति के सारे पाप थककर सोये रहते हैं। इसलिए चलते रहो! चलते रहो!

आस्ते भग आसीनस्य ऊर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
ष्ठेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः।। **चरैवेति! चरैवेति!**

भावार्थ : बैठे हुए का सौभाग्य बैठा रहता है और खड़े होने वाले का सौभाग्य उठकर खड़ा हो जाता है। पड़े रहने वाले का सौभाग्य सोता रहता है और उठकर चलने वाले का सौभाग्य चल पड़ता है। इसलिए चलते रहो! चलते रहो!

कलिः ष्ठयानो भवति संजिहानस्तुः द्वापरः।
उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कष्ठं सम्पद्यते चरन्।। **चरैवेति! चरैवेति!**

भावार्थ : सोने वाले का नाम कलियुग है, अंगड़ाई लेने वाला द्वापर है, उठकर खड़ा होने वाला त्रेता है और चलने वाला सतयुगी होता है। इसलिए चलते रहो! चलते रहो!

चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदम्बरम्।
सूर्यस्य पष्ठय श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्।। **चरैवेति! चरैवेति!**

भावार्थ : चलता हुआ मनुष्य ही मधु (अमष्ठ) प्राप्त करता है। चलता हुआ मनुष्य ही स्वादिष्ट फलों को चखता है। सूर्य के परिश्रम को देखो, जो नित्य चलता हुआ कभी आलस्य नहीं करता। इसलिए चलते रहो! चलते रहो!

卐

राष्ट्रसन्त महन्त अवेद्यनाथ स्मृति व्याख्यान-माला
२६ अगस्त से ०१ सितम्बर, २०१६

उद्घाटन - २६ अगस्त, २०१६, शुक्रवार

सान्निंध्य : **महन्त योगी आदित्यनाथ जी महाराज**
गोरक्षपीठाधीश्वर, सदर सांसद, गोरखपुर

अध्यक्ष : **प्रो. यू.पी. सिंह**
पूर्व कुलपति, वी.ब. सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर

मुख्य अतिथि : **प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा**
आचार्य-दर्शनशास्त्र विभाग, डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

व्याख्यान

२७ अगस्त, २०१६

पूर्वी उत्तर प्रदेश का विकास : चुनौतियाँ एवं समाधान
डॉ. सतीश द्विवेदी
अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, बुद्ध पी.जी. कॉलेज, कुशीनगर

वैश्विक ताप वृद्धि : चुनौतियाँ एवं समाधान
डॉ. विजय कुमार चौधरी
अध्यक्ष, भूगोल विभाग, महाराणा प्रताप पी.जी. कालेज, जंगल धूसड़

२८ अगस्त, २०१६

शिक्षा का वर्तमान परिदृश्य: एक मूल्यांकन
डॉ. एस.के. वर्मा
एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र, बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर, बिहार

कबीर का समाजवाद
डॉ. आरती सिंह
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, महाराणा प्रताप पी.जी. कालेज, जंगल धूसड़

२९ अगस्त, २०१६

धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा: भारतीय सन्दर्भ में एक विवेचन
डॉ. द्वारिकानाथ
दर्शनशास्त्र विभाग, दी.द.उ. गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन में विकृतियाँ
श्री सुबोध कुमार मिश्र
अध्यक्ष, प्रा.इतिहास विभाग, महाराणा प्रताप पी.जी. कालेज, जंगल धूसड़

३० अगस्त, २०१६

शिक्षा के समक्ष चुनौतियाँ: समस्या एवं समाधान
डॉ. राजेन्द्र भारती
एसो.प्रोफेसर(अ.प्र.), राष्ट्रीय रक्षा अकादमी, खड्गवासला, पुणे

प्राचीन भारत में रसायन विज्ञान
डॉ. शिव कुमार बर्नवाल
अध्यक्ष, रसायनशास्त्र विभाग, महाराणा प्रताप पी.जी. कालेज, जंगल धूसड़

३१ अगस्त, २०१६

हिन्दुत्व एवं राष्ट्रीयता
डॉ. उदय प्रताप सिंह
प्रतिष्ठित साहित्यकार, वाराणसी

भारत में सामाजिक परिवर्तन : वर्तमान परिप्रेक्ष्य
श्री प्रकाश प्रियदर्शी
अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग, महाराणा प्रताप पी.जी. कालेज, जंगल धूसड़

समारोप - ०१ सितम्बर, २०१६, बृहस्पतिवार

अध्यक्ष : **महन्त योगी आदित्यनाथ जी महाराज**
गोरक्षपीठाधीश्वर, सदर सांसद, गोरखपुर

मुख्य वक्ता : **प्रो. रामअचल सिंह**
पूर्व कुलपति, राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद

मुख्य अतिथि : **डॉ. मानेन्द्र प्रताप सिंह**
सदस्य सचिव, भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली

सम्पादकीय

'ज्ञान' और 'विवेक' के कारण ही मनुष्य अन्य प्राणियों से अलग रचना-संसार का स्वामी है। 'ईश्वर' की सृष्टि में मनुष्य ने विजेता भाव से एक तरफ अपनी दुनिया बसायी, अपने गाँव और नगर बसाये, लौकिक सुखों का संसार बनाया तो दूसरी तरफ दुनिया के विध्वंस का साजो-सामान भी तैयार किया। ऊँची अट्टालिकाएँ, स्वप्नदर्शी स्वर्गलोक जैसे उसे सजाने-सवाँरने के सामान, चकाचौंध करने वाले विद्युत ऊर्जा की खोज, आणविक क्षमता का विकास और फिर अन्तरिक्ष की सैर करने वाले मानवरहित विमान का निर्माण, यह सब कुछ मानव की प्रकृति पर विजय की दिशा में बढ़ते कदमों की आहट ही तो है। दूसरे लोक की खोज की गुत्थी सुलझाने, गॉड पार्टिकल खोज लेने, चन्द्रमा-मंगल पर मानव बस्तियाँ बसाने में बुद्धि और कौशल को खपा देने वाले तथा मानव क्लोन तैयार कर लेने वाले मनुष्य की ताकत को आज कौन नकार सकता है। इक्कीसवीं सदी के विश्व भर में प्रकृति पर विजय पा जाने के दम्भ में चूर मानव को इस मुकाम तक पहुँचाने का श्रेय आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के शिक्षण संस्थाओं को ही तो है। ऐसे में यदि आज की 'शिक्षा प्रणाली' पर मानव इतराये तो आश्चर्य कैसा? भारत भी दुनिया के मंच पर अपनी उपस्थिति दमदारी से दर्ज करा रहा है। भारत के उच्च तकनीकी शिक्षण संस्थाओं से निकलने वाली प्रतिभाओं का लोहा दुनिया मान रही है। कम्प्यूटर सॉफ्टवेयर के क्षेत्र में, आणविक ऊर्जा के क्षेत्र में, अन्तरिक्ष के क्षेत्र में भारतीय मेधा अगले मोर्चे पर डटी है।

किन्तु ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में उच्च शिक्षण संस्थानों की उपलब्धियों का यह एक पहलू है। प्रकृति पर विजय पाने और उपलब्धियों की असीमित इच्छाओं को प्रोत्साहित करने की दिशा में सक्रिय शिक्षण संस्थाएँ मानव को 'मनुष्य' बनाने के अपने मूल कर्तव्य से च्युत हो गयीं। हम क्या हैं? क्यों जन्मे? मृत्यु के बाद क्या होगा? जन्म-पुनर्जन्म का सच क्या है? व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र, विश्व के प्रति एक सूत्रता क्या है, रिश्ते क्या हैं? सेवा, परोपकार, परहित, सत्य, अपरिग्रह, अस्तेय आदि भारतीय जीवन मूल्य आधुनिक शिक्षण संस्थानों के लिए आज निरा बकवास है। भारतीय जीवन के मूल उद्देश्य पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की बात करना आज साम्प्रदायिकता का पर्याय हो गया है। संस्कृति और संस्कार जैसे विषय आधुनिक शिक्षा के लिए बीते युग की बात हैं, उनकी प्रगतिशील भाषा में पुरातनपन्थी विचारधारा का हिस्सा है। 'धर्म' और 'सदाचार' की बात 'सेकुलरवाद' के खिलाफ है, अतः गैर संवैधानिक है। परिणामतः परम्परागत उच्च शिक्षण संस्थान राजकीय उपेक्षा के शिकार बने हैं तथा सामाजिक-मानविकी विषयों के अध्ययन को 'अनुत्पादक' घोषित कर उन्हें समाप्त करने पर बुद्धिजीवी आमादा दिख रहे हैं।

उपर्युक्त परिस्थितियों में महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् द्वारा हिन्दुत्व अर्थात् भारतीय संस्कृति को केन्द्र में रखकर शिक्षण संस्थानों का संचालन, अपने इन शिक्षण संस्थानों के माध्यम से भारत की युवा पीढ़ी में भारतीय संस्कृति के प्रति गौरवबोध पैदा करना, धर्म की भारतीय अवधारणा से उन्हें परिचित कराना, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का बोध पैदा करना आदि राष्ट्रीय एकता-अखण्डता के प्रति संकल्पित भावी पीढ़ी तैयार करने की दिशा में अथक प्रयास का साक्षी है। महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् द्वारा संचालित शिक्षण संस्थाओं को यह दिशा महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् के

संस्थापक एवं संचालक मनीषियों की सोच तथा दृष्टि से ही प्राप्त हुई एवं प्राप्त हो रही है। उल्लेखनीय है कि महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् गोरखपुर के संस्थापक गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज युगपुरुष थे; क्योंकि उन्हें काल और दूरी बाँध नहीं सकी। वे कर्मयोगी थे क्योंकि जय-पराजय की वगैर चिन्ता किये उन्होंने सम्पूर्ण जीवन समाज और राष्ट्र के हित में अर्पित कर दिया। वे कर्म-संन्यासी थे क्योंकि जो कुछ भी अपनी तपस्या अथवा कर्म से अर्जित किया उसे राष्ट्र एवं समाज को अर्पित कर दिया। शिक्षा, राजनीति, धर्म एवं संस्कृति सहित सामाजिक परिवर्तन की क्रान्ति के वे अग्रणी धर्मनेता बने। उनके द्वारा व्यवस्था-परिवर्तन की निरन्तर जलने वाली जो लौ प्रज्ज्वलित की गयी वह आज भी गोरक्षपीठ के उनके यशस्वी उत्तराधिकारियों के माध्यम से समाज का मार्ग प्रशस्त कर रही है।

महाराणा प्रताप स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जंगल धूसड़ की स्थापना श्री गोरक्षपीठ के शैक्षिक क्रान्ति की दिशा में अनवरत चलने वाले अभियान की ही एक कड़ी है। वस्तुतः महानगर से सटे किन्तु महानगरीय कोलाहल से दूर जंगल धूसड़ में स्थित महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् द्वारा संचालित यह महाविद्यालय इस क्षेत्र के उच्च शिक्षा पाने वाले छात्र-छात्राओं के लिए वरदान सिद्ध हो रहा है। ऐसे में महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् के संस्थापक युगपुरुष महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज के प्रति राष्ट्र-समाज के साथ-साथ इस महाविद्यालय परिवार के हम सभी सदस्य अत्यन्त ऋणी एवं कृतज्ञ हैं। अपनी कृतज्ञता को भावाभिव्यक्ति देने एवं ब्रह्मलीन महाराज जी की इच्छाओं के अनुरूप भावी पीढ़ी को भारत-केन्द्रित अद्यतन ज्ञान-विज्ञान से परिचित कराने हेतु सत्र 2007-08 से प्रति वर्ष सत्रारम्भ (अगस्त माह) में ही सप्त दिवसीय 'युगपुरुष ब्रह्मलीन महन्त दिग्विजयनाथ स्मृति व्याख्यान-माला' का आयोजन किया जाता रहा है। 12 सितम्बर 2014 को महाविद्यालय के संस्थापक एवं अध्यक्ष गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज ब्रह्मलीन हुए। अतः सत्र 2015-2016 से ब्रह्मलीन महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज की पुण्य स्मृति में सप्त दिवसीय **'राष्ट्र-सन्त महन्त अवेद्यनाथ स्मृति व्याख्यान-माला'** के आयोजन की शृंखला शुरू की गयी। सत्र 2016-2017 में 26 अगस्त से 01 सितम्बर 2016 तक व्याख्यान-माला का आयोजन सम्पन्न हुआ। व्याख्यान-माला के अति महत्त्वपूर्ण व्याख्यान एवं कुछ महत्त्वपूर्ण आलेख, शोध पत्र आदि को प्रति वर्ष महाविद्यालय 'विमर्श' नामक पत्रिका में प्रकाशित करता है। 'विमर्श-2007' की शृंखला में 'विमर्श-2016' आपके हाथ में है। हमें विश्वास है कि यह पत्रिका सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के वैचारिक अभियान में तो सहायक सिद्ध ही होगी, तथापि नवीन शोधों को प्रोत्साहित करने, नये शोधों से पाठकों को परिचित कराने तथा महाविद्यालय के शिक्षकों-विद्यार्थियों में नित-नूतन शोध के प्रति अभिरुचि पैदा करने के लिए प्रेरणादायी सिद्ध होगी।

'राष्ट्र-सन्त महन्त अवेद्यनाथ स्मृति व्याख्यान-माला' में अपने शोधपूर्ण व्याख्यान देने वाले विद्वत्जनों के प्रति महाविद्यालय परिवार कृतज्ञ है, जिनके शोधपूर्ण व्याख्यानों से महाविद्यालय के प्राध्यापक, छात्र-छात्राओं के प्रज्ञा-सम्पन्न होने में गति प्रदान हुई है। 'विमर्श 2016' के प्रकाशन में सभी प्रकार के सहयोग करने वाले एवं सभी शुभचिन्तकों के प्रति भी हम हार्दिक आभारी हैं। हमें विश्वास है कि 'विमर्श' को प्रतिवर्ष प्रकाशित करने में हमें ऐसे ही सभी का सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

आश्विन, कृष्ण चतुर्थी
विक्रम सम्वत्-2073 (20 सितम्बर, 2016)

(प्रदीप कुमार राव)

अनुक्रम

1. राष्ट्र सन्त महन्त अवेद्यनाथजी महाराज	आचार्य स्वामी धर्मेन्द्र	13
2. गोरखनाथ मन्दिर के सामाजिक सरोकार	डॉ. प्रदीप कुमार राव	20
3. भक्ति के विकास में नाथपन्थ की देन	डॉ. उदय प्रताप सिंह	29
4. ष्ठिाक्षक की ष्ठौक्षिक स्वतंत्रता	जमनालाल बायती	36
5. संविधान, सेक्यूलरिज्म और कन्वर्जन	डॉ. सतीष्ठा चन्द्र मित्तल	46
6. भारत-नेपाल के प्राचीन सम्बन्ध	ठाकुर प्रसाद वर्मा	63
7. अभिलेखों में मन्दिर-वास्तु के लिए प्रयुक्त.....	प्रो. विपुला दुबे	77
8. जलाष्ठायों का महत्त्व एवं निचलौल के प्रमुख जलाष्ठाय	डॉ. योगेन्द्र पाल कोहली	86
9. आदर्ष्ठा ष्ठिाक्षक	डॉ. वेद प्रकाष्ठा पाण्डेय	92
10. ष्ठिाक्षा का वर्तमान परिदष्ठय : एक मूल्यांकन	डॉ. सरोज कुमार वर्मा	95
11. प्राचीन भारत में राष्ट्र की अवधारणा	डॉ. रमेष्ठा चन्द्र खन्डूडी	101
12. महाभारत में राष्ट्र का स्वरूप	डॉ. सुष्ठाील कुमार गुप्त	111
13. ऋग्वेदीय अद्वैतवाद	डॉ. स्वेजा त्रिपाठी	115
14. बुद्ध की वर्ण तथा जाति सम्बन्धी दष्टिि	डॉ. अजय कुमार मिश्र	120
15. स्वास्थ्य ष्ठिाक्षा में विद्यालयों की भूमिका	डॉ. सुषमा श्रीवास्तव	127
16. संचार : सिद्धान्त, व्यावहारिक उपयोग एवं महत्त्व	डॉ. अरविन्द कुमार सिंह	132
17. प्राचीन बौद्ध विहारों का प्रबन्धात्मक स्वरूप	सुबोध कुमार मिश्र	145
18. पूर्वोत्तर रेलवे गोरखपुर मुख्यालय के कर्मियों की...	सुभाष कुमार गुप्त	152
19. मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायों का विघटन : एक विवेचना...	डॉ. प्रज्ञेष्ठा कुमार मिश्र	161
20. आधुनिक काल में संग्रहालय की भूमिका	विपिन कुमार	166
21. पंडित दीनदयाल उपाध्याय का एकात्म मानववाद...	ष्ठिाप्रा सिंह	173
22. Unique Thoughts : Jai Prakash Narayan	Dr. Nitesh Kumar	179
23. Pollution Free Sources of Energy : An Overview	Md. Rashid Tanveer	184
24. A Glimpse of Teacher Qualities	Dr. Satyendra Pd. Srivastav	196
25. मेकबेथ के कुछ अंष्ठाों का .....भावानुवाद	रोहिताष्ठव श्रीवास्तव	202
पुनर्पाठ		
26. हिन्दू और मुसलमान की एकता का प्रष्ठन	(स्व.)ष्ठारत्चन्द्र चट्टोपाध्याय	210
27. हिन्दू-मुस्लिम दंगों की समस्या	ष्ठांकर ष्ठारण	215
पुण्यतिथि ष्ठाताब्दी वर्ष पर विष्ठोष		
योगीराज बाबा गम्भीरनाथ जी महाराज		225

लक्ष्य

महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् का लक्ष्य – **'जगद्गुरु भारत के लिए समर्पित युवा गढ़ना'**

ही महाविद्यालय का लक्ष्य है।

कार्य पद्धति

महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् द्वारा निर्धारित कार्य पद्धति–**श्रद्धा, समर्पण, त्यागपूर्ण–पारदर्शी**

जीवन पद्धति के साथ लक्ष्य प्राप्ति हेतु सत्त प्रयास।

मार्ग

धर्म, अध्यात्म एवं लोक–कल्याण का पथ।

राष्ट्र-सन्त महन्त अवेद्यनाथजी महाराज

आचार्य स्वामी धर्मेन्द्र*

18 मई सन् 1919 ईस्वी में देवतात्मा हिमालय के पवित्र अंचल में एक उच्च संस्कारवान गढ़वाली क्षत्रिय कुल में आविर्भूत गोरक्षपीठ के महन्त श्री अवेद्यनाथजी महाराज का प्राकट्य, गोरक्षपीठ पर भगवान् श्री गोरक्षनाथ की अटूट अनुकम्पा का प्रत्यक्ष प्रमाण है। भगवान् दत्तात्रेय अथवा अवधूत ष्ठिारोमणि श्री ष्ठुकदेव के समान श्री अवेद्यनाथजी महाराज जन्म से ही विरक्त थे, ठाकुर श्री रायसिंहजी ने अपने दिव्य ष्ठिाष्ठु का नाम कष्ठालसिंह रखा था, पिताश्री द्वारा देखी गयी अपने पुत्र के कोमल नयनों से बरसती सर्वभूतवत्सला कष्ठा, जीवन की अन्तिम अवस्था में भी, महन्त श्री अवेद्यनाथ महाराज के नेत्रों से उसी प्रकार बरसती अनुभव की जा सकती थी।

बालक कष्ठालसिंह की किष्ठोरावस्था एवं तरुणाई परमपावन हिमालय की उत्तुंग पर्वतमालाओं, गुहा-कन्दराओं, पुण्यसलिला सरिताओं, अमष्ठसंचयी सरोवरों तथा दिव्य तीर्थों के दर्ष्ठान एवं भ्रमण में बीती, मानो पवर्तराज की ममतामयी गोद में जन्मा पुत्र अपने महानतम पिता के हृदय में प्रविष्ट हो जाना चाहता था। कष्ठालसिंह कैलास गये, मानसरोवर में उतरे, बदरी-केदार के दर्ष्ठान किये, हरि और हर के अद्वैत को आत्मसात किया, गंगोत्री-यमुनोत्री की करुणा को हृदयंगम किया और अपने आत्मविस्मष्ठ समाज की, छिन्न-विच्छिन्न महान परम्परा को पुनः हिमालय की ऊँचाई प्रदान करने की आकांक्षा उसके अवचेतन में अंकुरित और विकसित होती गयी।

वसुदेव जब अपने ष्ठिाष्ठु को नंदग्राम पहुँचाने मथुरा से निकले थे, तो स्वस्तिवाचन करते मेघों की सौम्य स्निग्ध-फुहारों से नवागत बालकष्ठ्ण की रक्षा के लिए स्वयं ष्ठोषनाग अपने फणों का छत्र फैलाए उनके पीछे-पीछे हो लिए थे, उसी प्रकार अपने कुष्ठालक्षेम की चिन्ता से सर्वथा तटस्थ, अध्यात्मपथ के अविराम पथिक कष्ठालसिंह पर स्वयं भगवान् गोरक्षनाथ ने अपनी कष्ठा का छत्र फैला रखा था।

इसी छत्र की अक्षय छाया में वे अपने भावी कार्यक्षेत्र श्री गोरखनाथ मन्दिर पधारे और वहाँ उन्हें महन्त श्री दिग्विजयनाथ महाराज एवं अन्य सिद्ध-सन्तों का वात्सल्यपूर्ण स्नेह प्राप्त हुआ, योगी श्री ष्ठांतिनाथजी जैसे विद्वान और दूरद्रष्टा सन्त ने उन्हें गोरक्षपीठ में स्थायीरूप से रहकर साधना

*श्रीमत्पंचखण्डपीठाधीष्ठवर, विराटनगर, जयपुर, राजस्थान।

करने एवं भावी महन्त के रूप में सम्प्रदाय तथा समाज की सेवा करने के लिए प्रेरित किया, किन्तु परमविरक्त श्रीकृष्णाल के मन में मठाधिपति होने की कोई रुचि नहीं थी, यह 1940 का प्रसंग है। तब योगी श्री शान्तिनाथजी उन्हें सुदूर सिंध प्रदेश ले गये जहाँ उन्हें महान सन्त योगी श्री निवृत्तिनाथजी महाराज का दिव्य सान्निध्य प्राप्त हुआ, दो वर्षों की इस साधना एवं सिद्धिकाल में श्री निवृत्तिनाथ ने परम विरक्त तरुण सन्त के व्यक्तित्व में सन्निहित उच्च संभावनाओं को देखा-परखा और उन्हें समझाया कि सन्तत्व का चरम लक्ष्य लोककल्याण है, और किसी सिद्धपीठ के अधिपति होकर, लोककल्याण का संकल्प अधिक सशक्त और सबल होकर सरलता से पूर्ण किया जा सकता है।

1942 का समय राजनीतिक उथल-पुथल से परिपूर्ण था, इस संक्रान्तिबेला में तरुण योगी श्रीकृष्णाल का गोरक्षपीठ में पुनरागमन हुआ, इस बार उन्होंने पूर्ण निर्विकल्प एवं सुस्थिर मन से, स्वयं को गोरक्षपीठ की सेवा के निमित्त, महन्त श्री दिग्विजयनाथजी महाराज के श्रीचरणों में समर्पित कर दिया, वे विधिवत् नाथपंथ में दीक्षित हुए और श्री अवेद्यनाथ नाम से अलंकृत हुए। मठ के सन्त एवं सेवक उन्हें स्नेह और आदर से छोटे बाबा कहने लगे, और महन्त श्री दिग्विजयनाथ जी महाराज की देशभक्तिपूर्ण विमलविभा, उनकी आध्यात्मिक चेतना और संघर्षमयी कर्मण्यता उनके रोम-रोम में सहज ही समाती गयी, बहुत शीघ्र वे महन्त दिग्विजयनाथजी महाराज की प्रतिमूर्ति, प्रतिकृति या प्रतिरूप बन कर जन-मन में प्रतिष्ठापित हो गये।

भारत की गुरु-शिष्य परम्परा अद्वितीय और अनुपम है। गुरु के सतत सान्निध्य, उसकी सेवा और उसके प्रति समर्पण से, ज्ञानार्जन और आत्मोत्कर्ष की सभी दिशाएँ खुल जाती हैं। श्री अवेद्यनाथजी महाराज ने अपने महान गुरु के सम्पूर्ण ज्ञान को, अनुभव को, सुचरित्र और सद्गुणों को बहुत शीघ्र आत्मसात कर लिया; नाथपंथ की परम्परा, योग के गूढ़ रहस्यों एवं आध्यात्मिक अनुभूतियों के साथ भारत के इतिहास, हिन्दू समाज के उत्कर्ष और अपकर्ष की पृष्ठभूमि एवं देश की दुर्दशा के कारणों को उन्होंने भली-भाँति समझा और हिन्दुओं की पुण्यभूमि में हिन्दू-राष्ट्र की स्थापना का, अपने गुरुदेव श्री दिग्विजयनाथ का स्वप्न, उनका अपना स्वप्न बन गया।

श्री गोरक्षपीठ के तथा अपने द्वारा संस्थापित विविध शिक्षण संस्थाओं एवं समाज-सेवा-प्रकल्पों के प्रबंधन तथा संचालन का दायित्व अपने उत्तराधिकारी श्री अवेद्यनाथ को सौंपकर महन्त महाराज निश्चिन्त होकर सम्पूर्ण शक्ति से हिन्दू-हितों के निमित्त चल रहे संघर्ष में जुट गये, और उनके मार्गदर्शन में हिन्दू-चेतना-जागरण के आन्दोलन को जो शक्ति मिली, वह सर्वविदित है।

सन्तों को, राजनीति और राजनेताओं को लोकहित एवं राष्ट्रहित में प्रवृत्त करने के लिए दिशा-निर्देश अवश्य करना चाहिए, लोक शिक्षण एवं लोकजागरण का कार्य भी करना चाहिए, किन्तु क्या उन्हें स्वयं विधान सभाओं में लोकसभा में, विधान-परिषदों में भी जाना चाहिए? निस्संदेह जाना चाहिए, जब अवसरवादी, सिद्धान्तभ्रष्ट, आचरणहीन, विवेकहीन, दुष्चरित्र, समाज

कंटक, बाहुबली लोग जा रहे हों, नि:स्वार्थ, निरपेक्ष, देष्ठाभक्त सन्तों को वहाँ पहुँच कर सांस्कष्ठिक एवं नैतिक मूल्यों तथा राष्ट्र के हितों की रक्षा के लिए चेतावनी का ष्ठांखनाद क्यों नहीं करना चाहिए? भारतीय संसद में गोरखपुर के हिन्दू समाज का प्रतिनिधित्व करते हुए सम्पूर्ण राष्ट्र को दिष्ठा-बोध कराने के लिए गोरक्षपीठ को पहल करनी चाहिए, अपने भक्तों और ष्ठिष्यों के इस आग्रह-अनुरोध को स्वीकार करके महन्त श्री दिग्विजयनाथजी महाराज ने 1967 में गोरखपुर क्षेत्र से लोकसभा के लिए चुनाव लड़ा और वे संसद में पहुँचे, किन्तु 1969 में वे ब्रह्मलीन हो गये।

उनके रिक्त आसन पर 1969 में श्री अवेद्यनाथ महाराज गोरक्षपीठ के महन्त के रूप में विराजमान हुए और भारतीय संसद में सन्त प्रतिनिधित्व की टूटी शृंष्ठखला को जोड़ते हुए उन्होंने गोरखपुर के सांसद के रूप में प्रवेष्ठा भी किया। दिवंगत महन्त श्री दिग्विजयनाथ द्वारा प्रारम्भ श्रीरामजन्मभूमि के उद्धार के महानुष्ठान को उनके उत्तराधिकारी महन्त श्री अवेद्यनाथ ने अपना नेतष्ठत्व प्रदान किया और उनके नेतष्ठत्व में विष्ठवव्यापी बने इस आन्दोलन ने, न केवल अनेक प्रदेष्ठों और केन्द्र में सत्ताएँ बदलीं, प्रत्युत अनेक सन्तों को भी लोकसभा में पहुँचाया; किन्तु 1967 से अब तक केवल गोरक्षपीठ द्वारा पहुँचे प्रतिनिधियों ने ही लोकसभा में हिन्दू हितों के लिए निरपवाद निरंतर और निर्भ्रांत संघर्ष किया है।

37 वर्षों का यह अटूट कीर्तिमान न केवल गोरक्षपीठ की हिन्दू जागरण में तेजस्विनी भूमिका को प्रमाणित करता है, प्रत्युत् भारत की सुप्त सन्त ष्ठाक्ति के लिए एक अनुकरणीय उदाहरण भी प्रस्तुत करता है। सन्त सांसद के रूप में महन्त श्री अवेद्यनाथजी महाराज को, संसदीय राजनीति तथा सरकारी ष्ठासन प्रक्रिया के साथ, अवसरवादी गठबन्धनों को, हिन्दूद्रोही षड्यन्त्रों एवं ऊपर से नीचे तक योजनापूर्वक फैलाये गये और बेरोकटोक सर्वत्र फल-फूल रहे भ्रष्टाचार और उसके कारणों को निकट से देखने तथा समझने का अवसर मिला।

1985 में श्रीरामजन्मभूमि मुक्ति आन्दोलन के अंकुर फूटने लगे थे। हिन्दू संगठनों और नेताओं ने जब 1991 में इसे राष्ट्रव्यापी रूप देने का निष्ठचय किया तब अनुभव किया कि हिन्दू समाज की व्यापक सहभागिता और संकल्प के बिना यह विराट लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सकता और इसके लिए हिन्दु समाज के विभिन्न सम्प्रदायों के लाखों सन्तों की सक्रियता अनिवार्य है। इतनी बड़ी सन्तष्ठाक्ति का नेतष्ठत्व हिन्दू-संगठन अथवा हिन्दू-जागरण के लिए मन, वचन, कर्म से सर्वथा समर्पित कोई महान सन्त ही कर सकता है। तब सभी ष्ठीर्ष नेताओं ने यह गुरुतर दायित्व स्वीकार करने हेतु, महन्त श्री अवेद्यनाथजी महाराज से अनुरोध किया; महन्त श्री अवेद्यनाथ इतने विराट आन्दोलन के सर्वोच्च संचालक बने। उनके व्यक्तित्व, अनुभव एवं हिन्दूजागरण के मिष्ठान में उनकी वरिष्ठता ने आन्दोलन को जिस उच्चस्तर तक पहुँचाया उससे कौन अनभिज्ञ है? किन्तु इतने बड़े आन्दोलन में संलग्न रहते हुए, उनका भविष्य-चिन्तन बाधित नहीं हुआ।

हिन्दू समाज के विघटन के षड्यंत्रों को वे सूक्ष्म दष्टि से देखते, समझते और अनुभव करते

रहे, वे प्रथम सन्त थे जिन्होंने तथाकथित दलितोत्थान के भावी खतरों से हिन्दू समाज को निरंतर सचेत और सावधान किया।

वे यह भी जानते थे कि केवल घोषणाओं से, भाषणों से और वक्तव्यों से हिन्दू समाज के राजनीतिक, सामाजिक विघटन को रोका नहीं जा सकता, इसके लिए सामाजिक और राजनीतिक संगठनों को दलित नेतृत्व का निर्माण करना और उसे अवसर देना होगा। श्री अवेद्यनाथजी महाराज अस्पृश्यता और असमानता को नष्ट करने के लिए सदा सक्रिय रहे, प्रमुख सन्तों के साथ काशी के डोमराजा के घर भोजन करने का प्रसंग हो या एक दलित के हाथों श्रीराम जन्मभूमि मन्दिर के सिंहद्वार के शिलान्यास का अनुष्ठान, अवेद्यनाथजी महाराज की प्रेरणा, प्रोत्साहन और संलग्नता ने कहीं कोई झिझक, कोई असमंजस या दुविधा अथवा द्वंद्व उत्पन्न ही नहीं होने दिया।

अनन्त विभूति, ऐश्वर्य, सफलता और कीर्ति पाने पर भी उनमें अहंकार नहीं था। वे अत्यन्त सहज, सौम्य, सरल, निर्मल, पारदर्शी, प्रेममय और पवित्र थे। इस इक्कीसवीं शताब्दी में जब पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तक प्रदूषित हो गये हैं, वे अप्रिय और असह्य अनुभवों की आँच में, झुलसते हुए भी चन्दन के समान स्वाभाविक सुगंध बिखेर रहे थे।

महन्त श्री अवेद्यनाथ को भली-भाँति समझ पाना कलुष-कालिमामय जन के लिए संभव नहीं था। 'अवेद्य' का अर्थ ही है जो 'वेद्य' अर्थात् जाना जा सकने योग्य नहीं है, ऐसा 'अवेद्य' तो केवल ईश्वर ही है, उसे सामान्य बुद्धि से नहीं जाना जा सकता; वह दिव्यद्रष्टाओं और विमल विवेकवानों द्वारा ही जाना जाता है- **'वेदान्तवेद्यं विभुम्'**। वेद भी नहीं जानते, वेदान्तविद् ही जान पाते हैं, ऐसा 'अवेद्य' या तो 'वेदान्तवेद्य' होता है या 'भावगम्य' होता है-

'भजेहं भवानीपतिं भावगम्यं'

ईश्वरीय विभूति सम्पन्न सन्त भी सामान्य बुद्धि से या भावनाशून्य हृदय से ग्रहण नहीं किये जा सकते, जो भावनापूर्ण हृदय नहीं रखता, वह राष्ट्र-सन्त अवेद्यनाथ को नहीं समझ सकता, महन्तजी महाराज, आपादमस्तक केवल भाव ही भाव थे, पवित्र भावनाओं के अमृत सरोवर के समान, और यही उनके व्यक्तित्व का परम उत्कर्ष था।

'जो भरा नहीं है भावों से,
बहती जिसमें रसधार नहीं,
यह हृदय नहीं है पत्थर है,
जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं,'

बाहर से भीतर तक विशुद्ध देश-भक्ति और राष्ट्र-प्रेम के मूर्त रूप थे राष्ट्र-सन्त महन्त अवेद्यनाथजी महाराज।

महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज ने श्रीराम जन्मभूमि पर बनने वाले भव्यतम मन्दिर का

ष्ठिलान्यास हिन्दू समाज में घोषित किसी अछूत से कराने का प्रस्ताव कर दुनिया को यह संदेष्ठा दे दिया कि हिन्दू धर्माचार्य और हिन्दू समाज अपनी सामाजिक विकष्ठियों को समाप्त करने हेतु संकल्पबद्ध हो रहा है। परिणामत: दुनिया ने देखा कि मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम की जन्मभूमि पर बनने वाले पवित्र एवं विष्ठाल मन्दिर की पहली ईंट एक दलित ने रखी। महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज के प्रयास से श्रीराम जन्मभूमि मन्दिर का ष्ठिलान्यास लाखों श्रीराम भक्त हिन्दू जनता तथा परम्परा और रूढ़ियों को ताड़ने हेतु कष्ठ संकल्पित भारत के विभिन्न हिस्सों से आये विविध पंथों के संत-महात्माओं की उपस्थिति में एक दलित द्वारा किया जाना भारत के सामाजिक- धार्मिक इतिहास में सामाजिक परिवर्तन की क्रान्ति का सूत्रपात था। श्रीराम जन्मभूमि पर मन्दिर निर्माण का प्रष्ठन हिन्दू समाज और भारतीयता की प्रतिष्ठा का प्रष्ठन था ही, इस मुद्दे ने भारत की राजनीतिक सत्ता के उथल-पुथल का जो दष्ठय प्रस्तुत किया उस पर सारी दुनिया की निगाहें टिकी थीं। ऐसे महत्त्वपूर्ण आयोजन पर हिन्दू समाज में व्याप्त अस्पष्ठयता जैसे कोढ़ के खिलाफ यह प्रतीकात्मक पहल दुनिया को संदेष्ठा देने के साथ-साथ हिन्दू समाज को यह संदेष्ठा देने का माध्यम बना कि छुआछूत न तो ष्ठास्त्र-सम्मत है, न ही धर्म सम्मत। यह एक विकष्ठि है, रूढ़ि है जिसे धर्माचार्यों, सन्त-महात्माओं एवं हिन्दू समाज ने पूर्णत: खारिज कर दिया है।

महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज द्वारा सामाजिक समरसता हेतु किये गये भगीरथ प्रयासों के क्रम में पटना के महावीर मन्दिर में दलित (हरिजन) पुजारी की प्रतिष्ठा के प्रयास का इतिहास में हमेष्ठा उल्लेख किया जाता रहेगा। बिहार जब जातिवादी-साम्प्रदायिक राजनीति के सर्वोच्च ष्ठिखर पर था; श्री लालू प्रसाद यादव के नेतष्ठ्व में सत्ता पर काबिज रहने के लिए जातिवाद के विषवेलि को पूर्णत: खाद-पानी प्राप्त हो रहा था; बिहार एक प्रकार से जल रहा था, महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज ने इस जातिवादी राजनीति के सीने पर चढ़कर बिहार की राजधानी पटना में स्थित महावीर मन्दिर में सूर्यवंष्ठी लाल उर्फ फलाहारी बाबा (हरिजन) को पुजारी नियुक्त कर एक बार फिर भारत की सामाजिक विखण्डनकारी राजनीति को आईना दिखा दिया। समारोह के साथ पुजारी की नियुक्ति हुई। इस समारोह में महन्त जी के साथ स्वामी चिन्मयानन्द जी महाराज भी उपस्थित हुए। महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज के इस युग-परिवर्तनकारी प्रयास को दुनिया भर में सराहा गया।

महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज सामाजिक समरसता के प्रष्ठन पर सदैव स्पष्टवादी रहे। उन्होंने इस प्रष्ठन पर धर्माचार्यों, संत-महात्माओं, राजनीतिज्ञों, किसी को भी क्षमा नहीं किया, यदि वे हिन्दू समाज की एकता के विरुद्ध अथवा अस्पष्ठयता के पक्ष में खड़े हुए।

गोरक्षपीठाधीष्ठवर महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज एकबार अपने प्रिय एवं पुरी के जगद्गुरु ष्ठांकराचार्य स्वामी निष्ठचलानन्द जी सरस्वती के खिलाफ भी तब तनकर खड़े हो गये जब उन्होंने कलकत्ता विष्ठवविद्यालय परिसर में आयोजित समारोह में एक विदुषी महिला को वेदपाठ करने पर

रोक दिया। महन्त जी ने इस पर तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा कि यह कथ्य कहीं से भी न तो न्यायसंगत है और न ही धर्मानुसार उचित है। यह कथ्य महिला समाज का अपमान करता ही है इससे हिन्दुत्व भी लांछित होता है। कोई भी समझदार व्यक्ति ऐसे कथ्य का समर्थन नहीं कर सकता। आज जबकि जातिवाद, ऊँच-नीच, छूत-अछूत आदि विकृतियों को शह देकर हिन्दू समाज को बाँटने एवं कमजोर करने का षड्यन्त्र चल रहा है, जगद्गुरु शंकराचार्य द्वारा महिलाओं के वेदपाठ पर आपत्ति न तो धर्मानुकूल है और न ही युगानुकूल।

महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज का विराट व्यक्तित्व एक ऐसे मनीषी का विराट स्वरूप रहा है जिसमें 'धर्म' के साक्षात् दर्शन होते हैं। उन्होंने भारतीय राजनीति को एक नयी दिशा दी; कथित धर्मनिरपेक्ष राजनीति की दूषित अवधारणा को नकारते हुए धर्माधिष्ठित राजनीति की प्रतिष्ठा की। भारतीय समाज में 'जातिवाद' की विषबेलि को समूल उखाड़ फेंका और बिना किसी की परवाह किये सामाजिक समरसता का मूलमंत्र देकर भारतीय धर्मगुरुओं का नेतृत्व किया तथा छुआछूत जैसी कुरीतियों के विरुद्ध जन-जागरण अभियान छेड़कर हिन्दू समाज को एकता का पाठ पढ़ाया। शिक्षा और स्वास्थ्य को जन-सेवा का आधार बनाकर 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई' उक्ति को चरितार्थ किया। श्रीराम जन्मभूमि मुक्ति आन्दोलन के बहाने पंथों के नाम पर बँटे धर्मगुरुओं को एक मंच पर लाकर राष्ट्रीय स्वाभियान तथा सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का शंखनाद किया। महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज अपने युग के एक ऐसे महानायक हैं जिन्होंने राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, शैक्षिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में एक साथ पुनर्जागरण का उद्घोष किया। भारत के बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के तथा इक्कीसवीं सदी के प्रारम्भिक दशकों के वे जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। वे ऐसे महायोगी रहे हैं जिनका अन्तःकरण समता में स्थित रहा है।

गोरक्षनाथ मन्दिर में गुरु पूर्णिमा (आषाढ़ पूर्णिमा, वि.सं. 2071) को अपने सभी भक्तों को आशीर्वाद प्रदान करने के बाद ईश्वर की बनायी इस मायानगरी से गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त अवेद्यनाथजी महाराज को अरुचि-सी उत्पन्न होने लगी थी। स्थिति को भाँपते हुए उनके साथ साये की तरह रहने वाले गोरक्षपीठ के उत्तराधिकारी योगी आदित्यनाथ जी महाराज ने 13 जुलाई, 2014 को मानव क्षमताओं के बल पर विधाता को चुनौती देने की क्षमता रखने वाले दुनिया के श्रेष्ठतम चिकित्सा संस्थानों में एक नयी दिल्ली के पास गुड़गाँव, 'मेदान्ता मेडिसिटी' में ले जाने की तैयारी प्रारम्भ की। पूज्य महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज ने मेदान्ता जाने से अपनी अरुचि दिखाई। गुरु-शिष्य के बीच के हठयोग में प्रकृति गुरु के साथ खड़ी हुई और एअर एम्बुलेन्स से ले जाने में अपनी असफलता महसूस करते ही 'गोरखधाम एक्सप्रेस' से पूज्य महन्त जी को लेकर 'मेदान्ता' तक पहुँच ही गये। महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज श्रेष्ठतम चिकित्सा सुविधाओं से लैश कर दिये गये और उन्हें इस धराधाम पर रोके रखने का हर प्रकार का प्रयत्न प्रारम्भ हो गया। पूज्य महन्त जी

महाराज को अपने बीच बनाये रखने हेतु उपचार के साथ-साथ, ज्योतिषीय विधि-विधान एवं ईष्ठवरीय ष्ठाक्तियों के लिए धार्मिक अनुष्ठान जैसे वे सभी प्रयास प्रारम्भ हुए जो विज्ञान एवं आस्था दोनों माध्यमों से सम्भव था। किन्तु स्वयं परमपूज्य महन्त जी महाराज का ही अब इस सांसारिक जीवन से मोहभंग हो चुका था और वे परमात्म तत्त्व के साथ एकाकार होने का हठ ठान चुके थे। बस उन्हें प्रस्थान के लिए अपनी तप:स्थली से दूर 'मेदान्ता' जैसा चिकित्सकीय स्थान मंजूर नहीं था। अन्तत: ष्ठिष्य योगी आदित्यनाथ जी महाराज ने गुरु की इच्छापूर्ति का बीड़ा उठा ही लिया और गोरक्षनाथ मन्दिर परिसर तक उन्हें लाने का वह निर्णय लिया, जो कोई योगी ही ले सकता है। योगी जी के इस निर्णय के साथ पूज्य महन्त जी की स्वयं की इच्छा से उत्पन्न उनकी प्राणिक चेतना को रोक रखने की यौगिक ष्ठाक्ति थी ही, परमात्मा ने भी साक्षात् उपस्थित होकर सहयोग किया।

12 सितम्बर, 2014 को अपराह्न 4:00 बजे दिल्ली से एअर एम्बुलेंस उड़ा और गोरखपुर की धरती पर सायंकाल 6:00 बजे उतरा। एअरपोर्ट पर पहले से तैयार गुरु गोरक्षनाथ चिकित्सालय की एम्बुलेंस महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज को लेकर श्री गोरक्षनाथ मन्दिर परिसर की ओर चल पड़ी। लगभग सायं सात बजे गोरक्षनाथ चिकित्सालय में पहले से ही पूज्य महन्त जी के लिए तैयार विष्ठोष चिकित्सा कक्ष में उन्हें ले जाया गया। पूज्य महन्त जी अपनी ऐहिक यात्रा पूरी कर चुके थे। श्री गोरक्षनाथ मन्दिर परिसर तक पहुँचकर यहाँ की आध्यात्मिक वातावरण में वे परमष्ठान्ति पा रहे थे। लगभग डेढ़ घण्टे तक चिकित्सकों की जद्दोजहद काम नहीं आयी। योगी आदित्यनाथ जी महाराज के रूप में अपना ऐहिक जीवन स्थानान्तरित करते हुए गोरक्षपीठाधीष्ठवर परमपूज्य महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज रात्रि आठ बजकर तीस मिनट पर ब्रह्मलोक पथ पर चल पड़े.....।

भारतीय राष्ट्रीयता के अनन्य साधक, सामाजिक समरसता के अग्रदूत, हिन्दू धर्म-संस्कष्ति के पथ-प्रदर्ष्ठाक का मष्ठ्युलोक को त्याग देने के समाचार से देष्ठा हतप्रभ था, ष्ठोकमग्न था। गोरक्षनाथ मन्दिर में पष्ठु-पक्षी सभी ष्ठान्त थे। पेड़-पौधों ने भी ऐसी चुप्पी साध रखी थी जैसे आज वे हवा के झोंकों के बीच हँसना-मचलना भूल गए हों। ष्ठोकमग्न गोरक्षनाथ मन्दिर परिसर के सन्नाटे में ष्ठान्तिपाठ का स्वर अपने आराध्य इस महामानव के परलोकगमन का साक्षी बन रहा था।

14 सितम्बर को पूर्वाह्न 10:50 बजे भारत के इस महान राष्ट्र सन्त की समाधि तय थी। समाधि के समय एकाएक जल-वर्षा बन्द हुई और फिर पुष्पवर्षा के साथ गुरु श्री गोरक्षनाथ मन्दिर की परिक्रमा कर विधि-विधानपूर्वक राष्ट्रीयता के अनन्य साधक एवं इस ष्ठाताब्दी के महामानव ने महासमाधि ले ली।

卐

गोरखनाथ मन्दिर के सामाजिक सरोकार

डॉ. प्रदीप कुमार राव*

गोरखपुर महानगर में स्थित गोरखनाथ मन्दिर नाथपन्थ के प्रवर्तक महायोगी गुरु श्री गोरक्षनाथ की तपस्थली के रूप में प्रसिद्ध है। नाथपन्थ की परम्परा में गुरु श्री गोरक्षनाथ भगवान् ष्शिव के अवतार माने गये हैं। नाथ-परम्परा उन्हें अजन्मा एवं अमर मानती है। ष्शोध अध्येताओं एवं विद्वानों में गुरु श्री गोरक्षनाथ के अभ्युदय-काल पर मतैक्य नहीं है तथापि सर्वाधिक प्रचलित एवं स्वीकार्य अवधारणा गुरु श्री गोरक्षनाथ एवं आदि ष्शंकराचार्य का लगभग समकालीन होना है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मानना है- "विक्रम संवत् की दसवीं ष्शताब्दी में भारतवर्ष के महान् गुरु गोरक्षनाथ का आविर्भाव हुआ। ष्शंकराचार्य के बाद इतना प्रभावष्शाली और इतना महिमान्वित महापुरुष भारतवर्ष में दूसरा नहीं हुआ। भारतवर्ष के कोने-कोने में उनके अनुयायी आज भी पाये जाते हैं। भक्ति-आन्दोलन के पूर्व सबसे ष्शक्तिष्शाली धार्मिक आन्दोलन श्री गोरक्षनाथ का योगमार्ग ही था। भारतवर्ष की ऐसी कोई भाषा नहीं है जिसमें श्री गोरक्षनाथ सम्बन्धी कहानियाँ न पायी जाती हों।. .... गोरक्षनाथ अपने युग के सबसे बड़े नेता थे।" वस्तुतः भारत के सामाजिक-धार्मिक इतिहास में महात्मा बुद्ध, आदि ष्शंकराचार्य और महायोगी श्री गोरक्षनाथ ऐसे धार्मिक नेता हुए जिन्होंने अपने युग की धारा को ही मोड़ दिया। गोरखपुर में प्रतिष्ठित श्री गोरखनाथ मन्दिर महायोगी श्री गोरक्षनाथ की तपस्थली के रूप में प्रसिद्ध है। गोरखपुर नगर का नाम गुरु श्री गोरक्षनाथ के ही नाम पर पड़ा। महायोगी श्री गोरक्षनाथ और श्री गोरखनाथ मन्दिर का नेपाल के साथ अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। महायोगी गुरु गोरक्षनाथ ने नेपाल को आर्य अवलोकितेष्ठवर के प्रभाव से निकालकर ष्शैव बनाया। उनकी कष्शा से ही नेपाल में ष्शाह राजवंष्शा की प्रतिष्ठा हुई। नेपाल की मुद्राओं पर गुरु श्री गोरक्षनाथ जी का चित्र आज भी छपा होता है। नेपाल नरेष्शा की खिचड़ी आज भी मकर संक्रान्ति पर्व पर श्री गोरखनाथ मन्दिर में चढ़ती है। ऐसे विष्शवप्रसिद्ध सामाजिक क्रान्ति के नायक महायोगी गुरु श्री गोरक्षनाथ की तपस्थली श्री गोरखनाथ मन्दिर अपने सामाजिक सरोकारों के प्रति आज भी सचेष्ट है, संवेदनष्शील है और निरन्तर सक्रिय है।

---

*प्राचार्य, महाराणा प्रताप पी.जी. कॉलेज, जंगल धूसड़, गोरखपुर

महन्त-परम्परा

श्री गोरखनाथ मन्दिर के महन्त महायोगी गुरु श्री गोरक्षनाथ के प्रतिनिधि होते हैं। श्री गोरक्षपीठ के पीठाधीष्ठा के रूप में उनका अभिषेक होता है। नाथपन्थ एवं श्री गोरखनाथ मन्दिर का संचालन वे गुरु श्री गोरक्षनाथ के प्रतिनिधि-रूप में करते हैं। आडम्बर एवं धार्मिक पाखण्ड के विरुद्ध अभ्युदित नाथपन्थ के योगी सामाजिक विभेदीकरण को अस्वीकार करते हैं। योगमार्ग के द्वारा मानव को मुक्ति का मार्ग दिखाने वाली नाथपन्थी परम्परा मानव दु:ख के परित्राण हेतु सदैव संवेदनष्ठील रही है। श्री गोरखनाथ मन्दिर के महन्त महायोगी गुरु श्री गोरक्षनाथ के योगमार्ग का अनुसरण करते हुए सदैव समाज के साथ जुड़े रहे। सामाजिक जनजागरण नाथपन्थी योगियों एवं गोरखनाथ मन्दिर के श्रीमहन्तों की उपासना का ही एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। नाथपन्थी योगी भक्ति-आन्दोलन को प्रभावित करने से लेकर 1857 ई. के स्वाधीनता संग्राम में जनजागरण के सूत्रधार रहे हैं। गोरखनाथ मन्दिर के महन्त युगानुसार अपनी सामाजिक-राष्ट्रीय भूमिका का निर्वाह करते रहे हैं। बीसवीं ष्ताब्दी के प्रथम चतुर्थांष्ठा तक (अर्थात् योगिराज बाबा गम्भीरनाथ जी के समय तक) श्री गोरखनाथ मन्दिर मुख्यत: योग-साधना के माध्यम से प्राणिमात्र की मुक्ति के मार्ग का पथ-प्रदर्ष्ठक बना रहा। यद्यपि योगिराज बाबा गम्भीरनाथ ने गोरखनाथ मन्दिर के महन्त पद को स्वीकार नहीं किया तथापि उनकी देख-रेख में गोरखनाथ मन्दिर की सम्पूर्ण व्यवस्था संचालित होती रही। योगिराज बाबा गम्भीरनाथ जी के सान्निध्य में पले-बढ़े दिग्विजयनाथ जी महाराज के गोरक्षपीठाधीष्ठवर पद पर अभिषिक्त होने के साथ श्री गोरखनाथ मन्दिर की बहुआयामी भूमिका सुनिष्ठिचत हुई। तदनन्तर महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज ने इस भूमिका को बखूबी निभाया। वर्तमान में गोरक्षपीठ पर महन्त योगी आदित्यनाथ जी महाराज विराजमान हैं। श्री गोरखनाथ मन्दिर नाथपन्थ के सर्वोच्च केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित है तथा देष्ठा के सामाजिक-सांस्कष्तिक-राजनीतिक परिवर्तन का केन्द्र बिन्दु बन चुका है।

सामाजिक सरोकारों का बहुआयामी विस्तार

योगिराज बाबा गम्भीरनाथ जी के अहेतुक कष्ठापात्र दिग्विजयनाथ जी महाराज के समय से श्री गोरखनाथ मन्दिर की राष्ट्रीय-सामाजिक भूमिका का बहुआयामी विस्तार हुआ। उनके नेतष्त्व में योग-अध्यात्म के साथ-साथ विविध सामाजिक सरोकारों से श्री गोरखनाथ मन्दिर जुड़ता गया।

ष्ठिक्षा-प्रसार

आजादी के संघर्ष के समय देष्ठा में आधुनिक ष्ठिक्षा के महत्त्व और उसकी उपादेयता को समझते हुए, भारतीय संस्कष्ति के अनुरूप ष्ठिक्षा-संस्थानों की स्थापना का प्रयत्न कई महापुरुषों द्वारा प्रारम्भ हुआ। इस शंष्ठखला में 1916 ई. में महामना मदनमोहन मालवीय जी द्वारा काष्ठी हिन्दू

विष्ठवविद्यालय की नींव रखी गयी। उसी दिष्ठा में दिग्विजयनाथ जी ने गोरखपुर में 1932 ई. में 'महाराणा प्रताप ष्ठिक्षा परिषद्' की स्थापना की और भारत के आजाद होते-होते प्राथमिक ष्ठिक्षा से लेकर उच्च ष्ठिक्षा तक के कई ष्ठिक्षा-संस्थान खड़े कर दिये। गोरखपुर नगर में विष्ठवविद्यालय की स्थापना (01 मई 1950 ई.) के पूर्व सेण्ट एण्ड्रयूज कॉलेज के अतिरिक्त उच्च ष्ठिक्षा के दो केन्द्र और थे। ये थे- महाराणा प्रताप महाविद्यालय और महाराणा प्रताप महिला महाविद्यालय (दोनों का स्थापना वर्ष 1946 ई.)। दोनों मन्दिर द्वारा संस्थापित और संचालित थे। 1958 ई. में उक्त दोनों संस्थाओं को विष्ठवविद्यालय में विलय कर महन्त दिग्विजयनाथ जी ने गोरखपुर विष्ठवविद्यालय के स्थापना का मार्ग सुगम ही नहीं बना दिया प्रत्युत् उसकी श्रीवष्ठिद्ध में एक उल्लेखनीय योगदान भी दिया।

महाराणा प्रताप ष्ठिक्षा परिषद् द्वारा आज विविध सेवाकेन्द्रों सहित प्राथमिक से लेकर उच्च ष्ठिक्षा तक कुल 44 संस्थाएँ संचालित हो रही हैं। इनमें तकनीकी, ष्ठिक्षण, प्रष्ठिक्षण, संस्कष्त महाविद्यालय, नर्सिंग जैसे ष्ठिक्षण संस्थान एवं चिकित्सालय ष्ठामिल हैं। मन्दिर द्वारा संचालित समस्त केन्द्रों पर सम्प्रति लगभग 35 हजार छात्र-छात्राएँ ष्ठिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। महाराणा प्रताप ष्ठिक्षा परिषद् द्वारा संचालित ष्ठिक्षण-प्रष्ठिक्षण संस्थाओं में भारतीय संस्कष्ति का प्रसार, ष्ठिक्षा के साथ संस्कार, सांस्कष्तिक राष्ट्रवाद का पाठ पढ़ाया जाना लक्षित है।

संस्थापक-सप्ताह समारोह (प्रत्येक वर्ष 4 से 10 दिसम्बर)

श्री गोरखनाथ मन्दिर द्वारा संचालित 'महाराणा प्रताप ष्ठिक्षा परिषद्' द्वारा सन् 1981 ईस्वी से प्रत्येक वर्ष 4 से 10 दिसम्बर तक 'संस्थापक-सप्ताह समारोह' मनाया जाता है। संस्थापक-सप्ताह समारोह का उद्घाटन 4 दिसम्बर को भव्य ष्ठोभा-यात्रा के साथ होता है। इस ष्ठोभा-यात्रा में महाराणा प्रताप ष्ठिक्षा परिषद् की संस्थाओं के साथ गोरखपुर महानगर की अनेक प्रमुख संस्थाएँ भी सम्मिलित होती हैं। लगभग दस हजार छात्र-छात्राओं की यह ष्ठोभा-यात्रा समाज को अनेक जन-समस्याओं के समाधान के प्रति जागरूक करती है। ष्ठिक्षा, स्वास्थ्य, पर्यावरण, संस्कष्ति, राष्ट्रीय एकता के प्रति जन-जागरण के साथ-साथ कुरीतियों-रूढ़ियों, धार्मिक पाखण्डों-आडम्बरों के प्रति समाज को सचेत करते हुए विभिन्न झाँकियों सहित छात्र-छात्राएँ हाथों में स्लोगन-पट्टिकाएँ लिए नारों के समवेत स्वर-निनाद के साथ सड़कों पर पद-संचरण करते हैं। इस समारोह के अन्तर्गत सप्ताह पर्यन्त चलने वाली विविध प्रतियोगिताओं के लिए प्राथमिक से उच्च ष्ठिक्षा तक के विद्यार्थियों के तीन वर्ग (प्राथमिक, कनिष्ठ एवं वरिष्ठ) बनाये जाते हैं। अकादमिक से लेकर क्रीड़ा तक के 108 समूहों में कुल 36 प्रतियोगिताएँ सम्पादित की जाती हैं। इस समारोह के समापन अवसर पर 10 दिसम्बर को मुख्य महोत्सव आयोजित किया जाता है जिसमें ष्ठोभा-यात्रा में सम्मिलित सभी संस्थाओं की (कक्षा छः से स्नातकोत्तर स्तर तक) सभी कक्षाओं के योग्यता क्रम में प्रथम दो स्थान प्राप्त

विद्यार्थियों को छात्रवष्टि प्रदान की जाती है। पारितोषिक वितरण समारोह में ही सप्ताह भर चली सभी प्रतियोगिताओं के विजेता तथा प्रथम तीन स्थान प्राप्त विद्यार्थी पुरस्कष्त किये जाते हैं। इस अवसर पर गुरु श्री गोरक्षनाथ स्वर्ण पदक, योगिराज बाबा गम्भीरनाथ स्वर्ण पदक, महन्त दिग्विजयनाथ स्वर्ण पदक, महन्त अवेद्यनाथ स्वर्ण पदक, महाराणा मेवाड़ स्वर्ण पदक सहित ग्यारह विष्ठिष्ट पुरस्कार भी प्रदान किये जाते हैं। निस्सन्देह रूप से विद्यार्थियों को केन्द्र में रखकर किया जाने वाला पूर्वी उत्तर प्रदेष्ठा का यह सबसे बड़ा एवं विष्ठिष्ट सांस्कष्तिक आयोजन है, जिसमें साठ-सत्तर हजार विद्यार्थी सम्मिलित होते हैं और लगभग सात सौ विद्यार्थी पुरस्कष्त किये जाते हैं। पुरस्कार में अच्छी-खासी रकम खर्च की जाती है।

संस्कष्त एवं संस्कष्ति का अनुरक्षण

संस्कष्त एवं संस्कष्ति के अनुरक्षण एवं संवर्द्धन की दष्टि से संस्कष्त-ष्ठिाक्षा के क्षेत्र में मन्दिर की भूमिका उल्लेखनीय है। गोरखनाथ मन्दिर-परिसर में सम्पूर्णानन्द संस्कष्त विष्ठवविद्यालय से सम्बद्ध महाविद्यालय संचालित है। मन्दिर-परिसर में ही संस्कष्त विद्यालय का छात्रावास भी है जहाँ लगभग तीन सौ विद्यार्थी रहकर नि:ष्ठुल्क ष्ठिाक्षा ग्रहण करते हैं। उनका समस्त व्यय-भार मन्दिर द्वारा वहन किया जाता है।

चिकित्सा-ष्ठिाक्षा एवं चिकित्सालय

चिकित्सा एवं चिकित्सा-ष्ठिाक्षा का प्रारम्भ गोरक्षनाथ आयुर्वेद महाविद्यालय एवं दिग्विजयनाथ आयुर्वेदिक चिकित्सालय की स्थापना के साथ हुआ। 1972 ई. में स्थापित यह आयुर्वेदिक कॉलेज 1984 ई. में बन्द हो गया किन्तु दिग्विजयनाथ आयुर्वेदिक धर्मार्थ चिकित्सालय चलता रहा। 2003 ईस्वी में गुरु श्री गोरक्षनाथ चिकित्सालय की स्थापना हुई और अत्याधुनिक संसाधनों से युक्त आज यह पूर्वी उत्तर प्रदेष्ठा का एक प्रतिष्ठित चिकित्सालय है, जहाँ न्यूनतम खर्चे में चिकित्सा सुविधाएँ उपलब्ध हैं। दिग्विजयनाथ आयुर्वेदिक चिकित्सालय भी उच्चीकष्त हो चुका है। श्री गोरखनाथ मन्दिर द्वारा संचालित यह चिकित्सालय पष्ठिचमी बिहार, पूर्वी उत्तर प्रदेष्ठा तथा नेपाल के तराई क्षेत्र की गरीब जनता के लिए वरदान सिद्ध हुआ है। दम तोड़ती सरकारी चिकित्सा सुविधा और लूट-खसोट पर आधारित महँगी एवं ष्ठाुद्ध व्यावसायिक निजी चिकित्सा-व्यवस्था के बीच यह चिकित्सालय आज प्राणवायु प्रदान कर रहा है। स्वास्थ्य मेला के रूप में गाँव-गाँव में मन्दिर के चिकित्सा ष्ठिाविर आयोजित होते हैं। सम्प्रति 16 विद्यालयों एवं अनेक गाँवों में 'महन्त अवेद्यनाथ स्मष्ति नि:ष्ठुल्क प्राथमिक उपचार केन्द्र' का संचालन किया जा रहा है। इस केन्द्र के माध्यम से रोगी के घर पर स्वास्थ्य-सुविधा नि:ष्ठुल्क रूप में सुलभ है। मन्दिर का यह प्रकल्प ष्ठलाघनीय है।

'गुरु गोरक्षनाथ इंस्टिट्यूट ऑफ मेडिकल साइंसेस' नाम से एक मेडिकल कॉलेज खोलने की

दिष्ठा में मन्दिर ने अपने कदम बढ़ा दिये हैं। गुरु श्री गोरखनाथ स्कूल ऑफ नर्सिंग के अन्तर्गत ए. एन.एम., जी.एन.एम. की पढ़ाई के साथ सत्र 2016-2017 से बी.एस-सी. नर्सिंग, पोस्ट बी.एस-सी. नर्सिंग पाठ्यक्रम प्रारम्भ हो चुका है। इस प्रकार आज चिकित्सा एवं चिकित्सा-ष्ठिाक्षा के विविध आयामों पर मन्दिर कार्य कर रहा है। मन्दिर के इस सद्प्रयास से पूर्वी उत्तर प्रदेष्ठा की जनता एवं भावी पीढ़ी को स्वास्थ्य एवं ष्ठिाक्षा की सम्यक सुविधा न्यूनतम खर्च पर उपलब्ध हो सकेगी।

भण्डारा

श्री गोरखनाथ मन्दिर के भण्डारे में दोपहर-रात्रि दोनों समय हजारों साधु-गरीब-निराश्रित प्रसाद रूप में भोजन पाते हैं। नाथपन्थ की मान्यता है कि महायोगी गुरु श्री गोरक्षनाथ का खप्पर न कभी खाली हुआ, न भरा। जितना चाहिए उतना मिलेगा। अत: भोजन सामग्री की आपूर्ति की कोई चिन्ता किये बिना मन्दिर का भण्डारा चलता रहता है। महायोगी श्री गोरक्षनाथ के प्रतिनिधिस्वरूप महन्त जी का आदेष्ठा है कि मन्दिर-परिसर एवं आस-पास कोई भूखा न सोए। भण्डारे में प्रसाद पाने के लिए किसी परिचय की जरूरत नहीं, कोई जाति-पाँति का निषेध नहीं, बस श्रद्धा-भाव से कोई भण्डारा तक पहुँचे। उसे प्रसाद रूप में भरपेट भोजन मिल जाएगा।

गो-संवर्द्धन

मन्दिर-परिसर में एक विस्तृत एवं व्यवस्थित गोष्ठाला है जिसमें सैकड़ों गायों, बछड़ों और साँड़ों का पोषण होता है। ये पष्ठु मन्दिर की ष्ठोभा हैं। गो-पालन एवं गो-भक्ति का संदेष्ठा यह मन्दिर अपने कर्मों से देता है। गोरखपुर प्रवास के समय सुबह-ष्ठाम महन्त जी महाराज का अपनी गौवों के बीच होना उनकी दिनचर्या का अनिवार्य हिस्सा है। गायों-बछड़ों के बीच उनकी उपस्थिति पष्ठुओं के प्रति उनके प्रेम और उनके प्रति पष्ठुओं के प्रेम की कहानी कहती है। दोनों का एक दूसरे के प्रति प्रेमभाव, लाड़-प्यार, मान-मनुहार देखते बनता है। इन्हीं गौवों के दूध से निर्मित मट्ठा मन्दिर आने वाले भक्तों एवं अतिथियों को प्रसाद के रूप में उपलब्ध होता है। विष्ठोष उत्सवों पर 'रोट' के अतिरिक्त 'मट्ठा' ही श्री गोरखनाथ मन्दिर का वास्तविक प्रसाद है, जो प्रकारान्तर से गो-सेवा - गो-भक्ति का संदेष्ठा देता है।

योग केन्द्र

श्री गोरखनाथ मन्दिर योग-प्रधान केन्द्र है। भारत में महर्षि पतंजलि और श्री गोरक्षनाथ योग की दो समानान्तर धाराओं के जनक हैं। गोरक्षपीठ एक सिद्ध योगपीठ है। योग-दर्ष्ठान एवं उसके व्यावहारिक पक्ष पर निरन्तर क्रियाष्ठील यह मन्दिर प्रतिदिन नि:ष्ठुल्क योग केन्द्र संचालित करता है। मन्दिर की ओर से प्रतिवर्ष 'सप्तदिवसीय राष्ट्रीय योग-ष्ठिविर' आयोजित किया जाता है।

पुस्तकालयः

योग-दर्शन, नाथपन्थ और भारतीय धर्म-साधना के प्रचार-प्रसार हेतु मन्दिर में एक समृद्ध पुस्तकालय है। इस पुस्तकालय में नाथपन्थ से सम्बन्धित अनेक पाण्डुलिपियाँ, मन्दिर से प्रकाशित 'योगवाणी' के सभी अंक, श्री गोरखनाथ मन्दिर के द्वारा प्रकाशित सभी ग्रन्थ तथा भारतीय धर्म-दर्शन से सम्बन्धित विविध साहित्य उपलब्ध हैं।

योगवाणीः

धर्म, अध्यात्म, योग एवं संस्कृति केन्द्रित मासिक पत्रिका 'योगवाणी' का प्रकाशन विगत इकतालिस वर्षों से निरन्तर मन्दिर के तत्वावधान में हो रहा है। पत्रिका के दर्जनों विशेषांक संग्रहणीय एवं लोकप्रिय हैं।

प्रकाशन

मन्दिर का अपना प्रकाशन अनुभाग है। इसके द्वारा अब तक लगभग तीन दर्जन महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का प्रकाशन किया गया है। पुस्तकालय में पुस्तकें प्रतिदिन प्रातः 8 बजे से सायं 8 बजे तक विक्रय हेतु उपलब्ध रहती हैं।

पान्थिक एकता

श्री गोरखनाथ मन्दिर हिन्दू धर्म के वैविध्य का सम्मान करता है। यहाँ नाथपन्थ की परम्परा के साथ-साथ सनातन संस्कृति के सभी प्रमुख देवी-देवताओं के मन्दिर हैं। यहाँ की मूर्ति दीर्घा में नाथपन्थी योगियों के साथ समस्त भारतीय देवी-देवताओं एवं महापुरुषों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। यह मन्दिर भारतीय पान्थिक विविधताओं को एकात्मता के सूत्र में पिरोने का अन्यतम दायित्व निभाता है।

सामाजिक समरसता एवं स्पृश्यता निवारण

महायोगी श्री गोरक्षनाथ द्वारा प्रदत्त सामाजिक समरसता के महामंत्र का निर्वाह मन्दिर पूरी निष्ठा के साथ कर रहा है। जाति-पाँति आधारित भेद, छुआछूत, ऊँच-नीच जैसे विभेदीकरण के विरुद्ध जनजागरण का कार्य मन्दिर के नेतृत्व में बराबर जारी है। मन्दिर के पूर्व श्रीमहन्त अवेद्यनाथ जी महाराज ने सामाजिक समरसता के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। उन्होंने गाँव-गाँव जाकर सहभोज किया, काशी के डोमराजा के घर साधु-संन्यासियों के साथ भोजन किया था। कई मन्दिरों के महन्त अथवा पुजारी के रूप में दलित को प्रतिष्ठित किया। महन्त जी ने अपना जीवन सामाजिक समरसता के लिए समर्पित कर रखा था। आज भी मन्दिर द्वारा सामाजिक समरसता का यह अभियान जारी है।

राजनीतिक प्रतिनिधित्व

जनसेवा और लोक कल्याण के लिए श्री गोरखनाथ मन्दिर के महन्त राजनीति के दलदल में भी कूदने से नहीं हिचके। मान-अपमान, जय-पराजय की चिन्ता किये बिना गोरक्षपीठाधीष्ठवर महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज गोरखपुर संसदीय सीट से 1967 ई. में सांसद बने। सांसद रहते हुए ही वे ब्रह्मलीन भी हुए। गोरक्षपीठाधीष्ठवर महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज मानीराम विधानसभा सीट से 1962 ई. से 1980 ई. तक चुने जाते रहे। मीनाक्षीपुरम् में हुए धर्मपरिवर्तन की घटना से विचलित महन्त अवेद्यनाथ जी राजनीति से संन्यास लेकर सामाजिक समरसता के महाभियान में लग गये। राजनीतिज्ञों द्वारा चुनाव जीतने की दी गयी चुनौती तथा धर्माचार्यों के आग्रह पर वे 1989 ई. में गोरखपुर संसदीय सीट से चुनाव लड़े और विजयी हुए। 1998 ई. में उन्होंने अपने उत्तराधिकारी योगी आदित्यनाथ जी को अपनी राजनीतिक विरासत भी सौंप दी। 1998 ई. से अद्यतन गोरखपुर संसदीय सीट से लोकसभा में मन्दिर का प्रतिनिधित्व बना हुआ है। इस प्रकार राजनीतिक परिदृष्टय पर भी मन्दिर का वर्चस्व बरकरार है और मन्दिर के प्रतिनिधि अपने दायित्व का निर्वहन जिम्मेदारी के साथ कर रहे हैं।

पर्व-त्योहार

श्री गोरखनाथ मन्दिर सामाजिक पर्वों-त्योहारों के माध्यम से भी समाज के साथ गहराई से जुड़ा रहता है। गुरु पूर्णिमा, विजयदष्ठामी, मकर संक्रान्ति और होली ऐसे विष्ठोष पर्व हैं जिनके साथ परम्परागत रूप से मन्दिर का तादात्म्य स्थापित है। गुरु पूर्णिमा पर्व पर भक्त श्रद्धापूर्वक गोरक्षपीठाधीष्ठवर का तिलक कर आष्ठीर्वाद प्राप्त करते हैं। विजयदष्ठामी पर्व पर ष्ठास्त्र-पूजन, गोरक्षपीठाधीष्ठवर का भक्तों द्वारा तिलक एवं भव्य ष्ठोभायात्रा, मानसरोवर पहुँचकर श्रीराम के राजतिलक में गोरक्षपीठाधीष्ठवर द्वारा श्रीराम की आरती, तत्पष्ठचात् मन्दिर में सहभोज का कार्यक्रम मन्दिर को समाज के साथ जोड़ता है।

मकर संक्रान्ति मन्दिर का प्रमुख पर्व है। महायोगी गुरु श्री गोरक्षनाथ का खप्पर भरने लाखों की संख्या में भक्त खिचड़ी लेकर पहुँचते हैं। इस अवसर पर श्री गोरखनाथ मन्दिर में एक माह का मेला लगता है।

होली पर्व में भी गोरक्षपीठाधीष्ठवर होली की पूर्व संध्या पर भगवान् नष्ठसिंह की यात्रा एवं होली के दिन घण्टाघर से निकलने वाले होलिकोत्सव के रथ पर सवार होकर जनता के बीच होली खेलने निकलते हैं। इसी तरह नवरात्रि, महाष्ठिवरात्रि, नागपंचमी, कष्ठण जन्माष्टमी, छठ जैसे पर्वों पर भी मन्दिर के परम्परागत आयोजन में जन-सहभागिता बनी रहती है।

ष्ठिविर, संगोष्ठी, सम्मेलन

मन्दिर धर्म, दर्ष्ठान, अध्यात्म, योग, संस्कष्ठति और सदाचार जैसे धार्मिक-सांस्कष्ठतिक तथा

अनेक समसामयिक अकादमिक विषयों पर वर्ष पर्यन्त व्याख्यान, ष्ठिविर, संगोष्ठी का आयोजन करता रहता है। इनमें भाद्रपद ष्ठुक्ल त्रयोदष्ठी से आष्ठिवन कष्ठ्ण चतुर्थी तक चलने वाले साप्ताहिक श्रद्धांजलि समारोह का विष्ठिष्ट स्थान है। सन् 1970 ईस्वी से अनवरत युगपुरुष महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज की स्मष्ठि में आयोजित इस विष्ठिष्ट समारोह के साथ राष्ट्र-सन्त महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज की पुण्य स्मष्ठि भी जुड़ गयी। अब भाद्रपद ष्ठुक्ल त्रयोदष्ठी से आष्ठिवन कष्ठ्ण चतुर्थी तक साप्ताहिक श्रद्धांजलि समारोह आयोजित किया जाने लगा है। सात दिन तक चलने वाला यह आयोजन धर्म-संसद तथा जन-संसद दोनों का प्रतिनिधित्व करता है। एक सत्र में जहाँ धार्मिक कथा के माध्यम से हजारों भक्तों-श्रोताओं के बीच धर्म-चर्चा होती है तो दूसरे सत्र में राष्ट्रीय एकता-अखण्डता से सम्बन्धित कतिपय समसामयिक ज्वलन्त मुद्दों के साथ-साथ सामाजिक समरसता, संस्कष्ठ एवं संस्कष्ठि, राष्ट्रभाषा, गो-संवर्द्धन, योग और सदाचार विषय पर देष्ठा के जाने-माने विद्वानों, धर्माचार्यों, सन्त-महात्माओं के विचार हजारों की संख्या में उपस्थित जनता को सुनने का अवसर मिलता है।

मन्दिर के तत्वावधान में महाराणा प्रताप ष्ठिक्षा परिषद् की विभिन्न संस्थाओं में भी निरन्तर अकादमिक गतिविधियाँ संचालित होती हैं। इस प्रकार प्रत्येक वर्ष देष्ठा-दुनिया के धार्मिक-सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक-ष्ठौक्षिक एवं सांस्कष्ठिक क्षेत्रों में श्री गोरखनाथ मन्दिर अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करता है। सबकी सुनता है - अपनी सुनाता है। भारतीय संस्कष्ठि के संरक्षण एवं संवर्द्धन में स्वयं के साथ समाज को सतत सक्रिय रखने की प्रक्रिया से श्री गोरखनाथ मन्दिर की आज अलग पहचान बन चुकी है।

जनता-दर्ष्ठन

मन्दिर की सामाजिक सहभागिता एवं सक्रियता का एक प्रमुख आयाम जनता-दर्ष्ठन है। गोरक्षपीठाधीष्ठवर महन्त योगी आदित्यनाथ जी, जो गोरखपुर के सांसद भी हैं, जब मन्दिर पर (नगर में) होते हैं तब प्रत्येक दिन प्रातः साढ़े आठ-नौ बजे अपने कार्यालय में बैठते हैं। यह उनकी दिनचर्या का अनिवार्य हिस्सा है। यहाँ वे प्रत्येक आने वाले की समस्या सुनते हैं और उसके त्वरित समाधान का प्रयास करते हैं। तरह-तरह के विवादों, समस्याओं को सुलझाने के उनके अपने तौर-तरीके हैं। किसी को समझाकर, किसी को डपट कर, किसी के लिए फोन करके, किसी का आवेदन अग्रसारित कर वे लोगों को राहत पहुँचाते हैं। इस बीच मिलने आने वालों का कुष्ठाल-क्षेम भी पूछ लेते हैं। जनता से मिलकर वे क्षेत्र में निकल पड़ते हैं। सामान्यतः कोई दिन ऐसा नहीं होता जब वे किसी गाँव, किसी कस्बे में उपस्थित न होते हों। उनके व्यापक और आत्मीय जन-सम्पर्क का ही परिणाम है कि गोरखपुर संसदीय क्षेत्र से वे अजेय बने हुए हैं। उनके क्षेत्र का कोई गाँव ऐसा नहीं है जिसके कुछ लोगों को महन्त जी व्यक्तिगत रूप से न जानते हों। कोई ऐसा गाँव है

जिसका उन्हें रास्ता न पता हो। क्षेत्र की किसी घटना-दुर्घटना की सूचना प्रायः उन्हें पुलिस और प्रष्ठासन से पूर्व हो जाती है और अनेकधा घटना स्थल पर वे पुलिस तथा प्रष्ठासन से पहले पहुँच जाते हैं।

गोरखनाथ मन्दिर के श्रीमहन्तों ने अपने सामाजिक सरोकारों के बल पर ही गोरक्षपीठ को अपार जन-समर्थन का केन्द्र बना दिया है। मन्दिर ने धर्म, अध्यात्म, योग, संस्कष्ति एवं राष्ट्रीयता के एकात्म भाव को जन-जन तक पहुँचाया है। यह मन्दिर आस्था का एक ऐसा केन्द्र है जिसकी सक्रियता ष्ठैक्षिक, चिकित्सकीय, सामाजिक-सांस्कष्तिक और राजनीतिक सभी क्षेत्रों में बनी हुई है। यही कारण है कि इसे व्यापक जन-स्वीकष्ति प्राप्त है।

卐

हमारी कार्य योजना

अपने स्थापना काल से ही 'सामूहिक प्रयास' को महत्त्व देते हुए महाविद्यालय के विकास को चार चरणों में विकसित करने की अवधारणा पर कार्य–

प्रथम चरण	:	प्रबन्ध तन्त्र की योजनानुसार प्राचार्य महाविद्यालय चलायेगा।
द्वितीय चरण	:	महाविद्यालय प्राचार्य सहित सभी शिक्षक संचालित करेंगे।
तृतीय चरण	:	प्राचार्य, शिक्षक, विद्यार्थी मिलकर महाविद्यालय चलायेंगे।
चतुर्थ चरण	:	महाविद्यालय स्व–संचालित होगा, सभी अपना–अपना कार्य करेंगे।

हम मानते हैं-महाविद्यालय का संचालन एवं विकास एक ईश्वरीय एवं राष्ट्रीय कार्य है।

महाविद्यालय की दिनचर्या

प्रातः 8.25 तक प्राचार्य की उपस्थिति
8.30 पर चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी
9.00 बजे तक तृतीय श्रेणी कर्मचारी
9.20 बजे शिक्षकों की उपस्थिति
9.25 से 9.40 तक प्रार्थना सभा
12.10–12.30 मध्यावकाश।
3.50 पर कक्षाएं पूर्ण
4.00 बजे अवकाश
वेबसाइट प्रतिदिन अद्यतन कर ही कम्प्यूटर बन्द होता है।
कार्यालय आय–व्यय का हिसाब कर ही बन्द होता है
प्राचार्य किसी भी समय 15 से 20 मिनट के अन्दर अदेयता प्रमाण–पत्र प्राप्त करने हेतु तैयार रहते हैं

भक्ति के विकास में नाथपन्थ की देन

डॉ. उदय प्रताप सिंह*

परम तत्त्व से साक्षात्कार के तीन मार्ग प्रचलित हैं जिन्हें ज्ञान, योग और भक्ति कहते हैं। ज्ञान वेदान्त, योग यौगिक क्रिया और भक्ति प्रपत्ति मार्ग से जुड़ा है। भक्ति मार्ग सरल-सहज और बोधगम्य है। भक्ति, व्यक्ति की सहजात प्रवष्टियों से संचालित होती है। इसमें रागात्मकता की प्रधानता होती है। इसीलिए धर्म की रागात्मक अनुभूति को भक्ति कहा गया है। भारतीय चिन्तन में अन्य धार्मिक अवधारणाओं की तरह भक्ति भी ष्ठाष्ठवत-सनातन है। भक्ति आन्दोलन (प्रस्थान) या समाज सापेक्ष भक्ति का विष्ठलेषण करने पर हमारा ध्यान भारतीय धार्मिक प्रस्थानों की ओर स्वभावतः चला जाता है। अतः भक्ति के सन्दर्भ में आन्दोलन से अधिक संगत ष्ठाब्द 'प्रस्थान' ही लगता है। आन्दोलन में आवष्ठयक नहीं कि धार्मिक भावों का सन्निवेष्ठा हो। इसके अतिरिक्त आन्दोलन एक निष्ठिचत विचारधारा के परिसीमित क्षेत्र में फैलने वाला अल्पकालिक बोध है जिसमें राजनीतिक और सामाजिक अभिव्यक्तियों के स्तर ऊँचे होते हैं। 'प्रस्थान' में सामाजिकता छूटती नहीं पर आध्यात्मिकता व धार्मिकता की प्रबलता होती है। धार्मिकता के इस आलोक में जीव, जगत्, माया और परमात्मा के सम्बन्धों का विष्ठलेषण होता है। भक्ति के इस 'प्रस्थान' में अहंकार, जात-पाँत, पन्थ-सम्प्रदाय, छूत-अछूत, छोटा-बड़ा, बाह्याचार कुरीतियाँ और रूढ़ियाँ हिमखण्ड की तरह विगलित हो जाती हैं। भगवत चरणों में स्वयं को समर्पित कर समरसता और समचित्तता का प्रकटीकरण ही भक्ति का उद्देष्ठय है। इस उद्देष्ठय की सार्थकता 'प्रस्थान' ष्ठाब्द में अधिक ध्वनित होती है आन्दोलन में कम। धर्म के इस प्रस्थान को गतिमान करने में ऋषियों, महर्षियों, सद्गष्ठस्थों, साधु-सन्तों और आचार्यों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया है।

वैदिक ऋषियों और स्मष्टिकारों ने समाज को एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयास मंत्रों के माध्यम से किया था। गोपालन, कष्ठि कार्य, एक साथ खाते-पीते, उठते-बैठते हुए भारतीय समाज को अध्यात्म से जोड़ा था। तत्कालीन समाज इन आध्यात्मिक अनुभूतियों से आन्दोलित हो उठा था। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः', 'सहनाऽववतु...., सहनौ भुनक्तु'....., 'इंद्रं बर्धन्तो अप्तुरः', 'कष्टवंतो विष्ठवमार्यम्', 'वसुधैव कुटुम्बकम्', 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' जैसी सार्थक उक्तियों द्वारा समाज के साथ ईष्ठवर को

*प्रख्यात साहित्यकार, बी.एफ.एस.-13, हरनारायण विहार, सारनाथ, वाराणसी

स्मरण करने का अद्‌भुत प्रयास किया था। यह ज्ञानमार्ग का प्रस्थान था। इसे वेदस्मृति संस्कृति कहते हैं। यहाँ आध्यात्मिकता के साथ सामाजिकता का विकास भी दिखता है। समाज में एक दूसरे से जुड़ने तथा परस्पर सुख-दुख की चिन्ता का प्रादुर्भाव इसी युग की देन है।

आध्यात्मिक प्रस्थान उपनिषदों की ज्ञानात्मक अनुभूतियों में पुनः प्रकट होता है। उपनिषदों में ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ व पवित्र स्वीकार कर 'न ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' का उद्‌घोष किया गया था। ज्ञानात्मक विमर्शों एवं प्रेरक कथाओं से ज्ञान के इस क्षितिज का विस्तार वैदिक पुरोहितवाद को चुनौती देता है। 'नेति-नेति' 'यह ही नहीं' कहकर उपनिषदें ज्ञान की उस पराकाष्ठा तक पहुँचने का प्रयास करती हैं जो दुर्लभ है। इस अभियान में जन के साथ ऋषिजन भी जुड़ते हैं। कालान्तर में ज्ञान की आगार उपनिषदों का जुड़ाव यज्ञादि की बहुलता तथा हिंसात्मक बलि प्रथा से हो जाता है। ऐसी स्थिति में ये जनता की चित्तवृत्ति से उतर जाती हैं। सामूहिक अभिव्यक्ति से दूर हटती उपनिषदों का विकल्प जैन व बौद्ध धर्म बन जाते हैं। अहिंसा, प्रेम, करुणा और दया जैसे श्रेष्ठ मानवीय मूल्य इन पन्थों के मुख्य आधार बनते हैं। भारतीय धर्म साधना की यह तीसरी चमक थी जो समूचे जनमानस में एकबारगी छा जाती है।

समय के लम्बे अन्तराल के बाद जैनियों और बौद्धों में व्याप्त विलासिता, भोग-प्रवणता, अतिचारिता और स्वेच्छाचारिता के गर्हित वातावरण में आचारप्रवण नाथपन्थ का उदय होता है। इसके प्रवर्तक गोरखनाथ सदाचार, ब्रह्मचर्य, आचरण की पवित्रता, सामाजिक समानता, शरीर के साथ मन की स्वस्थता और पिण्ड-ब्रह्माण्ड की एकता पर विशेष बल देते हैं। जीवन और धर्म में पाखण्ड, कर्मकाण्ड, उच्च-निम्न भाव की भर्त्सना करते हैं और तत्कालीन समाज को तमाम विकृतियों से अछूता रखकर पिण्ड (शरीर) में ही ब्रह्माण्ड खोजने की सलाह देते हैं। कहना न होगा कि महायोगी गोरखनाथ की वाणियों में आकर्षण, चमत्कार, स्पष्टवादिता और अभारतीय संस्कृति के प्रतिरोध की इतनी जबर्दस्त क्षमता थी कि समूचा भारत एक दैवी चमक से आलोकित हो उठा। नेपाल से पेशावर, तमिलनाडु से कश्मीर और कच्छ से मेघालय तक उनकी प्रभविष्णुता समान रूप से फैली दिखायी पड़ती है। परिणामतः हजार से अधिक वर्षों की सांस्कृतिक परम्परा में ध्यानस्थ और योगस्थ मूर्तियों की प्राप्ति देश के कोने-कोने से होती है। कहना यह है कि ये मूर्तियाँ नाथपन्थ के पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों कालों में मिलती हैं। ज्ञातव्य है कि गोरखनाथ ने परम्परया प्रचलित पतंजलि योग को ही वैज्ञानिक स्वरूप दिया। अतः नाथपन्थ के उद्‌भव के पूर्व भी योगस्थ मूर्तियों का मिलना स्वाभाविक है।

नाथान्तर काल में जो भक्ति रूपी लता नवीन कलेवर में लहलहाने लगी थी उसका बीजवपन योग के थाले में ही हुआ था। वह प्रेम का बीज था। इससे सदियों पूर्व दक्षिण भारत में आलवारों और नायनमारों ने प्रभु की आराधना में स्वयं को विलीन कर प्रेम और राग तत्त्व को ज्ञेय

की पराकाष्ठा तक ले जाकर लययोग को जन्म दिया था। मन को एकाग्र कर प्रभु चरणों में समर्पित कर दिया था। प्रतिकूल परिस्थितियों में दबी, थकी-हारी भक्ति की वह लता अनुकूलता प्राप्त करते ही अपनी छ्गीतलच्छाया से सम्पूर्ण उत्तरी भारत को आन्दोलित करने लगी। पारम्परिक विद्वानों ने इसे भक्ति का धार्मिक प्रस्थान तथा आधुनिक विछ्लेषकों ने भक्ति आन्दोलन कहा।

भारतीय मान्यतानुसार भक्ति भी अन्य सम्प्रदायों की तरह सनातन है। भक्ति का वर्तमान स्वरूप ईस्वी सन् की तीसरी छ्गाती से नवीं छ्गाती तक दक्षिण के आलवार व नायनमार भक्तों में स्पष्ट दिखने लगा था। उक्त सम्प्रदायों ने रागात्मकता का निदर्छ्गन करते हुए प्रभुमय होने की जिन भावदछ्गाओं का उच्चतम प्रकटीकरण किया था भविष्य में वे ही तत्त्व भक्ति के छ्गास्त्रीय सूत्र बने। इनकी अलमस्तता, प्रगाढ़ भावाभिव्यक्ति, उत्कट अनुराग और अगाध आस्था के स्वर बंगाल के चैतन्य महाप्रभु तक विस्तीर्ण दिखायी पड़ते हैं। भक्ति का यह स्वरूप विभिन्न कालखण्डों में भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होता रहा है। बारह आलवार और छ्गायद इतने ही नायनमारों के समुदाय ने भक्ति की भागीरथी प्रवाहित कर दी। ये सभी अनपढ़, निरक्षर और छ्गास्त्र ज्ञान से छ्गून्य थे। पर इनकी तन्मयता, उत्कटता, परिष्कछ्ग इच्छा छ्गक्ति और प्रगाढ़ प्रेम छ्गास्त्रों पर भी भारी पड़ने लगा। इन्हीं आलवारों में महिला सन्त आण्डाल की प्रभु भजन में निमग्नता एक दछ्गृष्टान्त है। छ्गारीर धर्म को विस्मछ्ग कर प्रभु में अपनी सुध-बुध खो बैठना उनकी विछ्गिष्टता थी। तीसरी से नवीं छ्गाती तक व्याप्त आलवारों की इसी सुदीर्घ परम्परा ने 'श्रीसम्प्रदाय' के आचार्यों को भक्ति का सूत्र प्रदान किया। यामुनाचार्य से रामानुजाचार्य तक भक्ति का यह लोकवाही स्वरूप छ्गास्त्रीयता की सीमा में आबद्ध होता गया। यहीं सम्प्रदायों, सिद्धान्तों और छ्गास्त्रों के निर्माण हुए। श्री, विष्णु, माध्व और निम्बार्क सम्प्रदाय की आधारछ्गिला इन आलवारों की ही देन है।

तीसरी से नवीं छ्गाती तक भक्ति का यह लोकसंवाही प्रवाह भारतीय जनमानस के अधिकांछ्ग कोनों को भिगो चुका था। पर जिन अर्थों में आन्दोलन या प्रस्थान छ्गाब्द को आज ग्रहण किया जा रहा है उसका वास्तविक स्वरूप 'श्रीसम्प्रदाय' के आचार्यों को अपना गुरु घराना घोषित करने वाले आचार्य रामानन्द (1299 ई.) से प्रकट होता है। रामानन्द ने भक्ति को सामाजिक छ्गाक्ति का पर्याय बताया, राम-सीता को आराध्य बनाया, जात-पाँत से दूर हटकर मनुष्यता की बात की, प्रेम का मंत्र दिया, सगुण-निर्गुण दो समानान्तर धाराओं को अभिमंत्रित किया और भक्ति पर सबका समान अधि कार है इसका उद्घोष किया। 'सर्वेप्रपत्तेरधिकारिणोमता:' के समानान्तर 'जात-पाँत पूछे ना कोई। हरि का भजै सो हरि का होई।।' जैसी उक्तियों से भक्ति और भगवान् का द्वार सबके लिए उन्मुक्त कर दिया। उन्हीं की प्रेरणा से अनन्तानन्द, कबीर, रैदास, पीपा, धन्ना, सेन, नरहर्यानन्द, सुरसती, पद्मावती तथा चौथी पीढ़ी में गोस्वामी तुलसीदास ने जिस भक्ति भावित संसार का सर्वस्पर्छ्गी ताना-बाना बुना उससे समस्त मध्यकाल आन्दोलित हो उठा। भक्ति आन्दोलन या धार्मिक प्रस्थान

को व्यापकता प्रदान करने वाले स्वामी रामानन्द यौगिक क्रियाओं से अत्यन्त प्रभावित थे। वह स्वयं योगी थे और तपसी ष्ठाखा के प्रवर्तक भी। भक्ति की इस तपसी ष्ठाखा में योग की प्रबलता थी। मध्यकाल में भक्ति-पटल पर सीधा आलोक नाथपन्थ का पड़ रहा था। ष्ठाताब्दियों पूर्व से ही नाथपन्थ के योगी, साधु और साधक धर्म और योग के माध्यम से सामाजिक विकष्ठियों को मिटाने का अभियान चला रहे थे। सन्तों का योग के प्रति आकर्षण, सत्य कहने का साहस और आडम्बररहित धर्म की व्याख्या योगियों के जीवन दर्ष्ठान का ही प्रतिफल है। सन्तों और भक्त कवियों की वाणियों में नाथपन्थ के सूत्र पग-पग पर प्राप्त होते हैं।

महायोगी गोरखनाथ भारतीय अध्यात्म साधना के दीप स्तम्भ थे। उनकी आचरणप्रवणता तथा वैचारिक लोकोन्मुखता का पूरा मध्यकाल ऋणी है। सगुण-निर्गुण, ष्ठैव-ष्ठाक्त, वामाचारी, तंत्र-मंत्र, कापालिक और न जाने कितनी साधना पद्धतियाँ उनके चुम्बकीय व्यक्तित्व और व्यावहारिक योग साधना से खिंची चली आ रही थीं। कई तो योगमार्ग में अन्तर्भुक्त हो उन्हीं का अंग बन चुकी थीं। अनन्तर सन्तों की भक्ति समन्वित वाणियाँ भी समाज में परिवर्तन और परिष्कार की प्रतिध्वनि करने लगी थीं। सन्तों के कई सम्प्रदायों की उन्मुखता योगसमन्वित हो चली थी। अतः भक्तिकालीन साहित्य का नाथपन्थ से प्रभावित होना स्वाभाविक ही लगता है। जायसी और कबीर तो नाथपन्थी योग का प्रत्यक्ष अनुगमन करते दिखायी पड़ते हैं। सूरदास का 'भ्रमरगीत' इसका ज्वलन्त प्रमाण है। स्वामी रामानन्द के प्रष्ठिाष्य भी श्री कष्ठ्णदास पयहारी की योगमूला रामभक्ति, रामभक्ति में तपसी ष्ठाखा का गठन, स्वामी रामानन्द द्वारा योगपरक 'सिद्धान्त पटल' नामक ग्रन्थ की रचना, कालान्तर में सैकड़ों सन्तकवियों द्वारा योग समन्वित पदों का निर्माण, ईष्ठवर भक्ति के लिए चित्त को एकाग्र करने में योग की उपयोगिता, बाह्याचारों की भर्त्सना, आडम्बरों का खण्डन और सामाजिक सन्दर्भ में दो टूक बात कहने की ष्ठाक्ति और साहस सन्तों को गोरखनाथ से प्राप्त हुआ था। ष्ठौली और भाषा की दष्टि से भक्ति आन्दोलन का अधिकांष्ठा साहित्य नाथ सम्प्रदाय की छाया में लिखा जान पड़ता है। भक्ति आन्दोलन के सूत्रधार स्वामी रामानन्द पर योग का प्रभाव इन पंक्तियों में देखा जा सकता है-

प्राणहिं अपान दष्ठ गाथि डोरि। कुंडलनि आव सम जुक्ति जोर॥
तब चलत पवन जहँ ब्रह्म रंध्र। तहँ छोड़ि जाँहि सब त्रिगुण बंध॥
उलटै सु इलापिंगला नारि। सुषुमना सुद्धि लीजै विचारि॥
पहुँचै सो जबै अनहद गेह। राखै सुएक हरिसो सनेह॥

(राजयोग छं. सं. 25)

रामानन्द रचित 'रामरक्षा' ग्रन्थ की पहली पंक्ति ही नाथपन्थ के प्रति आदर प्रकट करती है-

'ओऽम् सत्य अनादि पुरुस, सत्य-सत्य गुरु संध्या तारिणी सर्व दुख विदारिणी।

संध्या उच्चरे बिघन टरे। पिंड प्राण की रक्षा श्रीनाथ जी करें।'

हिन्दी में भक्ति आन्दोलन का बहुलांष्ठा आचार्य रामानन्द द्वारा प्रवर्तित भक्ति से ही ग्रहण किया जाता है। उनके बारह ष्ठिष्यों ने सगुण-निर्गुण सम्प्रदाय के माध्यम से भक्ति को लोकोन्मुखी बनाया। दीन-हीन, वंचित और उपेक्षित समाज को भक्ति करने का अधिकार प्रदान किया। सगुणवादी प्रत्ययों की जगह योगपरक ष्ठाब्दावलियों का प्रयोग भक्ति साहित्य में बहुलता से प्राप्त होता है। कुण्डलिनी, मूलाधार, षट्चक्र, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, विष्ठुद्धि, अनहदनाद, इंगला-पिंगला, पिण्ड-ब्रह्माण्ड, नाद-विंदु, अमीरस, गगन मण्डल, औंधा कुआँ, अजपाजाप, सुरति-निरति, पष्ठिचम द्वार, ष्ठून्य ष्ठिखर, सहज साधना, अमनस्क योग, उलटबाँसी ष्ठैली और विभिन्न प्रकार के प्रतीकों से भक्ति आन्दोलन का साहित्य भरा पड़ा है। यह पूरा का पूरा प्रभाव नाथपन्थियों का ही दिखायी पड़ता है।

सगुणवादी कवियों की अपेक्षा निर्गुणवादी सन्त कवियों ने योग तत्त्व और सामाजिक परिष्कार की चेतना को अधिक गम्भीरता से ग्रहण किया था। इसीलिए आचार्य रामचन्द्र ष्ठुक्ल लिखते हैं, "आगे चलकर भक्ति काल में निर्गुण सम्प्रदाय वेदान्त के ज्ञानवाद, सूफियों के प्रेमवाद तथा वैष्णवों के अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद को मिलाकर सिद्धों और योगियों द्वारा बनाये हुए रास्ते पर चल पड़ा।" इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए उनके ष्ठिष्य डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने लिखा- "कबीरादि सन्तों का नाथपन्थियों से जातिगत रिष्ठता था। सिद्धों, नाथों और सन्तों की साधना एक ही श्रंष्ठला से जुड़ी हुई है। कबीरादि भक्ति आन्दोलन के प्रमुख सन्तों को दीक्षित करने वाले रामानन्दादि भक्त के साथ योगी भी थे।" पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तो भक्तिकालीन आन्दोलन के कवियों में प्राप्त योग को नाथपन्थी योग ही कहा है। उनके विचार से कबीर 'जोगी' जाति में ही पैदा हुए थे। कालान्तर में उन्हें भक्ति की दीक्षा आचार्य रामानन्द से प्राप्त हुई।

सन्त कबीर के अतिरिक्त नामदेव, चरनदास, धरनीदास, धरमदास, दरिया साहब, गुलाल साहब, भीखा साहब, आपा साहब, दूलनदास, पानपदास, दादू, रज्जब, किनाराम इत्यादि सन्त कवियों ने योग को भक्ति के प्रमुख साधन के रूप में स्वीकार किया है। यौगिक क्रिया से मन, वचन और ष्ठारीर रक्षा की बात की है। इन सन्त कवियों के साहित्य में योग प्रक्रिया का क्रमबद्ध वर्णन मिलता है। कुछ कवियों ने तो नाथपन्थी पदों का भावानुवाद अपनी वाणियों में व्यक्त कर दिया है। इस सन्दर्भ में कबीर, सुन्दरदास, भीखा और आपा साहब के कतिपय पद उल्लेखनीय हैं। इन सन्त

कवियों के भक्ति सम्बन्धी साहित्य में योग के विविध रूपों का दर्शन होता है। साधना प्रक्रिया के अन्तर्गत यम, नियम, आसन, मुद्रा बेध और बंध, प्राणायाम, अजपाजाप, नादानुसन्धान, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि जैसी स्थितियों एवं अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त कर्म, ज्ञान एवं भक्ति योग, ब्रह्म योग, अद्वैत योग, सांख्य योग, लय योग, लक्षयोग, मंत्रयोग, हठयोग, राजयोग और सुरति ष्टाब्दयोग जैसे योग के विविध प्रकार भी भक्ति साहित्य में सहजता से प्राप्त हो जाते हैं। कुछ दष्ष्टान्तों द्वारा इस मत की पुष्टि हो जाती है-

रैदास

(क) **चाँद सूर दोउ सनमुख होई, पीवै प्याला भरै न कोई।**

(ख) **उलटी गंग जमुन में लावै, बिन ही जल मज्जन द्वै पावै॥**

कबीर

(क) **उलटी गंग समुद्रहिं सोखै, ससि औ सूर गरासै।**
तब ग्रिह मारि रोगिया बैठे, जल में व्यंब प्रकासै।
औंधे घड़ा नहीं जल बूड़ै, सूधैं सो जल भरिया।
जिंह कारन नल भिन्न करू, गुरु परसादे तरिया।

(ख) **आकासे मुँख औंधा कूँआ पाताले पनिहारी।**

(ग) **गगन गरजि मन सुन्नि समाना, बाजे अनहद तूरा।**

तुलसी साहब

गगन मंडल के बीच में झिलमिल झलकत नूर।

धर्मदास

गगन मंडल में सतगुरु बोले, सुनि लै सबद हमारा।

आपा साहब

जुगुती बिना प्रकट नहिं आवै अधमुख कहिये ख्याला जी।
मूल चक्र धरनी दे बंदा उल्टा पवन चढ़ावै जी।
सर्त्तर कोठा दस दरबाजा तहाँ अमी भरि लावै जी।
तीनिऊ धारि अमी की बहती गंग जमुना न्यारी जी।

पीवैगा कोई जोग जुगति से आतम दुधा निवारै जी।

पहिले बज्र केवलिया बाँधे, अमष्ठ सो दुहि लावै जी।

एक स्थल पर तो नाथपन्थ के प्रवर्तक गोरखनाथ की वाणियों का भावानुवाद सा लगता है–

थोरा भोजन करौ काया घोटा करौ साधौ।

खोलि गगन की खिरकी पछुम निरखा करौ॥

इंगला पिंगला एक सम करौ साधौ।

रविससि का घर पाय मूल भाखा करौ॥

अजपा जाप लागे रहै, अंतर निरखा करौ।

पावै साधू सोय काया सोधा करे साधौ॥

(*आपा ष्ठाब्दावली*)

उपर्युक्त विष्ठलेषणों और दष्ठ्टान्तों से स्पष्ट है कि भक्ति काल नाथपन्थी योग को अपनी साधना में सहायक और आवष्ठ्यक मानता है। उसमें परब्रह्म परमेष्ठवर के प्रसंग और सामाजिक सुधार के विविध आयाम हैं। कटूक्तियों की प्रचुरता है और स्पष्ट कहने का एक धार्मिक बेपरवाह साहस भी। यद्यपि योग की कष्टसाध्य क्रियाएँ, आचार और भेदोपभेद सन्त कवियों को प्रिय नहीं, फिर भी मन को भक्ति गंगा में गोता लगाने, ष्ठारीर को भक्ति और भजनार्थ स्वस्थ रखने, वाणी को अगम्य प्रदेष्ठों की आध्यात्मिक यात्रा कराने, आडम्बरों, धर्म के विकष्ठ रूपों को उचित दिष्ठा देने तथा सामाजिक विषमताओं को भंजित करने हेतु सन्त कवियों ने योग मार्ग को आस्था के साथ अपनाया है। वे प्रथम आयाम में योग द्वारा चंचल मन को एकाग्र करते, योगस्थ मुद्रा में ब्रह्म को निहारते और अपने इष्ट के ध्यान में मगन हो अलमस्त लगते हैं। दूसरे आयाम में उनकी वाणियाँ इतनी ष्ठाक्तिष्ठाली और प्रभाव-सम्पन्न हो जाती हैं कि बड़ी-से-बड़ी धार्मिक और सामाजिक विकष्ठतियों को ललकारने लगती हैं। कहना है कि दो टूक कथन क्षमता, चिन्तन की समाज सापेक्ष सर्वस्पष्ठर्ी धारणा और धर्म का सहज-सरल रूप भक्तिकालीन कवियों को योगियों से ही मिला है। इन्हीं तथ्यों के आलोक में भक्तिकालीन साहित्य में नाथपन्थ की भूमिका देखी जा सकती है।

卐

शिक्षक की शैक्षिक स्वतंत्रता

जमनालाल बायती

शिक्षक को कक्षाध्यापन के समय कक्षागत में कितनी स्वतंत्रता है? यह प्रश्न कई बार पूछा जाता है। मान लीजिए, भूगोल विषय के कालांश में ताँबा खनिज का पाठ पढ़ाया जा रहा है। अध्यापन के समय बच्चे के मन में खेतड़ी ताँबा परियोजना के बारे में कई जिज्ञासाएँ उठीं। बच्चे के द्वारा प्रश्न पूछने पर शिक्षक को इस सम्बन्ध में उत्तर देना चाहिए या नहीं और यदि हाँ, तो किस सीमा तक?

खेतड़ी ताँबा परियोजना में कितने व्यक्ति किस-किस योग्यता वाले, किस प्रकार के अनुभव वाले रोजगार प्राप्त कर सकते हैं? रिक्त स्थानों के लिए इस आशय की विज्ञप्तियाँ समय-समय पर प्रकाशित होती रहती हैं। यदि शिक्षक के पास ऐसी सूचनाएँ तत्काल उपयोग के लिए हैं तो उनका उपयोग किया ही जाना चाहिए। पर यदि कोई बच्चा यह पूछ बैठे कि इस परियोजना में रोजगार प्राप्त कर लूँ तो जीवन में आगे चलकर रोजगार के क्षेत्र में सन्तोष व सफलता मिलेगी या नहीं? ऐसी स्थिति में शिक्षक क्या करे? उत्तर दे या न दे। उसकी स्थिति बड़ी असमंजसपूर्ण हो जाती है। स्पष्ट है कि इस स्थिति का हर शिक्षक सामना करने को तत्पर नहीं होता है। शिक्षक बच्चों की मनोवृत्ति का अध्ययन करता है, निर्देशन की तकनीक जानता है एवं इस क्षेत्र में उच्च प्रशिक्षण प्राप्त है, बाल-मनोविज्ञान का ज्ञाता है, साधनों तथा अन्य विधियों से बच्चों को सलाह-मशविरा देते-देते दक्ष हो गया है तो वह प्राप्त ज्ञान व तकनीक का उपयोग कर बच्चों का स्तर निश्चित कर सकता है, बच्चों की उस क्षेत्र में सफलता का अनुमान लगा सकता है। बच्चों को सलाह-मशविरा के द्वारा शिक्षक सफलता की सम्भावना ही बता सकता है, शत-प्रतिशत रूप से सफलता या असफलता की भविष्यवाणी नहीं करेगा। पर आज स्थिति यह है कि हर शिक्षक न तो रुचि या अभिरुचि परीक्षण दे सकता है, न बुद्धि-लब्धि ज्ञात कर सकता है तथा न ही वह निर्देशन तकनीक में विशेषज्ञ होता है। ऐसी स्थिति में उसे चुप रहना चाहिए। यदि शिक्षक किसी भी बच्चे के लिए आवश्यक बुद्धि-स्तर का पता नहीं लगा सकता, बच्चे की माली हालत नहीं जानता, प्रवेश के लिए न्यूनतम शैक्षिक योग्यता का ज्ञान नहीं है, व्यक्तित्व के लक्षणों का सही अनुमान नहीं लगा सकता, किसी विशिष्ट तकनीक की बाजार में माँग व पूर्ति का ज्ञान नहीं है तो उसे तटस्थ ही रहना चाहिए। जितनी सूचनाएँ उसके पास हों, वह वस्तुनिष्ठ रूप से बिना घटाए-बढ़ाए बच्चों को दे दे तथा शेष के लिए उसे

विशेषज्ञ के पास भेज देना ही श्रेयस्कर होगा। अपनी विशेषज्ञता के क्षेत्र से बाहर न तो शिक्षक को बोलना चाहिए तथा न ही शैक्षिक स्वतंत्रता का सहारा लेकर उसे ऐसा करने का अधिकार दिया जाना चाहिए।

इस उदाहरण से जरा दूर हटकर सोचें। कुछ उदाहरण ऐसे हो सकते हैं जिनका शिक्षण निरापद नहीं है। विषय का प्रस्तुतीकरण सम्भव है, शिक्षक एकांगी रूप में कर दें जो शैक्षिक दृष्टि से वांछनीय न हो, ऐसा करने से बालकों को लाभ के स्थान पर हानि होने की सम्भावना रहती है। ऐसे चर्चित विषय पर शिक्षक द्वारा ऐसे विचार कक्षा में व्यक्त कर देना जो समाज को स्वीकार्य नहीं है या स्वयं शिक्षक के कार्य तथा व्यवहार में अन्तर है या उन विचारों को बच्चे पसन्द नहीं करते हैं या शिक्षक की उन विचारों के प्रति आस्था नहीं है तो ऐसे विचार विद्यार्थियों की हानि कर सकते हैं। यह प्रजातांत्रिक तरीका नहीं है कि बच्चों को चिन्तन, तर्क करने, अनुमान लगाने या तथ्यों के प्रस्तुतीकरण करने, निर्णय लेने से रोक दिया जाये। यदि शिक्षा का उद्देश्य (अन्य कई उद्देश्यों के साथ) बच्चों में चिन्तन शक्ति का विकास करना है तो बच्चों के सामने विवादास्पद पहलू भी प्रस्तुत करने ही होंगे। इसके लिए सबसे अच्छा तरीका यह है कि शिक्षक पहलू के पक्ष-विपक्ष के सभी बिन्दुओं को वस्तुगत रूप से विद्यार्थियों के सामने रख दें, स्वयं कोई पक्ष न लें, अपना कोई निर्णय न दें तथा विद्यार्थियों को स्वयं निर्णय लेने दें, निर्णय लेने में उनकी मदद करें।

शिक्षक विद्यार्थियों से योग्यता, उम्र, अनुभव तथा ज्ञान में श्रेष्ठ होने से कक्षा में विद्यार्थियों द्वारा नेता माना जाता है तथा उसका स्थान कक्षा में अधिकारी के रूप में रहता है पर शिक्षक को हर समय यह बात दिमाग में नहीं रखनी चाहिए। ऐसी स्थिति में वह अपना कहना मानने के लिए कक्षा में विद्यार्थियों से कहे या न कहे, विद्यार्थी तो उसका कहना मानेंगे ही, उसकी वाणी को देववाणी मानेंगे। परम्परा से ही शिक्षक कक्षा में ऐसे स्थान पर रहता आया है कि उसका कहना विद्यार्थी स्वत: ही मानते हैं, जिसके फलस्वरूप शिक्षक तथा शिक्षार्थी के प्रभावी तथा मधुर सम्बन्धों का विकास होता है। कुछ शिक्षाविदों के अनुसार शिक्षक नेतृत्व करें, निर्णय लें तथा छात्र शिक्षकों की आज्ञा का पालन करें। इसीलिए डॉ. कार्ल मेनिंजर के अनुसार शिक्षण व्यवसाय में प्रवेश करने वाले नवयुवक भाग्यशाली हैं क्योंकि वे मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से स्वस्थ हैं तथा चिकित्सालयों में चिकित्सा के लिए बहुत कम आते हैं। पर कुछ अन्य विचारकों का ऐसा भी कहना है कि शिक्षक सदैव अपरिपक्व मस्तिष्क की संगति में रहते हैं, वे बालकों के बीच रहते हैं। अत: कोई निर्णय लेने की स्थिति में नहीं रहते, या उनके द्वारा लिया गया निर्णय कोई वजन नहीं रखता, उनका निश्चय या निर्णय सूझ-बूझपूर्ण या न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता, इसलिए उनकी आवाज को महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए। चूँकि बच्चे सोच-विचार व व्यवहार में अपरिपक्व होने से शिक्षक के मार्गदर्शन में कक्षा-व्यवहार व कार्य करते हैं अत: कैसा पाठ्यक्रम हो, इसके लिए वे शिक्षक पर निर्भर रहना शुरू कर देंगे। शिक्षक कक्षा में बच्चों को उतना अधिक पढ़ाने के लिए स्वतंत्र होना चाहिए, जितना

बच्चे पढ़ने के लिए तत्पर हों। इसी भाँति शिक्षक को अध्यापन की तथा विद्यार्थियां को सीखने के लिए उपयुक्त स्वच्छन्दतापूर्ण मुक्त वातावरण के चयन की स्वतंत्रता होनी चाहिए जिससे वे विद्यालय में उपयुक्त गति से प्रगति करते रहें।

सोचने-विचारने की प्रक्रिया में सुधार हो, यह बहुत सीमा तक अध्ययन-विधि पर निर्भर करता है। शिक्षक व्याख्यान विधि से पढ़ाते हैं या स्रोत विधि से। व्याख्यान विधि की अपेक्षा स्रोत विधि में बच्चों की पहल करने की प्रवृत्ति का लाभ उठाया जा सकता है, उनको सोचने की प्रक्रिया में इस विधि के माध्यम से स्वनिर्भर बनाया जा सकता है, जबकि व्याख्यान विधि से बच्चे शिक्षक पर निर्भर रहना सीख सकते हैं। पर साथ ही शिक्षकों को पूर्वाग्रहों या अन्धानुकरण के द्वारा शिक्षण से भी बचना चाहिए, क्योंकि कक्षाध्यापन में इसकी पूरी-पूरी सम्भावना रहती है। विद्यार्थी बजाय अपनी बुद्धि से स्वतंत्रतापूर्वक सोचे, दूसरों की बुद्धि पर आश्रित हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में होना यह चाहिए कि विद्यार्थी का निर्णय शिक्षक के निर्णय से सम्पूरित किया जाये। बालक को ज्ञात कारणों, आधारों एवं तथ्यों के प्रकाष्ठा में निर्णय लेने का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। शिक्षण-संस्थाओं से बाहर आने वाले विद्यार्थी किसी एक राजनीतिक दल के अनुयायी न बनें और न ही सरकार को किसी एक मत या विचारधारा पर दृढ़ रहकर प्रचार-प्रसार करना चाहिए बल्कि राजनीति की जगह अकादमिक आधारों पर आग्रह करना चाहिए, जिससे पढ़े-लिखों पर पक्षधरीकरण की छाया न पड़े। ऐसी स्वतंत्रता से बच्चों को जो जन्म से अनन्य विलक्षण क्षमताएँ मिली हैं, उनको अधिकतम विकसित होने का अवसर मिलता है। इस प्रकार शिक्षक बच्चों की वैयक्तिक स्वतंत्रता का रक्षक है। एक शिक्षित नवयुवक स्पष्ट चिन्तन की ओर अग्रसर तथा नये विचारों को खुले मस्तिष्क से स्वीकार करने को तत्पर रहना चाहिए। समझ-बूझ का विकास, उदार दृष्टिकोण, स्वतंत्रता के मौलिक मूल्य का विकास करने के लिए शिक्षकों को विद्यार्थियों की मदद करनी चाहिए। स्वतंत्र समाज में सही व उपयुक्त आलोचना के प्रति झुकाव या लगाव का विकास करना चाहिए।

प्रभावी शिक्षण विधि का फल चिन्तन में सुधार की योग्यता का विकास करना है। अध्यापन में कक्षा का आकार भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, कम विद्यार्थियों की कक्षा में सभी विद्यार्थियों को बोलने तथा अपने विचारों को अभिव्यक्त करने के अधिक अवसर मिलते हैं। ऐसी कक्षाओं में विद्यार्थियों को अधिक सीखने, अधिगम कार्य व्यापार में भाग लेने की सम्भावना रहती है। इससे कक्षा में विद्यार्थी के कार्य बढ़ते हैं जो उनकी चिन्तन शक्ति को अग्रसर करने में सहायक होते हैं। हाँ, बड़ी कक्षाओं अर्थात् अधिक छात्रों वाली कक्षाओं में ऐसा नहीं हो पाता। चरित्र तथा नैतिक आचरण चिन्तन तथा आदत की उपज है। व्यवहारों के प्रतिफल के रूप में अधिक सामंजस्य है।

निजी शिक्षा-संस्थाओं में कार्यरत शिक्षक शिक्षा में सुधार के लिए अधिक योगदान कर

सकते हैं, वे सहमति या असहमति के लिए स्वतंत्र हैं। यदि मानविकी संकाय में पढ़ा-लिखा शिक्षक अपने सम्पूर्ण साधनों का प्रयोग करके भौतिकी अधिक दक्षता से पढ़ा सकता है, विज्ञान विषय के छात्रों को अधिक लाभ पहुँचा सकता है तो उसे ऐसा करने की तत्काल स्वीकृति मिल सकती है जबकि राजकीय विद्यालयों में ऐसा नहीं किया जा सकता, ऐसे शिक्षकों का विद्यालय के लिए यह बहुत बड़ा योगदान है। दक्ष कर्मचारियों को समान प्रकार का कार्य करने वाले पदों पर रोकने के दृष्टिकोण से निजी संस्थान अच्छे हैं, वे अपने कर्मचारियों की विशिष्ट सेवा का मूल्य समझते हैं। ऐसा करने से विद्यालय की अर्थव्यवस्था पर भी प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा। शिक्षा के गुणात्मक सुधार के लिए शिक्षक की शैक्षिक स्वतंत्रता बहुत ही अर्थपूर्ण है। इस भाँति वैयक्तिक योग्यता पर आधारित यह सुरक्षा तथा स्वतंत्रता अच्छी शिक्षा का बीमा है।

चिन्तन में स्वतंत्रता प्रजातांत्रिक पद्धति का जनक है। शिक्षा पर सरकार के नियंत्रण के दुष्परिणामों की अभी कल्पना नहीं की गयी है। राज्य शिक्षा को प्रचार तथा अन्धानुकरण का साधन बना सकता है तथा नागरिक सीमित क्षेत्र में ही सोच-विचार कर सकते हैं। ऐसी शिक्षा-व्यवस्था जिसमें शिक्षक सोचने-विचारने को स्वतंत्र है; प्रयोग करने, शिक्षण की नयी तकनीक काम में लेने को स्वतंत्र है, शोध करके निष्कर्षों को प्रकाशित करने, सत्य को परखकर पढ़ाने को पूर्ण स्वतंत्र है, जो अपने गुणों के अनुसार पहल करने को स्वतंत्र है, ऐसा ही शिक्षक स्वतंत्र एवं आलोचनात्मक चिन्तन को अग्रसर करता है।

अध्यापन के दौरान उस वक्त और भी कठिनाई उपस्थित होती है जब शिक्षक उस विवादास्पद पहलू के प्रति उदासीन हो या भिन्न हो। शिक्षक के व्यक्तित्व को उसके शिक्षण से पृथक नहीं किया जा सकता। शिक्षक उसके प्रति कितनी ही उदासीनता शिक्षण के समय दिखाए, पर व्यवहार में, सम्भव है, ऐसा न लगे। शिक्षक अपना व्यक्तित्व अपने शब्दों से छिपा नहीं सकता। शिक्षक चाहे मुँह से न बोले, पर उसका शान्त व्यवहार उससे भी ज्यादा प्रभावी होता है। कई बातों में से शिक्षक का व्यक्तित्व भी महत्त्वपूर्ण है जो बालक की विचारधारा, उसके व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। बालक के व्यक्तित्व का विकास उपयुक्त राह पर होता हुआ देखकर शिक्षकों को प्रसन्नता होती है। इस भाँति यह कहना कि बिना अपना निर्णय दिये पहलू की सत्यासत्य स्थिति बच्चों के सामने रखना उपयुक्त है, अधिक वजनदार तर्क नहीं है।

यदि शिक्षक अपने विचारों को छिपाता है तो विद्यार्थी उसे पाखण्डी समझेंगे क्योंकि वे जिस बात पर विश्वास करते हैं, उसे न पढ़ाकर दूसरी बात पढ़ाते हैं या वे जिस बात पर आग्रह करते हैं, वह उनके व्यवहार में नहीं है या उसके अनुसार वे स्वयं व्यवहार नहीं करते हैं। यदि ऐसा होता है तो शिक्षक बच्चों तथा स्वयं में अविश्वास का विकास करता है। वास्तविकता यह है कि शिक्षक का बहुत ज्यादा प्रभाव पड़ेगा तथा प्रभाव भी कथनी की अपेक्षा करनी का अधिक स्थायी होगा।

साथ ही वह उस पहलू पर अधिकारी-विद्वान के विचार भी बच्चों के सामने प्रस्तुत कर सकता है। भय से शिक्षक पर कहने-सुनने की पाबन्दी नहीं लगायी जानी चाहिए। महत्त्वपूर्ण तो यह है कि बच्चों को सीखने की स्वतंत्रता हो। इस सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि जो भी तथ्य या सूचना या विचार प्रस्तुत किया जाये वह स्पष्ट हो, सही हो, संगत तथा संक्षिप्त हो। शिक्षक विवादास्पद मामलों के सभी पक्षों को निष्पक्ष ढंग से प्रस्तुत करे तथा इस बात की सतर्कता बरते कि स्वयं शिक्षक या शाला कोई एक पक्ष ग्रहण न करे। ऐसा होने पर भी एक भय तो बना ही रहेगा कि पक्ष तथा विपक्ष दोनों समान रूप से वस्तुगत प्रस्तुत किये गये हैं तो बालक कोई निर्णय ही न कर सकेगा क्योंकि उसे हर तर्क सन्तुलित प्रतीत हो रहा है। यदि ऐसा हुआ तो उसके व्यक्तित्व के विकास में बाधा पहुँचेगी या व्यक्तित्व का वांछित विकास न हो सकेगा।

कई बार एक ही शिक्षक का दो कक्षाओं में शिक्षण भिन्न-भिन्न रूप में लिया जा सकता है, क्योंकि सम्भव है, एक कक्षा के बालक दूसरे से भिन्न सम्प्रदाय के हों। इसी भाँति दो शिक्षकों का अध्यापन भी भिन्न-भिन्न रूपों में लिया जा सकता है। ऐसी स्थिति जब भी पैदा हो, तत्काल विचार-विमर्श कर स्पष्टीकरण कर लिया जाना चाहिए। ऐसा न करने पर दोनों शिक्षकों में अविश्वास पनप सकता है जो हानिकारक है। इससे भी अधिक बुरा यह होगा कि विद्यार्थी अपने ऐसे शिक्षकों का विश्वास खो देंगे, सम्मान गँवा बैठेंगे।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यदि विवादास्पद विषयों का शिक्षण बिना पूर्व योजना के छोड़ दिया गया तो शिक्षण के समय अवश्य ही शिक्षक अपने निजी विचारों से प्रभावित होंगे। विवादास्पद विषयों का निर्णय एकाध दिन या सप्ताह में नहीं होता - इस प्रकार के निर्णयों में दीर्घ अवधि की जरूरत पड़ती है - ऐसे विषयों की प्रारम्भिक जानकारी विद्यार्थियों को दी जाए जिससे वे उस विषय की प्रकृति से परिचित हो सकें तथा स्थिति का उपयुक्त ज्ञान प्राप्त कर सकें। सामाजिक शक्तियों तथा विचारधाराओं के निष्कर्षों पर आधारित ऐसे विवादास्पद पहलुओं की जानकारी यदि विद्यार्थियों को दी जाए तो बच्चों को समाज की गतिविधियों, रीति-रिवाजों की जानकारी होगी तथा उनको उत्तरदायी नागरिक बनाने के लिए शिक्षक को प्रशिक्षण देने में मदद मिलेगी। उत्तरदायित्व न होने से तो शिक्षकों में भी अप्रसन्नता का विकास होता है। एक सही शिक्षक ही वह है जो अपने विद्यार्थियों में समाज-सम्मत मूल्य एवं सामाजिक व्यवहारों का विकास करता है। विद्यार्थियों को परखने, आलोचना एवं प्रत्यालोचना के ढंग से सोचने-विचारने को अग्रसर करता है जिससे वे साहसपूर्ण कार्यों को करने के लिए आगे बढ़ें।

शोध पर आधारित तथा उपयुक्त तथ्यों के प्रकाश में तर्कसंगत निर्णय लिये जाने चाहिए। तर्कपूर्ण, उपयुक्त व सन्तुलित निर्णय लेने में विद्यार्थियों की मदद के क्षेत्र में या इस कार्य के लिए उनको प्रशिक्षण देने के सम्बन्ध में शिक्षकों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। भावी समाज के लिए शिक्षकों

को आवश्यक साधन-सम्पन्न बनाने के लिए शिक्षक शिक्षा की संस्थाओं की भूमिका अति महत्त्वपूर्ण है, इसी महत्त्व को ध्यान में रखते हुए उन्हें अपना शिक्षक कार्यक्रम पुनर्नियोजित करना चाहिए।

विश्वास

स्वतंत्रता की नींव विश्वास पर जमी हुई है। यदि शिक्षक का शिक्षण में स्वतंत्रता पर विश्वास है तो वह घोर संकटों का सामना भी करेगा। यदि उसे अपनी परिवर्तित शिक्षण तकनीक में विश्वास है तो कितनी ही कठिनाइयाँ आने पर भी उनके अनुसार ही शिक्षण करेगा। ऐसे दृढ़ निश्चय वाले शिक्षक स्वेच्छा एवं गर्व के साथ अपने मार्ग पर चलते रहेंगे। किस प्रकार वह अपने प्रयत्नों में सफल होता है, यह बहुत कुछ शिक्षक के व्यक्तित्व पर निर्भर करेगा।

शिक्षण की स्वतंत्रता से जुड़ा दूसरा घटक उत्तरदायित्व

शिक्षण की स्वतंत्रता में विश्वास के साथ ही जिम्मेदारी भी जुड़ी हुई है। शिक्षक यदि उत्तरदायित्व का भार वहन कर सके तभी उसे स्वतंत्रता का आनन्द मनाने की सोचना चाहिए। जो स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें अपने व्यवसाय का भी पूरा ज्ञान होना चाहिए। यदि शिक्षक को शिक्षण तकनीक का अद्यतन ज्ञान नहीं है, पाठ्यक्रम-रचना की नवीन दिशाओं का ज्ञान नहीं है तो वह कक्षा-शिक्षण के समय न्याय नहीं कर पायेगा। अतः स्वतंत्रता का उपयोग करने के लिए व्यवसाय सम्बन्धी ताजा जानकारी की पूर्व आवश्यकता है।

कई शिक्षकों को व्यवसाय का ज्ञान तो है पर कार्य करने की इच्छा नहीं है। स्वतंत्रता में इच्छा पूर्व कल्पना है। उदासीनता तथा स्वतंत्रता साथ-साथ नहीं चल सकती। किसी विद्यालय में प्रयोग करने से पहले उस विषय का गहन एवं विस्तृत ज्ञान ही काफी नहीं है पर साथ ही साथ शिक्षक, प्रधानाध्यापक, अभिभावक को भी सन्तुष्ट कर सकने का पक्का विश्वास होना चाहिए। ऐसे कार्यों में बड़े साहस की जरूरत है। तनिक-सी कठिनाई के समय सभी विरोधी उठ खड़े होंगे तथा साथी शिक्षक का मनोबल गिराने की कोशिश करेंगे।

शैक्षिक स्वतंत्रता पर सभी शिक्षाविद् मतैक्य नहीं हैं। कुछ विचारक शैक्षिक स्वतंत्रता की मात्रा को सीखने वाले की परिपक्वता से जोड़ना चाहते हैं। स्पष्ट है कि महाविद्यालय या विश्वविद्यालय का स्नातक अधिक शैक्षिक स्वतंत्रता का उपयोग करेगा जबकि प्राक् विश्वविद्यालय का छात्र उससे कम तथा विद्यालयी बालक उससे भी और कम।

नागरिक स्वाधीनता तथा शैक्षिक स्वतंत्रता

यह नहीं भुलाया जाना चाहिए कि शिक्षक, शिक्षक होने के साथ-साथ नागरिक भी है। शिक्षकों को उसी प्रकार स्वतंत्र रहने का अधिकार है जिस प्रकार अन्य नागरिकों को। जिस प्रकार

अन्य नागरिक धर्म, पूजा-पाठ, विष्ठवास, वेष्ठाभूषा, नाच-गाना, खान-पान के सम्बन्ध में स्वतंत्र हैं, ठीक उसी प्रकार ष्ठिक्षक भी स्वतंत्र रहना चाहते हैं। जब तक ष्ठिक्षक अपने समाज के लोकाचारों, आष्ठाओं और आदर्ष्ठों का पालन करता रहेगा, तब तक उसके सामने कोई कठिनाई नहीं होगी। पर ज्योंही वह इन सामाजिक मर्यादाओं से दूर हटा नहीं कि उस पर आपत्तियाँ आ सकती हैं।

यहाँ नागरिक स्वाधीनता तथा ष्ठौक्षिक स्वतंत्रता को सही अर्थों में लिया जाना चाहिए तथा इसी भावना से इनका अन्तर भी समझ लिया जाना चाहिए। नागरिक स्वाधीनता के दष्टिकोण से यदि ष्ठिक्षक कोई ऐसा कार्य जो समाज के रीति-रिवाजों के अनुकूल नहीं है, कर लेते हैं तो समाज उनसे अपने पद से त्याग-पत्र की माँग कर सकता है। यदि ऐसा हो तो ष्ठिक्षक ष्ठौक्षिक स्वतंत्रता का नागरिकों द्वारा अतिक्रमण बताते हैं। यदि कोई व्यवसाय प्रबन्ध में स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण प्रधानाचार्य विद्यार्थियों को परीक्षा में सफलता के सूत्र पर व्याख्यान देता है तो वह आचार्य के रूप में अनुभव-सिद्ध उपयोगी बातें बताता है जिनका उसने आजीवन अध्ययन किया है तथा इस विषय पर सामान्य व्यक्ति नहीं बोल सकता है। इस स्थिति में वह अपनी नागरिक स्वाधीनता की (न कि ष्ठौक्षिक स्वतंत्रता की) आष्ठा कर सकता है। पर यदि प्रधानाचार्य अपनी विष्ठिष्टता के क्षेत्र से बाहर भी अधिकारपूर्वक बोलता है तो भी न उन्हें दण्डित किया जा सकता है तथा न ही पद-मुक्त। समाज का कर्तव्य है कि वह प्रधानाचार्य के छोटे-छोटे दायित्वों को स्वयं वहन कर ले, जिससे वह अपना कार्य समाज हित में और अच्छी प्रकार कर सके।

न्यायपालिका की स्वतंत्रता लोकतांत्रिक स्वतंत्रता की आधारष्ठिला है। पर राज्य द्वारा प्रबन्धित ष्ठिक्षा के खतरों को आज तक नहीं सोचा गया है। राज्य ष्ठिक्षा का प्रचार एवं अन्धानुकरण के रूप में प्रयोग कर सकता है तथा नागरिकों को तकलीफ में डाल सकता है। ऐसी ष्ठिक्षा-व्यवस्था जहाँ ष्ठिक्षक की स्वतंत्रता है, ष्ठिक्षा में स्वतंत्रता जन्मदायिनी है तथा उसी के परिणामस्वरूप मूल विचार अग्रसर होते हैं। प्रथम स्थान पर स्वतंत्रता को प्रभावी रूप से प्रयोग करने के योग्य बनाती है। ष्ठौक्षिक स्वतंत्रता प्रतिकूल वातावरण में फल-फूल भी नहीं सकती। सही अर्थों में ष्ठौक्षिक स्वतंत्रता को सुदष्ठ एवं समष्ठु बनाने के लिए अध्ययन में रुचिष्ठील, निर्भय तथा समर्पित ष्ठिक्षक व विद्यार्थी वर्ग का सहयोग अपेक्षित है। ष्ठौक्षिक स्वतंत्रता के क्षेत्र में प्रष्ठासकों की ओर से फिर भी एक भय बना ही रहेगा। प्रष्ठासक जब तक मुख्यत: सरकारी विद्यालयों में हस्तक्षेप की नीति के समर्थक रहेंगे तब तक ष्ठौक्षिक स्वतंत्रता आकाष्ठा-कुसुम ही बनी रहेगी। कल्पना कीजिए-किसी विष्ठोष विद्यालय में कार्यानुभव पर कोई कार्य नहीं हुआ तो विद्यालय प्रधान को विद्यालय निरीक्षक की ओर से चेतावनी मिल जाएगी, दूसरी बार ऐसा न करने के लिए स्पष्टीकरण माँगा जायेगा। तीसरी बार स्पष्ट लिख दिया जायेगा कि ऐसा न होने पर सम्बन्धित अधिकारी को अपराधियों की सूची में अंकित कर दिया जायेगा।

उपर्युक्त विवेचन से विशुद्ध विशिष्ट ज्ञानरहित जनसाधारण तथा शिक्षाविद् विचारकों के दो सम्प्रदाय स्पष्ट होते हैं। प्रथम सम्प्रदाय के अनुसार विद्यालय को परम्परा से चली आई शिक्षा-व्यवस्था का पालन करना चाहिए, शिक्षकों को उस स्थिति का बिना प्रतिवाद किये अन्धानुकरण करना चाहिए तथा उन्हें अपनी स्वतंत्रता का मर्यादित उपयोग भी परम्परा के अनुसार ही करना चाहिए। शिक्षक का कार्य ऊपर से निर्धारित नीतियों का पालन, प्रचार व प्रसार करना मात्र हो जाता है। ऐसी स्थिति में प्रेरणा तथा आलोचनात्मक चिन्तन के विकास का प्रश्न स्वत: ही समाप्त हो जाता है। इसी भाँति विचारकों के दूसरे सम्प्रदाय के अनुसार विद्यालय को सामाजिक प्रगति का अग्रदूत बनना चाहिए, उसको समाज की गतिहीन स्थिति की आलोचना करनी चाहिए। शिक्षक को अपने शिक्षण में आलोचनात्मक भावना ग्रहण करने में अधिक स्वतंत्र होना चाहिए। विद्यालय सामाजिक प्रगति का आलोचनात्मक अध्ययन करे, उनके अनुसार विद्यालय अग्रदर्शी होना चाहिए, विद्यालय को परम्परागत व्यवस्था से ऊपर उठकर सोचना चाहिए तथा नये प्रयोग करने के लिए स्वतंत्रता होनी चाहिए एवं इस स्वतंत्रता का क्षेत्र भी विस्तृत होना चाहिए। कुछ विचारकों का कहना है कि शिक्षकों को परम्परा से हटकर बातें कहने में शैक्षिक स्वतंत्रता की सुरक्षा होनी चाहिए। पर दूसरे सम्प्रदाय के विचारक कहते हैं कि जनसाधारण से अधिक सुरक्षा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि जैसा ऊपर कहा गया है, शिक्षक- शिक्षक होने से पहले नागरिक है तथा वह नागरिक स्वाधीनता का भी उपयोग करता है।

भारत में वर्तमान स्थिति

आज स्वतंत्र भारत में शैक्षिक स्वतंत्रता का अर्थ लिया जाता है कि प्रजातांत्रिक विधियों से शिक्षक को अध्यापन की, शोध छात्र को अनुसन्धान की, वैज्ञानिक को प्रयोग करने की, शिक्षार्थी को सीखने की स्वतंत्रता है। इन सबकी स्वतंत्रता समाजवादी समाज में प्रजातंत्र की स्वतंत्रता से भिन्न है। प्रजातंत्र में स्वतंत्रता थोड़ी मर्यादित हो जाती है। प्रजातंत्र में व्यक्ति-व्यक्ति के विचारों में भिन्नता हो सकती है, विचारों में भिन्नता होते हुए भी जीवन के लिए उसके योगदान की भी प्रशंसा की जानी चाहिए, उसके व्यक्तित्व का आदर किया जाना चाहिए तभी सम्मान के साथ उनका जीवनक्रम चलता रह सकता है।

पाठ्यक्रम

आज स्थिति यह है कि शीर्षस्थ व्यक्ति द्वारा मनोनीत या चयनित व्यक्ति पाठ्यक्रम तैयार करते हैं तथा यह आशा की जाती है कि अन्य शिक्षक उसका अनुगमन करेंगे। क्या इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि केवल कुछ ही शिक्षकों को सोचने-विचारने की आवश्यकता है? यदि ऐसा ही है तो शैक्षिक स्वतंत्रता कहाँ है? समाज में बेकारी बढ़ी तो पाठ्यक्रम बदलो। शिक्षा के पाठ्यक्रम

में उद्योग या कार्यानुभव जोड़ो। इसी भाँति समाज में अनैतिकता, भ्रष्टाचार या धोखाधड़ी बढ़ी तो पाठ्यक्रम बदलो, पाठ्यक्रम को इस प्रकार समृद्ध करो, उसमें नैतिक शिक्षा जोड़ो, जिससे बालकों में आने वाली पीढ़ी में नैतिकता का विकास हो। सामान्यत: शिक्षकों से कुछ भी नहीं पूछा जाता तथा अधिकारी ही सब निर्णय ले लेते हैं। यदि पाठ्यक्रम की रचना आवश्यक ही हो तो शिक्षकों के मार्ग-दर्शन के लिए सुझाव के रूप में कुछ आधारभूत बिन्दु दे देने चाहिए तथा पाठ्यक्रम की रचना स्वयं शिक्षक पर छोड़ देनी चाहिए। ऐसा पाठ्यक्रम समाज की आवश्यकताओं को अधिक अच्छी तरह से पूरी कर सकेगा, क्योंकि वह अनुभव की हुई आवश्यकताओं पर आधारित होगा। इस प्रकार की कोई स्वतंत्रता शिक्षकों को आज तक नहीं दी गयी।

अध्यापन-विधि

आज के वातावरण में शिक्षक को विधियों पर प्रयोग करने, विधियों परिवर्तन, संशोधन, परिवर्द्धन करने की भी व्यवहारत: कई कारणों से स्वतंत्रता नहीं है, उसे केवल परम्परा से चली आयी विधियों के अनुसार ही पढ़ाना है, दूसरे शब्दों में शिक्षण-विधियों में गत्यात्मकता नहीं है। बच्चों से प्रश्न पूछे ही नहीं जाते। यदि पूछे जाते हैं तथा विद्यार्थी विस्मयकारी उत्तर देते हैं तो वे शिक्षक के कोप-भाजन बन जाते हैं। घूम-फिर कर उसके उत्तरों को स्वीकार कर बालकों में सृजनात्मकता का विकास किया जा सकता है। शिक्षकों को स्वतंत्रता होनी चाहिए कि आवश्यकता के समय शिक्षण-विधि में परिवर्तन कर शिक्षण को अधिक प्रभावी बना सकें जिससे विद्यार्थी अधिकाधिक लाभान्वित हो सकें। मूल्यांकन के लिए भी यही कहा जा सकता है।

पाठ्य-पुस्तकें

इस क्षेत्र में भी शिक्षकों का कोई स्थान नहीं है। पाठ्य-पुस्तकें शिक्षा निदेशक तय करता है। लगभग सभी राज्यों में पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है, ऐसी स्थिति में राष्ट्रीयकरण के सभी दोष यहाँ भी घर कर गये हैं। इस व्यवस्था में जिस प्रकार पुस्तकों का स्तर गिरा है, किसी से छिपा नहीं है। इस सम्बन्ध में भी राज्य विषय की एक से अधिक पुस्तकें प्रकाशित करवाकर शिक्षकों को चयन का अवसर दे सकते हैं। शिक्षकों को इतनी स्वतंत्रता तो होनी ही चाहिए कि वे अपने बच्चों के लिए उपयुक्त पुस्तकों का चयन कर सकें। इसमें डर यह है कि शिक्षक या प्रकाशक भ्रष्ट हो जाएँगे। पर यह तो व्यवस्था का दोष है, न कि स्वयं सिद्धान्त का। पाठ्य-पुस्तकें ऐसी होनी चाहिए कि वह केवल तैयार व बने-बनाये निष्कर्षों को ही प्रस्तुत नहीं करें, वरन् निष्कर्षों तक पहुँचने के लिए विद्यार्थियों को स्वतंत्रता भी प्रदान करें। इसमें विद्यार्थी आगे चलकर नागरिक के रूप में व्यावहारिक समस्याओं के श्रवण, मनन व निदिध्यासन के माध्यम से समाधान ढूँढ़ने में सक्षम होंगे।

प्रश्न उठता है कि शिक्षक स्वतंत्रता क्यों चाहता है? उच्चाधिकारियों के संकेतानुसार काम करके वह सन्तोष क्यों नहीं कर लेता? स्वतंत्रता शिक्षक का जन्मजात अधिकार, सहजवृत्ति एवं बुनियादी आवश्यकता है। स्वतंत्रता से मनाही का अर्थ है- आत्मानुभव के अवसरों व समाजसेवा से दूर होना। प्रश्न यह नहीं है कि बिना स्वतंत्रता के भी कुछ शिक्षक अच्छा कार्य कर रहे हैं, यह कोई कसौटी नहीं है पर ऐसा करना तो उन शिक्षकों के स्वभाव में है। स्वतंत्रता में ही रहकर शिक्षक अधिकतम विकास कर सकता है। क्या कभी अन्तर्राष्ट्रीय तनाव व भय समाप्त होंगे? क्या कभी व्यक्तियों की हत्या करने तथा सार्वजनिक सम्पत्ति को जलाने के बजाय तर्क व प्यार से भी बात होगी? क्या कभी सम्पूर्ण विश्व को कुटुम्ब के रूप में पिरोया जा सकेगा? इस विचार का विकास किया जाना चाहिए। इस प्रकार के विश्व की रचना के लिए शिक्षक का स्थान महत्त्वपूर्ण है। क्या शिक्षक अपने तुच्छ राजनीतिक स्वार्थों तथा अपनी पाशविक इच्छाओं के वशीभूत होकर स्वतंत्रता, समानता, अहिंसा तथा सत्य पर आधारित अपना कर्तव्य भूल जायेगा? क्या शिक्षक सत्य के लिए आग्रह करेगा तथा विद्यार्थियों को भी सत्य पर आग्रह के लिए तत्पर बनायेगा? इन सब प्रश्नों के उत्तर पर ही भावी सभ्यता निर्भर करती है।

卐

संविधान, सेक्युलरिज़्म और कन्वर्ज़न

डॉ. सतीष्ठा चन्द्र मित्तल*

विष्ठव के प्रत्येक संविधान के बारे में दो महत्त्वपूर्ण बातें जानना आवष्ठयक है। प्रथम, वह उस देष्ठा की आत्मा होता है। वह वहाँ की लोक चेतना का प्रतिबिम्ब, सामाजिक चेतना का स्वर, सांस्कष्ठतिक उपलब्धियों का चित्र तथा नैतिक उन्नति का परिचायक होता है। वह उस समाज की जनभावनाओं की समस्याओं तथा आकांक्षाओं का प्रतीक होता है। दूसरे, संविधान अपने आप में कोई साध्य नहीं, बल्कि साधनमात्र होता है। मूलत: संविधान समाज के लिए होता है न कि समाज संविधान के लिए। विष्ठव के अनेक देष्ठों में समय-समय पर संविधानों में अनेक संष्ठोधन, आमूल-चूल परिवर्तन तथा समाजोपयोगी न रहने पर नवीन संविधान की रचना हुई है।[1]

भारतीय संविधान की रचना

महात्मा गाँधी का कथन है कि संविधान की विष्ठेषता इस तथ्य में है कि देष्ठा का प्रत्येक नागरिक स्त्री-पुरुष, युवा-वष्ठ इससे भली-भाँति परिचित हो तथा प्रत्येक उसमें अपनी भागीदारी का अनुभव करता हो। सीधा-सा विचारणीय बिन्दु है कि 26 जनवरी, 1950 से लागू होने के बाद वर्तमान तक भारतीय जनमानस अपने संविधान के प्रति उदासीन क्यों है? ग्राम, कस्बे, नगर तथा महानगर में रहनेवाले नागरिक उससे अपरिचित क्यों हैं? यह केवल कोर्ट-कचहरी तथा अदालती मुकदमों की चारदीवारी तक की कार्यवाहियों तक सीमित क्यों है? एक विद्वान् ने इस सन्दर्भ में लिखा कि इतिहास केवल लिखा ही नहीं जाना चाहिए बल्कि इसे अनवरत बताया भी जाना चाहिए।[2] भारतीय संविधान की जानकारी क्यों यह विष्ठिष्ट सम्भ्रान्त वर्ग तक सीमित है? यह जानकारी खेत-खलिहानों के किसानों, मिल के मजदूरों, सामान्य दुकानदारों तथा नौकरी करने वाले कर्मचारियों को क्यों नहीं होनी चाहिए?

अल्प जन-प्रतिनिधित्व पर आधारित

यह सर्वविदित है कि भारतीय संविधान, जो 26 जनवरी 1950 को लागू हुआ था, बहुत जल्दी में तैयार किया गया था। यह केवल समूचे देष्ठा की 30 करोड़ आबादी के कुल तेरह प्रतिष्ठात

*(अ.प्र.)वरिष्ठ प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, इतिहास विभाग, कुरुक्षेत्र विष्ठवविद्यालय; अध्यक्ष, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना

मताधिकार का प्रतिनिधित्व करता है, और वह भी जो 1937 के चुनाव के आधार पर अप्रत्यक्ष वोटों के आनुपातिक ढंग से चुनकर आये थे। नये चुनाव के लिए पं. जवाहरलाल नेहरू भी पक्ष में न थे। बाद में इसमें कुछ और निर्वाचित सदस्यों को जोड़ा गया। इसमें वे लोग भी थे जो पहले द्विराष्ट्रवाद या पाकिस्तान-निर्माण के पोषक थे। संविधान सभा में इनके व्यवहार के प्रति कई बार ष्ठांकाएँ भी जतायी गयी थीं।[3]

परिस्थितियों की उपज

यद्यपि भारतीय संविधान बनाने की प्रक्रिया 1940 से ही ष्ठुरू हो गयी थी। परन्तु औपचारिक रूप से भारतीय संविधान सभा की स्थापना ब्रिटिष्ठा कैबिनेट मिष्ठान योजना के अन्तर्गत 16 मई, 1946 को की गयी थी।[4] भारत का संविधान उन भयंकर तथा गम्भीर परिस्थितियों में निर्मित हुआ जब देष्ठा के विभाजन का स्वरूप भी स्पष्ट न था तथा विष्ठव के इतिहास में सर्वाधिक एक करोड़ की जनसंख्या से अधिक की अदला-बदली को केवल तीन मास का समय दिया गया था जिसमें दोनों ओर से दस लाख लोग मारे गये थे, लगभग एक लाख महिलाओं का अपहरण हुआ था तथा करोड़ों-अरबों की सम्पत्ति विनष्ट हुई थी।[5] भारतीय संविधान गम्भीर चर्चाओं तथा राष्ट्रीय बहस का परिणाम न था। इस संविधान के बनाने में कुल 165 बैठकें हुई थीं जिसमें 114 बैठकें संविधान के अन्तर्गत विभिन्न समितियों के गठन तथा उनके द्वारा मसौदा तैयार करने के सम्बन्ध में हुई थीं। केवल 51 बैठकों में (केवल दो महीने से कम समय में) इस पर बहस हुई। मोटे रूप से यह हड़बड़ी में बना संविधान है। इस संविधान के निर्माण में लगभग तीन वर्षों में (09 दिसम्बर, 1946 से 26 नवम्बर 1949) 165 दिनों में ग्यारह अधिवेष्ठानों में कार्य हुआ। इन अधिवेष्ठानों में 7,635 संष्ठोधन प्रस्तुत किये गये जिसमें केवल 2,473 संष्ठोधनों पर चर्चा हुई।[6] मूल संविधान में 395 अनुच्छेद 22 विभाग तथा 8 अनुसूचियाँ थीं। यह समस्त कार्यवाही 6,440 पष्ठों में प्रकाष्ठित हुई तथा इस पर कुल व्यय 63,96,729 रुपये हुआ। इस संविधान में 90,000 ष्ठाब्द हैं। बी.डी. बसु ने इसे विष्ठव का सबसे विस्तष्ठ तथा प्रसिद्ध संविधानष्ठास्त्री प्रो. एम.वी. पायली ने इसे 'हाथी जैसा भारी-भरकम' बतलाया है।

संविधान के मुख्य निर्माता

यह उल्लेखनीय है कि भारत के प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू प्रारम्भ में भारतीय संविध ान बनाने के महत्त्वपूर्ण कार्य को ब्रिटेन के सुप्रसिद्ध संविधानष्ठास्त्री सर विलियम आइवर जेनिंग्स (Sir William Ivor Jennings: 1903-1965)को सौंपना चाहते थे।[7] संविधान के सन्दर्भ में पं. नेहरू का महात्मा गाँधी से जरा भी तालमेल न था। भारतीय संविधान किसी भी अर्थ में गाँधीवादी नहीं है। वह न ही गाँधी जी के *हिन्द स्वराज्य*[8] के अनुरूप है जो संसदीय प्रजातंत्र को अभारतीय तथा

अमनोवैज्ञानिक मानते हैं। इस सन्दर्भ में परस्पर विरोधी गाँधी-नेहरू पत्र-व्यवहार उपलब्ध है। यह संविधान गाँधी जी द्वारा प्रदत्त संविधान के प्रारूप के भी अनुकूल नहीं है, जो उन्होंने अपनी मृत्यु से तीन दिन पहले तैयार किया था[9] जिसमें उन्होंने कांग्रेस का विघटन करके ग्राम-पंचायतों के आधार पर राष्ट्र-निर्माण का स्वरूप रखा था। यह संविधान उनकी ग्राम स्वराज्य की परिकल्पना के अनुसार किंचित्मात्र भी नहीं है।[10]

यह भी कटु सत्य है कि भारतीय संविधान भारत रत्न डॉ. भीमराव अम्बेडकर के उद्धारक प्रजातंत्र के सिद्धान्तों पर आधारित है। डॉ. अम्बेडकर ने स्वयं स्वीकार किया है कि यह संविधान उनका बनाया हुआ नहीं है। उन्होंने स्वयं कहा, 'मैं तो हैक (Hack) था, मुझे जो करने को कहा, मैंने अपनी इच्छा के विरुद्ध किया।' उन्होंने यह भी कहा कि मैं पहला व्यक्ति होऊँगा जो इसे जला देगा। मैं इसे नहीं चाहता। यह संविधान किसी भी व्यक्ति के लिए उपयुक्त नहीं है।[11] उन्होंने दो वर्ष पश्चात् पुनः पंजाब के एक सदस्य डॉ. अनूप सिंह के प्रश्न, कि आप इसे जलाना क्यों चाहते हैं?, के उत्तर में कहा, 'आप इसका उत्तर चाहते हैं। हमने देवता तथा उनके वास के लिए एक मन्दिर बनाया, परन्तु इससे पूर्व वहाँ देवता प्रस्थापित हो, असुरों ने उस स्थान पर कब्जा कर लिया है।'[12]

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यदि डॉ. भीमराव अम्बेडकर-जैसी प्रतिभा तथा परिश्रम के धनी व्यक्ति इसमें न होते तो संविधान बनाने में बड़ी कठिनाइयाँ आतीं। संविधान सभा के प्रसिद्ध सदस्य टी.टी. कृष्णमाचारी (1889-1947) ने इस बारे में कहा- 'संविधान की ड्राफ्ट कमेटी, जिसके अध्यक्ष डॉ. अम्बेडकर थे, में सात व्यक्ति नियुक्त किये गये थे। एक ने त्याग-पत्र दे दिया तथा बदला गया। एक की मृत्यु हो गयी तथा उसकी स्थानपूर्ति न हुई। एक अमेरिका चला गया तथा स्थान नहीं भरा गया। एक अपने राज्य के कार्य में ज्यादा व्यस्त रहा। एक अथवा दो दिल्ली से दूर थे तथा सम्भवतः स्वास्थ्य ठीक न होने की वजह से भाग न ले सके। अतः, संविधान-निर्माण का कार्य एक व्यक्ति डॉ. अम्बेडकर के कन्धों पर आ पड़ा।'[13]

विद्वानों की प्रतिक्रिया

भारतीय संविधान के बनते ही आशा के विपरीत इसके विरुद्ध कड़ी प्रतिक्रिया तथा कटु आलोचना हुई। इसे 'यूरोपीय संविधान', 'यूरोपीय-अमेरिकी संविधान', 'स्वतंत्रता के पश्चात् अपनों को पृथक् कर ब्रिटेन द्वारा दिया भारतीय संविधान', 'कांग्रेस के हिसाब से बना संविधान', 'आपाधापी में बना संविधान' आदि कहा गया। कुछ ने इसके निर्माण को लॉर्ड माउण्टबेटन, पं. नेहरू तथा तत्कालीन आई.सी.एस. अधिकारी श्री बी.एन. राय का बनाया संविधान बतलाया।

यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि भारतीय संविधान में भारतीय संस्कृति, परम्परा तथा

इतिहास-दृष्टि का पूर्ण अभाव है। भारत के सर्वोच्च न्यायालय के तृतीय मुख्य न्यायाधीश श्री मेहरचन्द महाजन (1889-1967) ने अपने एक लेख में इसे 1935 के ऐक्ट पर आधारित 'दासत्व की प्रति' ('slavish copy') बतलाया।[14] सर्वोच्च न्यायालय के छठें मुख्य न्यायाधीश श्री भुवनेश्वर प्रसाद सिन्हा (1899-1986) ने नयी दिल्ली में सितम्बर, 1966 की एक विचार-गोष्ठी में इसका अधिकतर भाग 1935 के ऐक्ट पर आधारित बताया। प्रसिद्ध विद्वान् कस्तूरीचन्द लालवाणी[15] ने इसकी उद्देशिका, मूल अधिकारों, राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्वों आदि के पीछे 1935 के ऐक्ट की छाप मानी। इसके पुराने ढाँचे को भारत के राजशिल्पियों द्वारा एक नवीन पलस्तर-सामग्री (विदेशी संविधानों) से जोड़कर बनाया हुआ बताया जो इसे एक सतत समन्वय रूप देने में पूर्ण असफल रहे। डॉ. सम्पूर्णानन्द (1891-1969) ने मद्रास में एक भाषण में कहा कि भारतीय संविधान में कुछ भी भारतीय नहीं है। हिन्दू महासभा के एक प्रस्ताव में[16] इसे 'पाश्चात्य संविधानों का गड़बड़झाला' कहा जो प्राचीन भूमि की सुन्दरमय संस्कृति तथा परम्पराओं के बिल्कुल विपरीत है। प्रसिद्ध विचारक श्री दीनदयाल उपाध्याय (1876-1968) ने एक लेख में कहा कि इस संविधान का पुरस्कार करें या विस्तार करें या बहिष्कार करें।

संविधान सभा के अनेक सदस्यों ने भी भारतीय संविधान पर अनेक आक्षेप किये। भारतीय संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्र प्रसाद[17] ने 24 नवम्बर, 1949 को संविधान की प्रति पर हस्ताक्षर करते हुए संविधान की मूल प्रति किसी भारतीय भाषा में न होकर अंग्रेजी में होने तथा भारतीय संसद में किसी भी संसद सदस्य या विधानसभा के किसी भी उम्मीदवारी के लिए कोई भी शिक्षा की शर्त नहीं रखी जाने पर अपना क्षोभ प्रकट किया। प्रमुख सदस्य श्री एम. अनन्तशयनम् आयंगर (1891-1978) ने इसे 'पश्चिम के कुछ पुराने संविधानों का पैचवर्क' तथा '1935 के ऐक्ट की नकल' कहा। श्री केंगल हनुमतमथैया (1908-1980) ने कहा,[18] 'हम चाहते थे वीणा या सितार का संगीत, पर यहाँ हमारे पास है इंग्लैण्ड के बैण्ड का संगीत।' श्री हरि विष्णु कामथ (1907-?) ने कहा,[19] 'हमने अन्य देशों के संविधानों से बहुत कुछ लिया' तथा प्रश्न किया, 'क्या हमने कोई अपने अतीत से भी लिया है? क्या भारत की राजनीतिक तथा आध्यात्मिक प्रतिभाओं से भी कुछ लिया है?' उन्होंने पुनः कहा, 'श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित यू.एन.ओ. में बड़ी गर्मजोशी से कहती हैं कि हमने पेरिस से स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व लिया है, पर यह नहीं बतलाया कि भारत से क्या लिया?' महावीर त्यागी (1899-1980) ने अपनी व्यंग्यात्मक शैली में कहा- 'आखिर गाँव को क्या मिला, केवल वोट का अधिकार?' टी. प्रकाशम् (1872-1957) ने कहा,[20] 'गाँवों को भुलाकर हमने अनेक वर्षों के स्वतंत्रता संघर्ष को ही एक झटके में विस्मृत कर दिया।'

अनेक गाँधीवादी चिन्तकों या अन्य विचारकों ने इसमें ग्राम, ग्राम पंचायतों तथा ग्राम स्वराज्य को नदारद पाया। प्रसिद्ध विद्वान् धर्मपाल (1922-2006) ने संविधान के सन्दर्भ में पुनः सोचने तथा

गाँवों को अपने राजनीतिक ढाँचे में स्थान देने को कहा। प्रसिद्ध पत्रकार प्रभाष जोशी (1936-2009) ने[21] इसे कबायलियों के जंगल में भटकता लोकतंत्र माना है। विद्वान् लेखक भामिनी सेनगुप्त ने [22] संविधान के व्यावहारिक स्वरूप पर कटाक्ष करते हुए लिखा, 'प्रजातंत्र, झूठे अर्धसत्यों, चालाकियों तथा षड्यंत्रों के चार पहियों पर नहीं चलेगा।' 1997 में भारत के पूर्व प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने कहा, 'भारत का संविधान परिस्थितियों की उपज है। इससे पूर्व संविधान-पद्धतियों का अध्ययन नहीं किया गया। यह संविधान हड़बड़ी में बना है।'

अनेक विदेशी विद्वानों, विचारकों तथा शोधकर्ताओं ने भारतीय संविधान की आलोचनात्मक समीक्षा की है। ब्रिटेन की एक सरकारी रिपोर्ट[23] में कहा गया है कि भारतीय सिद्धान्तों का आधार ब्रिटिश मॉडल है जो वहाँ के फेडरल (Federal) प्रकृति के अनुरूप अपनाया गया है। कुछ विशेषताएँ यू.एस.ए., ऑस्ट्रेलिया, कनाडा, आयरिश रिपब्लिक से ली गयी हैं। माइकेल ब्रेचर (Michael Brecher: b.1925)[24] ने संविधान के 235 अनुच्छेदों को 1935 के ऐक्ट को ज्यों-का-त्यों अथवा मामूली परिवर्तन के साथ तथा इसमें भारतीय चिन्तन का पूर्णतः अभाव माना है। एक प्रसिद्ध अमेरिकी विद्वान् सर थियोडोर एल. शे (Theodore L. Shay)[25] ने लिखा, 'यह संविधान उपनिषद्, रामायण तथा महाभारत वाले देश में सोचा भी नहीं जा सकता। यह उस भारतीयता का चिन्तन नहीं करता।'

संक्षेप में हड़बड़ी में हुई भारतीय संविधान की रचना तीस करोड़ के राष्ट्र में दूरबीन से दिखनेवाला अल्प जनप्रतिनिधित्व, विकट परिस्थितियों की उपज संविधान, तत्कालीन संविधान-निर्माताओं की मानसिकता, देश-विदेश के विद्वानों की आलोचनात्मक समीक्षा से स्पष्ट स्पष्ट होता है। इसमें सन्देह नहीं कि अनेक राजसत्ता प्राप्ति से उत्साहित राजनीतिज्ञ आवश्यक रूप से गम्भीर न थे। ताज्जुब है भारतीय संविधान में कहीं भी 'धर्म' (रिलीजन नहीं), 'संस्कृति' या 'राष्ट्र' शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया। भारतीय संविधान में न कोई भारतीयता का पुट है न भारतीय संस्कृति से कोई लगाव और न ही अतीत से अभिन्न सम्बन्ध है। मूलतः पाश्चात्य मानसिकता, पाश्चात्य अन्धानुकरण तथा पाश्चात्य मॉडल पर बनाया गया संविधान, जो कभी भी भारतीय जनमानस को स्पर्श न कर पाया।

यह उल्लेखनीय है कि गाँधीवादी तथा भारतीय संस्कृति से जुड़े कुछ सदस्यों ने संविधान की उद्देशिका, संविधान के नामकरण, मौलिक अधिकार, राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्व, नागरिकता के प्रश्न, ग्राम, ग्राम पंचायतों तथा ग्राम स्वराज्य, राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रीय गीत, राष्ट्रभाषा, समान नागरिक संहिता, धारा 370 आदि विषयों पर महत्त्वपूर्ण बहस की। परन्तु उनको नाममात्र की सफलता मिली।

निश्चय ही भारतीय संविधान से देश में राष्ट्रीयता, अखण्डता तथा एकता के वे उच्च भाव

न हो सके जिसकी अपेक्षा थी। इसके विपरीत कुछ समस्याओं- सेक्युलरिज्म तथा कन्वर्जन को बढ़ाया जो आज देष्ठा में बेचैनी तथा अष्ठान्ति का कारण बनी हुई हैं।

सेक्युलरिज्म

यह सभी को भली-भाँति ज्ञात है कि 'सेक्युलरिज्म' (Secularism) ष्ठाब्द पं. जवाहरलाल नेहरू के प्रधानमंत्रित्व काल में भारतीय संविधान का कहीं कोई भाग न था, परन्तु इस ष्ठाब्द को भारतीय संविधान की उद्देष्ठिका में श्रीमती इन्दिरा गाँधी (1966-1977) द्वारा घोषित आपातकाल (1975-1977) के क्रूर दिनों में हड़बड़ी में 03 जनवरी, 1977 को दस मिनट में पारित कर दिया गया। निस्सन्देह इसने अनेक प्रष्ठनों को जन्म दिया। आपातकाल में ऐसी कौन-सी आवष्ठयकता आ पड़ी थी जो इसे अलोकतांत्रिक ढंग से जनमत को समझे बिना भारतीय संविधान का भाग बना दिया गया? भारतीय संविधान में जोड़ा गया अंग्रेजी ष्ठाब्द 'सेक्युलरिज्म' व्यावहारिक दष्टि से जरा भी नया नहीं है। भारतीय चिन्तन में यह युगों-युगों से 'पन्थनिरपेक्षता' अथवा 'सर्वपन्थसमभाव' के रूप में पहले से विद्यमान है। अत: यह लाखों भारतीयों के हृदय तथा मस्तिष्क में प्रवेष्ठा नहीं कर पाया। अनेक राजनीतिज्ञों ने स्वार्थवष्ठा इसे एक हथियार के रूप में प्रयोग किया तथा कर रहे हैं।

'सेक्युलर' ष्ठाब्द का अर्थ

मूलत: अंग्रेजी का ष्ठाब्द 'सेक्युलरिज्म' इंग्लैण्ड में 1851 में बर्मिंघम के जॉर्ज जैकब होलीओक (George Jacob Holyoake: 1817-1906)[26] द्वारा प्रयुक्त हुआ। यह ष्ठाब्द अंग्रेजी ष्ठाब्द 'सेकुलेष्ठान' के प्रयोग से बना जिसका अर्थ है अलग होना। अर्थात् प्रचलित चर्च या पन्थ से अलग होना। इसे चर्च और राज्य के अलगाव तथा नागरिकता के रूप में लिया गया। इस ष्ठाब्द की यूरोप में तथा वर्तमान भारत में भी सदैव भ्रामक, उलझनकारी तथा बहुअर्थी दष्टि बनी रही तथा इसका उपयोग भिन्न-भिन्न ष्ठाब्दावली तथा अर्थों में प्रयोग होता रहा। इस ष्ठाब्द की भाषा तथा भाव (letter and spirit) में सदैव अन्तर बना रहा। यूरोप में इसे जहाँ एक राजनीतिक, नकारात्मक तथा प्रतिक्रियावादी विचार के रूप में लिया गया, अमेरिका ने इसे नास्तिकता के दर्ष्ठान के रूप में लिया। भारत में यद्यपि प्राचीन काल से यह ष्ठाब्द एक प्रमुख नैतिक सिद्धान्त के रूप में प्रचलित रहा, परन्तु संविधान में जुड़ जाने से इसके अनेक भ्रामक अर्थ प्रचलित हो गये। इसे 'धर्मनिरपेक्ष', 'धर्मसापेक्ष', 'पन्थनिरपेक्ष', 'धार्मिक तटस्थता', 'सर्वधर्मसमभाव', 'सर्वधर्मसम-अभाव', 'हिन्दू-विरोधी', 'मुस्लिम-तुष्टीकरण का परिचायक', 'इस्लामी साम्राज्यवाद का पोषक', 'वोट बैंक का राजनीतिक हथियार' आदि ष्ठाब्दों के रूप में सुविधानुसार प्रयुक्त किया गया है। संस्कष्त के विद्वानों ने 'सेक्युलरिज्म' का निकटतम अर्थ 'नास्तिकवाद' बतलाया है।

अधिकतर भारतीय विद्वानों का मत है कि संविधान में इस ष्ठाब्द को जोड़ने की जरा भी

आवष्ठयकता नहीं थी। इसे न भारत के मुसलमानों ने पसन्द किया, न ही हिन्दुओं ने। कष्ठमीर हाईकोर्ट के न्यायाधीष्ठा मुजफ्फर हसन ने इसे अनावष्ठयक बतलाया। प्रसिद्ध विद्वान् मुष्ठिारुल हसन (जन्म:1949) ने लिखा कि बहुसंख्यक मुसलमान इसे नहीं मानते।[27] जमेयत-इस्लाम, सैयद अहमद हुसैन तथा अन्य कई इस्लामी संगठनों ने इसे स्वीकार न किया। पद्मभूषण स्वप्न दासगुप्ता (जन्म:1955) का कथन है[28] कि इस ष्ठाब्द को संविधान की उद्देष्ठिका में दबावपूर्ण ढंग से ष्ठामिल किया गया। भारतीय गणतंत्र का जन्म जिस रूप में हुआ, उसमें 'समाजवाद' और 'सेक्युलरिज्म' उस समय ष्ठामिल नहीं थे, जैसा कि (वर्तमान) नारोंवाली राजनीति में नजर आता है। सेक्युलरिज्म की मनमानी व्याख्या तथा एकपक्षीय पन्थनिरपेक्षता की आड़ में साम्प्रदायिकता फैलाने की कटु आलोचना भी हुई। डॉ. बी.आर. अम्बेडकर ने इसे भविष्य की पीढ़ियों के लिए छोड़ देने का आग्रह किया था। प्रसिद्ध चिन्तक तथा विचारक डॉ. सूर्यकान्त बाली का कथन सही है[29] कि हम तो सहिष्णुता के जगद्गुरु हैं। सहिष्णुता हमारे रक्त में है। यह हमारी आस्था है। अत: 'सेक्युलरिज्म' ष्ठाब्द को सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए इसका ऐतिहासिक विष्ठलेषण करना आवष्ठयक होगा।

यूरोप, अमेरिका में इसका स्वरूप

प्राचीन ग्रीक में राजा और चर्च में कोई अन्तर नहीं थां देवता की पूजा नागरिकता की पहली ष्ठार्त थी। अफलातून (Plato: 428-348 BCE) ने राज्य को एक रिलीजस कन्फैंष्ठान (Religious confansion) माना है। रोमन ष्ठासकों को भगवान् माना जाता था और उनकी पूजा होती थी। यहूदी दैवीय कानून को भगवान् की इच्छा मानते थे। ईसाइयत, यहूदियों के विरुद्ध एक चुनौती के रूप में आया। ईसाइयों को अगले तीन सौ वर्षों तक बहुत विरोध सहना पड़ा। उन्हें चोर, डाकू, धोखेबाज, देष्ठाद्रोही आदि कहा गया। रोम के ष्ठासक कॉन्सटेंटाइन (Constantine) ने जब ईसाई मत अपना लिया, तब अत्याचारों का वही दौर गैर-ईसाइयों पर चला। यूरोपीय इतिहास में यही क्रम अगले एक हजार वर्ष तक चलता रहा। मजहबी युद्धों ने सभी मानवीय मूल्यों की हदें पार कर दीं। इस काल में पुनर्जागरण तथा सुधारों का काल भी आया। जर्मनी के पादरी मार्टिन लूथर (Martin Luther: 1483-1546) ने कैथोलिक मत का विरोध कर 16वीं ष्ठाताब्दी में प्रोटेस्टेंट (Protestant) मत की स्थापना की। ष्ठासक का धर्म जनता का धर्म बन गया और इसलिए हजारों लोगों को अपना देष्ठा छोड़कर भागना पड़ा।

इसी भाँति अमेरिका में 1776 ई. में स्वतंत्रता के लिए संघर्ष प्रारम्भ हुआ। अमेरिका में सेक्युलरिज्म के लिए भी आन्दोलन हुआ। 1786 ई. में धार्मिक स्वतंत्रता स्थापित करने के लिए बिल रखा गया।[30] इस अर्थ में अमेरिका विष्ठव का पहला सेक्युलरवादी राज्य बन गया। 1791 ई. में अमेरिका के संविधान ने इसे मान्यता दी। कुछ ने इसकी आलोचना भी की तथा इसे ष्ठारारती मुसलमानों तथा अमेरिकी वामपन्थियों का अपवित्र समझौता बताया।[31] अमेरिका के प्रारम्भ के

अध्यक्षों- जॉर्ज वाशिंगटन (George Washington: 1789-1797), जॉन एडम्स (John Adams: 1797-1801), थॉमस जैफरसन (Thomas Jefferson: 1801-1809), जेम्स मेडीसोन (James Madison: 1809-1817) - सभी के लेखों तथा भाषणों से ज्ञात होता है कि वे नास्तिक थे, यद्यपि वे 'सेक्युलरवादी' कहलाते थे।[32] परन्तु यह नास्तिकता व्यावहारिक रूप से कभी न बन पायी। विश्व प्रसिद्ध नास्तिकों के वर्तमान नेता तथा संगठक रिचर्ड डाकिन्स ने माना है कि आज भी अमेरिका के राष्ट्राध्यक्ष के चुनाव में खड़े व्यक्ति को अपने को नास्तिक कहना उसकी राजनीतिक आत्महत्या की भाँति है।[33]

इंग्लैण्ड भी इस धार्मिक झगड़ों में पीछे न था। इंग्लैण्ड ने प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय को अपनाया था। 1832 के प्रथम सुधार नियम के समय रिलीजन और राजनीति को अलग करने की माँग की गयी थी। ईश्वर व ईसाइयत के अस्तित्व को भी चुनौती दी गयी थी, परन्तु इंग्लैण्ड ने यह स्वीकार न किया था। इतना ही नहीं, इंग्लैण्ड के क्राउन के लिए प्रोटेस्टेण्ट मत मानना अनिवार्य था। इंग्लैण्ड के इतिहास में 'सेक्युलरिज्म' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम जॉर्ज जैकब होलीओक न किया था, जिसका अर्थ अलग होना था।[34] अतः यह सरकार द्वारा प्रचलित चर्च या पन्थ से अलग होने की घोषणा थी। जैकब ने इसका अर्थ- 'व्यक्ति का आत्मविवेक एवं आत्मचेतना के अनुसार स्वतंत्र चिन्तन की व्यवस्था बतलाया।' उसने अपनी पुस्तक में इसकी प्रकृति की विस्तृत व्याख्या की। अनेक ने इसका अर्थ नास्तिकता से लिया। आधुनिक विद्वानों- बर्ट्रेण्ड रसेल (Bertrand Arthur William Russell: 1872-1970) तथा इन्मेटशोअल ने इसे ऐसा ही माना।

भारतीय पन्थनिरपेक्षता की गहरी जड़ें

पश्चिमी जगत् व अमेरिका के विपरीत भारत में प्राचीन काल से धार्मिक सहिष्णुता, उदारता तथा समरसता का बोलबाला रहा है। भारत को 'धार्मिक आस्था की स्थली' कहा गया। ऋग्वेद (1. 164.46) में कहा गया कि सत्य एक है, परन्तु विद्वानों ने उसे भिन्न-भिन्न शब्दावली में बताया है। उपनिषदों, भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र में भी यही विचार दिये हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र[35] में राज्य का कर्तव्य 'सबकी सुरक्षा, चाहे वह किसी मत-पन्थ का माननेवाला हो' बतलाया। मनुस्मृति[36] में राजा ने निर्देश देते हुए कहा कि जैसे पृथ्वी माता सभी प्राणियों को समान सहायता देती है, उसी प्रकार एक राजा को बिना किसी भेदभाव के सहायता करनी चाहिए।' मौर्य सम्राट अशोक तथा गुप्त-शासकों ने भी पन्थों तथा सम्प्रदायों को आश्रय दिया। चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के मंत्री बौद्ध तथा शैव थे। नालन्दा विश्वविद्यालय बौद्ध शिक्षा का केन्द्र था, परन्तु उसे सभी दान देते थे। हर्षवर्धन (606-647) ने सभी ब्राह्मणों तथा श्रमणों का सम्मान किया था। इतना ही नहीं, भारत में ईसाइयों तथा पारसियों को भी आश्रय दिया गया था। ऐसा माना जाता है कि सीरियाई ईसाइयों का पहला दल सर्वप्रथम भारत पहुँचा था। ईरान से पारसियों का दल भी भारत पहुँचा जिन्हें न केवल आश्रय दिया

गया बल्कि उनके लिए अग्नि मन्दिर भी बनवाये गये। सम्राट कृष्णदेवराय (1509-1529), छत्रपति शिवाजी (1674-1680), महाराजा रणजीत सिंह (1801-1839) इत्यादि सभी राजाओं ने अपने शासनकाल में सभी मतों-पन्थों का सम्मान किया था। संक्षेप में भारत में सदैव 'सर्वपन्थसमभाव' रहा जो भारत का विश्व में एक वैशिष्ट्य है।

विश्व के विद्वानों का दृष्टिकोण

विश्व के प्रायः विद्वानों ने भारत की धार्मिक सहनशीलता, उदारता तथा धार्मिक स्वतंत्रता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। विश्वविख्यात भारतीय दार्शनिक डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन (1888-1975)[37] ने लिखा कि 'भारत-जैसी उदारता विश्व में कहीं भी नहीं है।' यह भी लिखा, 'भारत ने धर्म का प्रयोग राज्य-विस्तार के लिए कभी नहीं किया।' भारत के सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश श्री पी.बी. गजेन्द्र गडकर (1901-1979)[38] ने भारत की धार्मिक उदारता तथा सभी मत-पन्थों के सामंजस्य की बात कही। विश्व प्रसिद्ध इतिहासकार रमेश चन्द्र मजूमदार (1888-1980) ने भारत के धर्म को उसकी 'उदारता का सर्वोत्कृष्ट स्मारक' बतलाया है। प्रसिद्ध इतिहासकार सर यदुनाथ सरकार (1870-1958) ने लिखा, 'हिन्दुत्व कोई धर्म नहीं है, बल्कि धर्मों (सम्प्रदायों) का संयोग, विश्वास का सहयोगी तथा दर्शन की संघ रचना है।' महात्मा गाँधी (1869-1948)[39] ने माना कि 'हिन्दू धर्म कोई पन्थ नहीं है, बल्कि अनेक रिलीजनों का समुच्चय है।' वे हिन्दू-धर्म को सत्य की अथक खोज, सबसे अधिक सहिष्णु मानते हैं। उन्होंने पुनः लिखा- 'हिन्दू मूर्खता की हद तक असाम्प्रदायिक हैं।' फ्रांसीसी दार्शनिक रोमा रोलां (Romain Rolland: 1866-1944) ने 'हिन्दुत्व को विभिन्न सम्प्रदायों का एक सुन्दर गुलदस्ता' माना है। बर्नार्ड शॉ (George Bernard Shaw: 1856-1950) ने हिन्दू-धर्म को 'विश्व का सर्वाधिक उदार धर्म' बताया। प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैक्स वेबर (Karl Emil Maximilian 'Max' Weber: 1864-1920)[40] ने माना-'हिन्दू सहिष्णुता की हद हैं तथा इसे धर्म की कोटि में नहीं रखा जा सकता।' ए.के. वार्डर (Anthony Kennedy Warder: 1924-2013)[41] ने हिन्दुओं को 'अत्यधिक सहिष्णु' पाया है।

भारतीय संविधान में बहस

यह भारतीय इतिहास की विस्मयकारी घटना है कि संविधान में अपनाया गया पाश्चात्य शब्द 'सेक्युलरिज्म', जिसके भारतीय संविधान के तीन वर्ष के लम्बे कालखण्ड (09 दिसम्बर, 1946 से 26 नवम्बर, 1949) में बहस नाममात्र की है जबकि ये 1977 में आपातकाल के पश्चात् पहले कांग्रेस पार्टी का चुनावी मुद्दा तथा वर्तमान में सभी तथाकथित सेक्युलरवादी पार्टियों का चुनाव जीतने का मुख्य नारा बन गया है। यह और भी आश्चर्यजनक है कि भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं. नेहरू, जो धर्म का जहर[42] मानते थे तथा ईश्वर[43] तथा आत्मा[44] को न मानते थे जिसे विद्वानों ने

'नास्तिक'[45] कहा है। अपने काल में 'सेक्युलर' संविधान न बना सके जो उनकी पुत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने अपने अधिनायकवाद के दौरान कर दिखाया।

उल्लेखनीय है कि 'सेक्युलरिज्म' शब्द का प्रयोग भारतीय संविधान सभा की समस्त कार्यवाही में नाममात्र का हुआ था।[46] 15 नवम्बर, 1948 को संविधान सभा में, संविधान को अन्तिम रूप देने के दौरान जब इसके प्रथम वाचन में एक-एक अनुच्छेद पर विचार प्रारम्भ हुआ, तब 'सेक्युलर' शब्द के प्रयोग की बात आयी। उद्देशिका में एक सुझाव आया कि इसमें 'भगवान् के नाम पर' वाक्य जोड़ा जाये। एक दूसरा प्रस्ताव आया कि इसमें 'महात्मा गाँधी के नाम पर' जोड़ा जाये। तीसरा प्रस्ताव आया कि इसमें 'हुतात्माओं के नाम पर' जोड़ा जाये। परन्तु ये सभी प्रस्ताव/सुझाव अस्वीकृत कर दिये गये। उद्देशिका में पं. नेहरू द्वारा बनाये संविधान में 'सेक्युलर' शब्द नहीं था।

श्री अनन्तशयनम् आयंगर ने इस देश को 'इण्डिया' तथा इसे 'राज्यों के संघ' कहने पर आपत्ति की और 'इण्डिया' के बजाय 'भारतवर्ष' या 'हिन्दुस्थान' रखने को कहा। श्री नजीरुद्दीन अहमद ने संघ को यू.एस.एस.आर. (रूस) की तर्ज पर 'युनाइटेड इण्डियन सोशलिस्ट रिपब्लिक' रखने का प्रस्ताव रखा। प्रो. के.टी. शाह[47] चाहते थे कि भारत एक सेक्युलर, संघात्मक समाजवादी राज्यों का संघ हो। डॉ. बी.आर. अम्बेडकर ने के.टी. शाह के प्रस्ताव को पूर्ण अस्वीकृत किया तथा तर्कसंगत शैली में बतलाया कि यह 'प्रजातंत्र को पूर्णतः नष्ट करनेवाला होगा' तथा 'पूर्णतः अनावश्यक' है। भारतीय संविधान के प्रथम अनुच्छेद में 'सेक्युलरिज्म' शब्द को स्थान न मिलने पर श्री हरि विष्णु कामथ ने इसे संविधान की उद्देशिका में स्थान देने का असफल प्रयत्न किया। भारतीय संविधान के दूसरे वाचन में श्री बेशेश्वर प्रसाद ने 17 अक्टूबर, 1949 को 'सेक्युलर' शब्द जोड़ने का आग्रह किया। तर्क था कि इससे अल्पसंख्यकों को नैतिक बल मिलेगा, पर यह प्रस्ताव भी स्वीकृत न हुआ। 'सेक्युलर' शब्द की मामूली चर्चा मौलिक अधिकारों के प्रसंग पर भी हुई, परन्तु चर्चा इसके विरोध में अधिक थी। श्री लोकनाथ मिश्र (1922-2009)[48] ने सेक्युलर स्टेट के विचार को फिसलनभरा बतलाया तथा इसका उद्देश्य भारत की प्राचीन संस्कृति को दबाने का तरीका बताया। उन्होंने अनुच्छेद 18 का विरोध किया जिसमें धर्मप्रचार की खुली छूट है। उन्होंने इसे 'गुलामी का चार्टर', 'अत्यधिक अपमानजनक' तथा 'भारतीय संविधान का कालिमापूर्ण भाग' कहा। श्री शिब्बनलाल सक्सेना (जन्म: 1906)[49] ने 'सेक्युलर' शब्द कहीं नहीं तो राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्वों में जोड़ने को कहा, पर यह प्रस्ताव भी स्वीकृत न हुआ। पं. नेहरू की 'सेक्युलर' शब्द को संविधान में जोड़ने की महत्त्वाकांक्षा पूरी न हुई, डॉ. बी.आर. अम्बेडकर ने 1951 में भारतीय संसद में कहा कि यह संसद किसी पन्थ-विशेष को शेष लोगों पर थोपने की अधिकारिणी नहीं होगी।[50]

संविधान में 'सेक्युलर' ष्ठाब्द जुड़ने से उपजे अनेक प्रष्ठन

उल्लेखनीय है कि 'सेक्युलरिज्म' ष्ठाब्द भारतीय संविधान की उद्देष्ठिका में आपातकाल में हड़बड़ी में 03 जनवरी, 1977 को जोड़ दिया गया। निस्सन्देह इसने अनेक प्रष्ठनों को जन्म दिया। आपातकाल में ऐसी कौन-सी आवष्ठयकता आ पड़ी जो इसे अलोकतांत्रिक ढंग से जनमत समझे बिना भारतीय संविधान का भाग बनाया गया? क्या यह पं. नेहरू की महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति थी? क्या यह भारतीय मुसलमानों तथा ईसाइयों को प्रसन्न कर हिन्दू-प्रतिरोध या भविष्य के लिए एक राजनीतिक चाल थी? क्या तत्कालीन नेता भारत में पहले से ही प्रचलित पन्थनिरपेक्षता से परिचित न थे? क्या यह सम्भव है कि अनेक असन्तुष्ट कांग्रेसियों को इस ष्ठाब्द के जोड़ने से कांग्रेस में उत्पन्न खटास को दूर करने का प्रयत्न था? परन्तु यह निष्ठचयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह पहले से ही भारतीय चिन्तन में व्यापक रूप में रहा है। देष्ठा के अनेक विद्वानों ने भारत के सन्दर्भ में इस ष्ठाब्द को निरर्थक, प्रेरणाहीन तथा राष्ट्रीय एकता तथा अखण्डता में बाधक माना है। सम्भवत: इसीलिए समूचे देष्ठा में वर्तमान में भारतीय संविधान से 'सेक्युलरिज्म' ष्ठाब्द हटाने की माँग बलवती होती जा रही है।[51]

कन्वर्जन

कन्वर्जन के सन्दर्भ में गत 02 अप्रैल, 2015 को अमेरिका के 'प्यू रिसर्च सेण्टर' (Pew Research Center) से प्रकाष्ठित रिपोर्ट[52] चौंकाने तथा चकित करने वाली है, परन्तु भयभीत करने वाली नहीं है। इतिहास में कभी भी गणित के आँकड़ों के अनुसार परिवर्तन नहीं होते। रिपोर्ट के अनुसार 2050 तक विष्ठव में मुसलमानों की सर्वाधिक आबादी वर्तमान इण्डोनेष्ठिया की बजाय भारत में अधिक होगी। विष्ठव का सर्वाधिक प्रचलित मत ईसाइयत होगा तथा जहाँ कुछ देष्ठों में नास्तिक बढ़ेंगे, वहाँ भारत एकमात्र देष्ठा होगा जहाँ हिन्दुओं की जनसंख्या सर्वाधिक होगी। प्रस्तुत आँकड़े आष्ठचर्यजनक हैं, पर सावधान करने वाले हैं। यह सर्वज्ञात है कि हिन्दू-धर्म में कन्वर्जन तथा हिंसा का कोई स्थान नहीं है। जबकि इस्लाम या ईसाइयत इसके बिना एक भी कदम चलने को तैयार नहीं है।

यदि विषय का चिन्तन केवल भारतीय संविधान के अन्तर्गत करें, तो भी अवस्था भयावह तथा गम्भीरतापूर्वक विचारणीय है।

संविधान सभा में अक्षम्य भूल

विभाजित भारत में भारतीय संविधान में अल्पसंख्यकों को कन्वर्जन की इतनी छूट मिली कि वे ब्रिटिष्ठा ष्ठासनकाल में कभी उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते थे। यह उल्लेखनीय है कि भारतीय संविधान में इसकी उद्देष्ठिका तथा अनुच्छेद 19 में प्रत्येक नागरिक को अपना धर्म पालन

करने तथा सभी प्रकार के विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार दिया गया, तो भी अनुच्छेद 25 में इस पर पुनः चर्चा हुई। इसमें मौलिक अधिकारों से जोड़ते हुए कन्वर्जन का बिना किसी रुकावट, प्रावधान या कानून के समर्थन किया गया। कुछ प्रबुद्ध तथा वरिष्ठ सदस्यों- सर्वश्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी (1887-1971), अनन्तस्वामी आयंगर, एल. कृष्णस्वामी भारती (1904-1995), पं. अलगूराय शास्त्री, जगनारायण लाल, रघुनाथ विनायक धुलेकर (1891-1980), राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन (1882-1962) तथा लोकनाथ मिश्र ने कन्वर्जन पर कड़े ऐतराज किये। टकराव का मुख्य मुद्दा अनुच्छेद 25 का दूसरा भाग है। जहाँ पहले भाग में सभी व्यक्तियों को अपने धर्म अपनाने, प्रचार करने तथा अपने रीति-रिवाजों के अनुरूप चलने की पूर्ण स्वीकृति दी, वहीं दूसरे भाग में प्रारम्भ में यह जोड़ा गया कि बशर्ते इसमें लोकव्यवस्था, नैतिकता अथवा स्वास्थ्य तथा मूल अधिकारों के अध्याय में सम्मिलित दूसरे प्रावधानों पर कोई आँच न आती हो। दूसरे भाग में यह भी कहा गया कि छल-कपट, लोभ-लालच, भय तथा आतंक के अनुचित प्रभाव के द्वारा एक धर्म से दूसरे धर्म में किये जाने वाले कन्वर्जन की कानूनी मान्यता नहीं मिलेगी। भारतीय संविधान में मुख्यतः बहस 01 मई, 1947 से 30 अगस्त, 1947 के दौरान हुई।[53] जनमत कन्वर्जन पर कड़े कानून बनाने के पक्ष में था। आयंगर व एल. कृष्णस्वामी भारती ने कन्वर्जन को प्रतिबन्धित न करने पर भविष्य में इससे उत्पन्न होने वाले भयंकर खतरों से भी अवगत कराया। श्री लोकनाथ मिश्र ने इसे शर्मनाक भी बताया। परन्तु दो प्रमुख ईसाई सदस्यों - फ्रेंक एंथोनी (Frank Anthony: 1908-1993) तथा जे.जे.एम. निकोल्स (J.J.M. Nichols: 1884-1959) को प्रसन्न करने के लिए देश के भविष्य को अन्धकार में झोंक दिया गया। भारतीय संविधान सभा द्वारा कन्वर्जन की यह खुली छूट भारतीय जनसमाज के साथ एक अक्षम्य अपराध था। इसके लिए वरिष्ठ नेताओं की चेतावनी को अनसुना कर दिया गया। निश्चय ही इससे विभेदकारी, अलगाववादी, भारतीय संस्कृति-विरोधी तथा अराष्ट्रीय धारा का संरक्षण तथा संवर्धन हुआ।

भारतीय संसद में कानून

सन् 1950 में भारतीय संविधान लागू होते ही मुसलमानों तथा ईसाइयों को कन्वर्जन की पूरी छूट मिल गयी। अब तो ईसाइयों पर 'ब्रिटिश साम्राज्यवादी' कहलाने का तमगा भी हट गया। चार वर्षों (1951-1954) में मुस्लिम तथा ईसाई जनसंख्या तेजी से बढ़ी। एक प्रसिद्ध ईसाई मिशनरी ने इसे खुशी का अवसर बतलाते हुए कहा कि इससे पहले भारतीय इतिहास में ऐसा अवसर 'पहले कभी न आया'[54] तथा मिशन के कार्य को आगे बढ़ाने का सन्देश दिया।

सन् 1953 में कश्मीर विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री के.एम. पणिक्कर (1894-1963)[55] की पुस्तक ने ईसाइयों में बेचैनी उत्पन्न की जिसमें भारत में 1498 से 1945 तक ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार के साथ ईसाई मिशन की गतिविधियों का वर्णन किया। भारत सरकार के अनेक

तथाकथित बुद्धिजीवियों, सेक्युलरवादियों तथा भारतीय कम्युनिस्टों ने चुप्पी साध ली। भारतीय संसद में प्रश्न गूँजा कि 'क्या धर्मप्रचार का अधिकार भारतीय नागरिकों पर लागू होता है या भारत में रहने वाले विदेशियों पर भी?' मार्च, 1954 में इस सन्दर्भ में भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी राय भारतीय संविधान के अनुरूप दी तथा इसे मौलिक अधिकार बताते हुए कहा कि मौलिक अधिकार भारत के संविधान में प्रत्येक पर लागू होता है। भारत में रहने वाले विदेशियों पर भी।[56]

सन् 1954 में भारत के प्रधानमंत्री पं. नेहरू के काल में एक संसद-सदस्य श्री जेठालाल हरिकिशन ने भारतीय संसद में एक 'इण्डियन कन्वर्जन (रेग्यूलेशन एण्ड रजिस्ट्रेशन) बिल' रखा। इसमें संविधान सभा में की गयी गलतियों को सुधारने का प्रयत्न था। निश्चय ही यदि बिल स्वीकार हो जाता तो अल्पसंख्यकों की मनमानी से राहत मिलती। इस बिल में कन्वर्जन पर कठोर नियंत्रण की बात की गयी थी, परन्तु बिल के विरोध में तथा ईसाइयों के समर्थन में स्वयं पं. नेहरू[57] ने कहा, 'मुझे भय है कि यह बिल किसी प्रकार से, तरीकों को दबाने में कोई मदद करेंगे, बल्कि अनेक लोगों के लिए एक महान् पीड़ा का कारण हो सकता है। हमें इन बुराइयों को दूसरे ढंग से सुलझाना चाहिए। दूसरे शब्दों में न कि उस मार्ग से जो दूसरे प्रकार के दमन को प्रोत्साहन दे। ईसाइयत भारत में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचारधारा है जो लगभग 2,000 वर्षों से भारत में स्थापित है। हमें ऐसा कोई कार्य न करना चाहिए जो ईसाई दोस्तों या उसके अनुयायियों के मनों में कोई दमन या दबाव की भावना को पैदा करे।'

इसी बीच 16 अप्रैल, 1954 को मध्यप्रदेश सरकार ने ईसाइयों की गतिविधियों की जाँच-पड़ताल के लिए नागपुर उच्च न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश श्री भवानी शंकर नियोगी[58] का सात-सदस्यीय कमीशन नियुक्त किया जिसने जुलाई 1956 में 1,500 पृष्ठों की विस्तृत रिपोर्ट प्रस्तुत की। इसमें निष्कर्ष रूप में ईसाई-मिशनरियों का उद्देश्य छः लाख लोगों का कन्वर्जन बताया। इसके अलावा जनवरी, 1950 से जून, 1954 तक पाश्चात्य देशों द्वारा चर्च मिशन को 29.27 करोड़ की भारी धनराशि देने का रहस्योद्घाटन भी हुआ।[59] इस पर भी भारत के गृहविभाग के राज्यमंत्री बी.एन. दातार ने सितम्बर, 1956 में कमीशन की रिपोर्ट को संविधान में वर्णित मौलिक अधिकारों के आधार पर स्वीकार न किया।[60] साथ ही यह भी कहा, "विदेशी मिशनरियों के कार्य को नियंत्रित करने के लिए कोई कदम न उठाया जायेगा।"[61] यह भारतीय संसद की बड़ी गलती थी तथा उसने भूल-सुधार का अवसर खो दिया। सरकार का राजनीतिक स्वार्थ, देश के लिए अपने हाथ से अपने पाँव में कुल्हाड़ी मारने के समान कुकृत्य था।

सन् 1960 में श्री प्रकाशवीर शास्त्री (1923-1977) ने पं. नेहरू के काल में पुनः भारतीय संसद में एक बैकवर्ड क्रिमिनल लॉ (रिलीजस प्रोटेक्शन) बिल रखा। यह बिल अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों पर दबाव व अनुचित तरीकों द्वारा कन्वर्जन के सन्दर्भ में था। सरकार

ने 'मैं न मानूँ' की जिद बताते हुए इसे भी अस्वीकृत कर दिया। इसे 'असंवैधानिक'[62] बताते हुए केन्द्रीय मंत्री ने यह भी कहा, "वे (ईसाई मिष्ठानरी) ईसा मसीह के सन्देष्ठा को मानवता की सेवा तथा ऐसे कार्य में लगे हैं जो विष्ठव में उनकी महानतम देन थी।"[63] स्वाभाविक है कि समस्त ईसाई-मिष्ठानरियों में भविष्य के प्रति एक नव-आष्ठावाद का भाव बढ़ा। 1951-1971 में भारत ईसाई-जनसंख्या 64.9 प्रतिष्ठात बढ़ी। जबकि सामान्य वृद्धि 51.7 प्रतिष्ठात इस काल में थी।[64] कैथोलिक बिष्ठापों की एक कांफ्रेन्स में एक मिष्ठानरी ने हर्षित होते हुए कहा कि भारत में मिष्ठान प्रोग्राम का पहला भाग प्राप्त कर लिया है तथा चर्च का अगला कदम उत्तरदायित्वपूर्ण कर्तव्य अर्थात् भारतीय जनता का कन्वर्जन होगा।[65]

सन् 1979 में श्री मोरारजी देसाई की अल्पकालीन सरकार के काल में श्री ओमप्रकाष्ठा त्यागी (1912-1986) ने 'धार्मिक स्वातंत्र्य (फ्रीडम ऑफ रिलीजन) बिल' रखा। इसका सर्वाधिक विरोध 'भारत रत्न' प्राप्त मदर टेरेसा (Anjezn Gonxhe Bojaxhiu: 1910-1997) तथा उनके अनुयायियों ने किया।[66] संसद के कुछ सदस्यों तथा अल्पसंख्यक आयोग की तीव्र प्रतिक्रिया पर बिल पास न हो सका। आष्ठचर्यजनक है कि जनभावना की घोर उपेक्षा कर श्री राजीव गाँधी (1944-1991) तथा उनकी पत्नी श्रीमती सोनिया गाँधी (Edvige Antonia Albina Maino, b. 1946) ने सेक्युलरवाद की धारणा की धज्जियाँ उड़ाकर फरवरी, 1986 में रोम के पोप (Pope John Paul II: 1978-2005) का स्वागत असंवैधानिक ढंग से राजकीय सम्मान से किया तथा बाद में सोनिया-मनमोहन सिंह ने ईसाई-गतिविधियों तथा उनके कुप्रचारों तथा भ्रष्ट कन्वर्जन के तरीकों की अनदेखी कर दी।

सन् 2011 में सोनिया-मनमोहन सिंह सरकार ने अल्पसंख्यकों को लुभावने तथा आकर्षित करने तथा हिन्दू-बहुसंख्यक विरोधी एक कानून 'साम्प्रदायिक और लक्षित हिंसा विधेयक' का प्रारूप तैयार किया। कांग्रेस के प्रमुख नेताओं ने इसकी आवष्ठयकता अल्पसंख्यकों के हित में बतलायी। यह एक ऐसे कानून की योजना थी जो किसी साम्प्रदायिक हित के लिए हमेष्ठा बहुसंख्यकों या हिन्दुओं को दोषी मानकर चलेगा। इसमें किसी भी अज्ञात व्यक्ति की ष्ठिकायत पर भी कोई हिन्दू गिरफ्तार किया जा सकता था, पर ऐसी कोई ष्ठिकायत किसी अल्पसंख्यक के विरुद्ध न लागू होगी।[67] विष्ठव में अल्पसंख्यकों को खुष्ठा करने के लिए किसी देष्ठा के संविधान में यह कानून न मिलेगा। यह तो 'अन्धेर नगरी चौपट राजा' की कहावत चरितार्थ करने वाला एक हास्यास्पद उदाहरण कहा जा सकता है। सौभाग्य से यह विभेदकारी तथा विघटनकारी बिल कानून न बन सका। इससे पूर्व मई, 2014 के लोकसभा चुनाव में कांग्रेस की ष्ठार्मनाक हार हो गयी। सम्भवत: मौलिक अधिकार में वर्णित न्यनता को पुन: ठीक करने के लिए 27 जनवरी, 2015 को ष्ठिवसेना के एक सदस्य सदाष्ठिव लोखाण्डे ने एक 'धर्म-स्वातंत्र्य बिल' रखा जिसमें स्वयं इच्छा

के विपरीत जबर्दस्ती कन्वर्जन के लिए दस वर्ष के कारावास का प्रावधान किया गया है।

विचारणीय विषय है कि गत भारतीय संविधान की अगस्त, 1947 की महान् भूल को, भारतीय संसद ने 1955, 1960, 1979 तथा 2011-13 में दुहराने पर भी देष्ठा के बहुसंख्यक हिन्दू समाज की अब तक उपेक्षा क्यों की है? निष्ठचय ही यह ऐतिहासिक सत्य है कि मूलतः इस देष्ठा का डी.एन.ए. हिन्दू है। संविधान में की गयी भूल में सुधार किया जाना चाहिए। सेक्युलरिज्म, जिसकी जड़ें पहले से ही भारतीय संस्कष्ति में निहित हैं, अनावष्ठयक, भ्रमित करने वाली धारा को उद्देष्ठिका से हटाना सर्वोचित होगा। साथ ही अनुच्छेद 25 में प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता को मान्यता तथा सम्मान एवं राष्ट्रहित में जबर्दस्ती या प्रलोभन से किये गये कन्वर्जन के लिए कठोर नियम बनाने आवष्ठयक होंगे। प्यू रिसर्च सेण्टर के निष्कर्षों को राष्ट्रहित में ध्यान में रखते हुए यह आवष्ठयक होगा कि भारत में अल्पसंख्यकों को भारत की मुख्य राष्ट्रीय धारा के साथ जोड़ने के भरपूर प्रयत्न किये जायें।

सन्दर्भः

1. देवेन्द्र स्वरूप, 'भटकाव की जड़ें संविधान में ही हैं', *पाञ्चजन्य*, 17 अगस्त, 2005ण पष्ट 6-12
2. स्वप्नदास गुप्ता, 'दो ष्ठाब्दों का विवाद', *दैनिक जागरण*, 01 फरवरी, 2015
3. कांस्टीट्यूष्ठानल एसेम्बली डिबेट (आगे सी.ए.डी.) भाग 4, पष्ट 542, देखें 14 जुलाई, 1947 की कार्यवाही में श्री बालकष्ण ष्ठार्मा का वक्तव्य; श्री बी.आर. अहलूवालिया के विचार, भाग 7, 04 नवम्बर, 1948, पष्ट 39
4. कैबिनेट मिष्ठान योजना की घोषणा तथा लॉर्ड वेवेल की घोषणा के लिए देखें: मेन्सर एवं निकोलसन (सं.) कांस्टीट्यूष्ठानल रिलेष्ठान्स बिटविन ब्रिटेन एण्ड इण्डियाः द ट्रांस्फर ऑफ पावर 1942-1947, भाग 7 (नयी दिल्ली, 1978), डॉक्यूमेंट नं. 305, पष्ट 582-91; वाल्मीकि चौधरी (सं.) डॉ. राजेन्द्र प्रसाद पेपर्स, भाग 4
5. सतीष्ठा चन्द्र मित्तल, 'पंजाबी विस्थापितों का हरियाणा में आगमन', *हरियाणा एनसाइक्लोपीडिया*, इतिहास खण्ड, भाग 2 (नयी दिल्ली, 2010), पष्ट 493
6. सी.ए.डी., भाग 11, पष्ट 987, विस्तार के लिए देखें- सतीष्ठा चन्द्र मित्तल, 'भारतीय संविधान की प्रासंगिकता एवं अपेक्षित परिवर्तन', *इतिहास दर्पण*, अंक भाग XIX, नयी दिल्ली, 2014
7. दत्तोपंत ठेंगड़ी, डॉ. अम्बेडकर और सामाजिक क्रान्ति की यात्रा (मई, 2006), पष्ट 55
8. मोहनदास करमचन्द गाँधी, *हिंद स्वराज* (मूल रूप से 1909 में प्रकाष्ठित)
9. *हरिजन*, 15 फरवरी, 1948
10. सतीष्ठा चन्द्र मित्तल, 'जहाँ के तहाँ हैं गाँव और गाँववासी', *पाञ्चजन्य*, 23 जून, 2013
11. राज्यसभा की कार्यवाही, 02 सितम्बर, 1953
12. वही, 19 मार्च, 1955

13. सी.ए.डी. भाग 7, 04 नवम्बर, 1948
14. *द ट्रिब्यून*, 15 अगस्त, 1966
15. कस्तूर चन्द लालवाणी, *इण्डिया स्ट्रगल एण्ड कांस्टीट्यूष्ठान* (कलकत्ता, 1950)
16. रामनारायण, *फ्रीडम ऑफ इण्डिया: ए हॉक्स* (दिल्ली, 1970), पष्ट88, देखें- बम्बई का प्रस्ताव, 28 जनवरी, 1950
17. सी.ए.डी., भाग 11, 24 नवम्बर, 1949 (डॉ. राजेन्द्र प्रसाद का वक्तव्य)
18. वही, भाग 11, 17 नवम्बर, 1949, पष्ट616-617
19. वही, भाग 7, 05 नवम्बर, 1948, पष्ट218
20. सी.ए.डी. भाग 7, 06 नवम्बर, 1948, पष्ट257
21. *जनसत्ता*, जनवरी, 1987
22. भामिनी सेन गुप्ता, 'इट्स टाइम्स फॉर ए न्यू रिपब्लिक', *द हिन्दुस्तान टाइम्स*, 04 मार्च, 1996
23. *कांस्टीट्यूष्ठानल डेवलपमेंट इन द कॉमनवेल्थ*, भाग 1, मेम्बर कंट्रीज, 1955, पष्ठ1
24. माइकेल ब्रीचर, *नेहरू : ए पॉलिटिकल बायोग्रॉफी* (1959), पष्ट491
25. सर थियोडोर एल. ष्ठो, *द लीगेसी ऑफ लोकमान्य बालगंगाधर तिलक*
26. जॉर्ज जैकब होलीओक, *द ओरिजिन एण्ड नेचर ऑफ सेक्युलरिज्म* (लन्दन, 1896), पष्ट51
27. मुष्ठिारुल हसन, *विल सेक्युलर इण्डिया सर्वाइव?*
28. स्वप्न दासगुप्ता, पूर्वोद्धष्ठ
29. सूर्यकान्त बाली, 'हम तो सहिष्णुता के जगद्गुरु हैं', *पाञ्चजन्य*, 08 फरवरी, 2015
30. *अमेरिकन हैरीटेज डिक्ष्ठानरी*
31. डेविड होरोविट्स, *अनहोली एलायंस: रेडिकल इस्लाम एण्ड अमेरिकन लैफ्ट* (2011)
32. रिचर्ड डॉकिन्स, *द गॉड डिलुजन* (ग्रेट ब्रिटेन, 2007), पष्ट60
33. रिचर्ड डॉकिन्स, पूर्वोद्धष्ठ, पष्ट67
34. जॉर्ज जैकब होलीओक, पूर्वोद्धष्ठ, पष्ट51; न्यू वैबर्स डिक्ष्ठानरी, भाग 2 (यू.एस.ए., 1992 संस्करण), पष्ट373
35. डॉ. आर. ष्ठार्मा ष्ठास्त्री, *कौटिल्य अर्थष्ठास्त्र* (आठवाँ संस्करण), पष्ट39
36. *मनुस्मष्ठि*, 9.311
37. सर्वपल्ली राधाकष्णन, *रिकवरी ऑफ फेथ*
38. पी.बी. राजेन्द्र गड़कर, *द कान्स्टीट्यूष्ठान ऑफ इण्डिया: इट्स फिलोसॉफी एण्ड बेसिक पॉसटुलेट्स* (ऑक्सफोर्ड, 1969), पष्ट40
39. मोहनदास करमचन्द गाँधी, सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, खण्ड 23, पष्ट516-18, 24 अप्रैल 1924; वही, भाग 27, पष्ट 170-71 (20 अक्टूबर 1927)
40. मैक्स वेबर, *द रिलीजन ऑफ इण्डिया* (अनु.) एच.एच. गार्ले, 1958, पष्ट21
41. ए.के.वार्डर, *एन इन्ट्रोडक्ष्ठान टू इण्डियन हिस्टोरियाग्राफी* (बम्बई, 1972), पष्ट4

42. जवाहरलाल नेहरू, गिल्म्पसेज ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री, पृष्ठ 37, 84-95, 131, 503; सतीष्ठा चन्द्र मित्तल, 'हिन्दुत्व और पं. जवाहरलाल नेहरू', *पाञ्चजन्य*, 09 फरवरी, 2014
43. 'सेविंग्स ऑफ नेहरू', द हिन्दुस्तान टाइम्स, 27 मई, 1965
44. जवाहरलाल नेहरू, *द डिस्कवरी ऑफ इण्डिया*, पृष्ठ 15-16
45. रिचर्ड डॉकिन्स, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 67
46. सी.ए.डी. की कार्यवाही के विभिन्न भाग
47. प्रो. के.टी. ष्ठाह का वक्तव्य, सी.ए.डी. भाग 7, 15 नवम्बर, 1949, पृष्ठ 399
48. श्री लोकनाथ मिश्र का सी.ए.डी. भाग 7, 06 दिसम्बर, 1948, पृष्ठ 823
49. गिरिलाल जैन, नकली सेक्युलरिज्म बनाम राष्ट्रीयता (नयी दिल्ली, 1991), पृष्ठ 23-24, 29
50. *पार्लियामेण्टरी डिबेट*, खण्ड 2, भाग 2, पृष्ठ 2466
51. *दैनिक जागरण*, 29 जनवरी, 2015
52. प्यू रिसर्च सेण्टर की प्रकाष्ठित रिपोर्ट, 02 अप्रैल, 2015, उद्धृत *द टाइम्स ऑफ इण्डिया*, 04 अप्रैल, 2015
53. सी.ए.डी. की कार्यवाही, सतीष्ठा चन्द्र मित्तल, 'कन्वर्जन पर सेक्युलर चुप्पी', *पाञ्चजन्य*, 01 मार्च, 2015
54. फेलिक्स अल्फ्रेड प्लैटनर, *द कैथोलिक चर्च इन इण्डिया: येसटर्डे एण्ड टुडे* (इलाहाबाद, 1964), पृष्ठ 6
55. के.एम. पणिक्कर, एष्ठिया एण्ड वेस्टर्न डोमिनियन्स (लन्दन, 1953), पृष्ठ 481
56. सीताराम गोयल, *हिस्ट्री ऑफ हिन्दू-क्रिष्ठिचयन इनकाउन्टर्स: ए.डी. 304 टू 1996* (नयी दिल्ली, 1986), पृष्ठ 297; प्लैटनर, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 6-7
57. प्लैटनर, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 6-7
58. *रिपोर्ट ऑफ द क्रिष्ठिचयन मिष्ठानरी एक्टीविटीज इन्क्वायरी कमेटी मध्यप्रदेष्ठ* (नियोगी कमेटी रिपोर्ट)(2 भाग), नागपुर, 1956; *डॉ. हरवंष्ठलाल ओबराय समग्र*, भाग 1, पृष्ठ 76
59. सीताराम गोयल, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 307
60. सीताराम गोयल, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 316
61. सीताराम गोयल, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 316; प्लैटनर, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 11
62. सीताराम गोयल, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 316; प्लैटनर, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 7
63. सीताराम गोयल, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 317; प्लैटनर, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 7-8
64. सीताराम गोयल, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 317; प्लैटनर, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 7-8
65. प्लैटनर, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 134
66. *डॉ. हरवंष्ठलाल ओबराय समग्र*, भाग 1 (बीकानेर, 2010), पृष्ठ 95
67. एस. ष्ठांकर, 'न्याय का भयंकर मजाक', *दैनिक जागरण*, 26 अक्टूबर, 2013

卐

भारत-नेपाल के प्राचीन सम्बन्ध

ठाकुर प्रसाद वर्मा*

भारत और नेपाल सम्बन्ध

आज भारत और नेपाल दो सर्व-सत्ता सम्पन्न सम्प्रभु राष्ट्र हैं। दोनों की अपनी सुनिष्ठिचत भौगोलिक सीमाएँ हैं और स्वायत्तष्ठासी सरकारें हैं। दोनों ही दक्षेस के सदस्य हैं। अत: इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध इस क्षेत्र की ष्ठान्ति, समष्ठद्धि तथा विकास को प्रभावित करते हैं। इसके अतिरिक्त दोनों देष्ठा ष्ठाताब्दियों नहीं सहस्राब्दियों से एक ऐसे सांस्कष्ठतिक सम्बन्ध से जुड़े हुए हैं जो इन दोनों के पारिवारिक भ्रातष्ठत्व की भावना का द्योतक है। हमारा यह सम्बन्ध बड़े भाई और छोटे भाई का नहीं है वरन् बिरादरी का है जिसमें सभी सामाजिक सम्बन्ध केवल समानता पर आधारित होते हैं और उन्हीं नियमों से संचालित होते हैं। इसका जीता जागता प्रमाण यह है कि जब कभी नेपाल में कोई राजनीतिक दमनचक्र चलता है तब वहाँ के क्रान्तिकारी नि:संकोच भारत में आकर रहते हैं और अपनी गतिविधियाँ चलाते हैं तो दूसरी ओर भारत के क्रान्तिकारी वहाँ चले जाते हैं। इसके अतिरिक्त अनेक प्रसिद्ध नेपाली परिवारों के लोगों ने भारत में ष्ठिक्षा प्राप्त की है और अपने देष्ठा में ऊँचे पदों पर प्रतिष्ठिठत हुए हैं। नेपाल की आबादी का एक बड़ा भाग भारत में रहकर अपनी जीविका अर्जित करता है। यह उस भाई-चारे का प्रतीक है जो सहस्राब्दियों से चला आ रहा है।

अत: जब हम अपने प्राचीन इतिहास की ओर दष्ठष्टि डालते हैं तो यह द्वित्व समाप्त हो जाता है। दोनों जगह एक ही समाज दिखाई पड़ता है जिसमें आज की राजनीतिक सीमाएँ लुप्त हो जाती हैं और एक अखण्ड भारतमाता (या नेपालमाता) ही दिखाई पड़ने लगती है। आज का नेपाल गोरखा राजा पष्ठथ्वी नारायण ष्ठाह की रचना है और यदि 1814 से 1816 का ऐंग्लो-नेपाल युद्ध न हुआ होता तो आज नेपाल की सीमाएँ कुछ और ही होतीं। 1816 की सिगौली की सन्धि में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने नेपाल अधिराज्य की बाहें मरोड़कर उसकी एक तिहाई भूमि अपने कब्जे में ले ली थी।

सांस्कष्ठतिक भारत और राजनीतिक भारत

जब हम भारत और उसके इतिहास की बात करते हैं तो हमारे सामने भारत के दो चित्र

*397-अ, गंगा प्रदूषण नियंत्रण मार्ग, भगवानपुर, वाराणसी-221 005

उभरते हैं: एक तो वह सांस्कृतिक भारत है जो आज के उत्तरी अफगानिस्तान की वंक्षु नदी की घाटी, जिसे बल्ख या बाहलीक कहा जाता है, से लेकर दक्षिण में सेतुबन्ध रामेश्वरम् तक विस्तृत था तो दूसरा राजनीतिक भारत है जिसकी सीमाएँ इतिहास के साथ बदलती रही हैं। आज उस सांस्कृतिक भारत में, यदि अफगानिस्तान को जोड़ लें तो, राजनीतिक दृष्टि से सार्क या दक्षेस की कल्पना पूरी हो जाती है जिसे प्राचीन काल में जम्बुद्वीप कहा जाता था। अशोक ने, जिसके साम्राज्य में यवन तथा कम्बोज शामिल थे, अपने शिलालेखों में भी इसी नाम का प्रयोग किया है।

इस देश के भारत नाम पड़ने का भी एक इतिहास है। पुराणों में जम्बुद्वीप के नौ खण्ड बताये गये हैं जिसके मध्य में मेरु (पामीर पर्वत के पठार) पर स्थित इलावृतवर्ष कहा गया है जिसके उत्तर में रम्यकवर्ष, हिरण्मयवर्ष तथा उत्तरकुरुवर्ष, जो आज के सोवियत रूस में स्थित है, कुल मिलाकर तीन खण्ड थे। दक्षिण में क्रमशः भारतवर्ष, किम्पुरुवर्ष तथा हरिवर्ष कहे गये हैं। किसी समय यह भारतवर्ष भरतों का देश था जो हिन्दुकुश पर्वत क्षेत्र में था। बाद में जब संस्कृति का गुरुत्व केन्द्र सरस्वती नदी की घाटी में, जिसे कुरुक्षेत्र या कुरुदेश कहा जाता था, आ गया था क्योंकि भरतजन यहाँ आकर बस गये थे। इसे ही विश्वामित्र ने ऋग्वेद में 'भारतम् जनम्' कहा है। वैदिक जनों के इस स्थल परिवर्तन का एक सुसम्बद्ध और सुलिखित इतिहास है। यह सैन्धव-सारस्वत सभ्यता को गांगेय सभ्यता से जोड़ता है।

अट्ठाइसवें द्वापर के अन्त अथवा कलियुग के ठीक पहले भरतजनों के परिवार में उत्तराधिकार का युद्ध हुआ जिसमें अफगानिस्तान से लेकर असम तक तथा दक्षिण में पाण्ड्य तक के राजाओं ने भाग लिया था। व्यासजी ने इस युद्ध को 'महाभारत' नाम देकर इसी नाम का एक महाकाव्य लिखा जो हमारे देश का राष्ट्रीय इतिहास ग्रन्थ है। इस प्रकार महाभारत या विशाल भारत का ही संक्षिप्त नाम 'भारत' प्रसिद्ध हो गया जिसकी सीमाएँ सुनिश्चित हैं। यही वह आदर्श चक्रवर्ती क्षेत्र है जिस पर शासन करने की लालसा सभी भारतीय राजनेताओं के मन में बनी रही।

कालिदास ने जब दिलीप के उत्तरकुरु तक जीतने की बात कही तब वे इसी चक्रवर्ती क्षेत्र की अवधारणा को व्यक्त कर रहे थे।

चन्द्रगुप्त मौर्य ने जब सिकन्दर को हरा कर भारतीय यवनों का बाहलीक तक का क्षेत्र अपने साम्राज्य में मिला लिया तब वे इसी चक्रवर्ती क्षेत्र की अवधारणा पर चल रहे थे। उन्होंने काबुल के निकट सेना का एक स्कन्धावार स्थापित किया था जिसे आजकल कन्दहार कहा जाता है। लेकिन हमारे इतिहासकार इसे गंधार से जोड़कर देखने लग गये तथा कन्दहार कन्धार बन गया। यह गंधार प्रान्त से बाहर था।

चन्द्रगुप्त मौर्य के पुत्र अशोक ने अपने शिलालेखों में इसे जम्बुद्वीप का नाम दिया जिसमें

उत्तर में यवन काम्बोज से लेकर दक्षिण में चोल-पाण्ड्य तक के राजाओं को अपनी प्रजा बतलाया है।

मेहरौली के लौह-स्तम्भ पर उत्कीर्ण अपने लेख में गुप्त वंष्ठा के द्वितीय चन्द्रगुप्त जब सिन्धु के सात मुखों को पार करके बाहलीक जीतने का दावा करते हैं तब वे भी इसी चक्रवर्ती अवधारणा की अभिव्यक्ति कर रहे होते हैं। इसकी अभिव्यक्ति ग्यारहवीं ष्ठाताब्दी तक के अभिलेखों में देखने को मिलती है।

परमार राजा लक्ष्मवर्मन (1087-97 ई.) अपने नागपुर-प्रष्ठास्ति में यह दावा करते हैं कि उन्होंने पूरब में गौड-अंग-कलिंग के राजाओं, दक्षिण में ताम्रपर्णी नदी और सेतुबन्ध रामेष्ठवर तक चोल तथा पाण्ड्य राजाओं और उत्तर में वंक्षु नदी के किनारे तुरुष्कों को हराया तब वे भी इसी चक्रवर्ती महत्त्वाकांक्षा की अभिव्यक्ति कर रहे थे। यह अलग बात है कि ये दावे काव्यात्मक प्रष्ठास्ति मात्र रहे हो सकते हैं।

इस प्रकार दक्षिण में सेतुबन्ध से लेकर उत्तर में बाहलीक तक का क्षेत्र भारतीय जनमानस में एक सांस्कष्तिक इकाई बना रहा। पिछली दस पीढ़ियों से हमसे इस तथ्य को छिपाया गया और हमें यही बताया जाता रहा है कि भारतवर्ष उतना ही था जितना कि अंग्रेज बहादुर ने जीता था। हमें यही पढ़ाया जाता रहा है कि हमारा इतिहास पराजितों तथा गुलामों का इतिहास था।

अब एक अन्य साहित्यिक सूचना की ओर आपका ध्यान आकष्ट करना चाहेंगे जिसके बारे में बहुत कम जानकारी है: स्कन्दपुराण में भारतवर्ष के नौखण्ड तथा बहत्तर विभेद बताये गये हैं। पूरे देष्ठा में ग्रामों की संख्या 96 करोड़ 72 लाख बतायी गयी है। डॉ. दिनेष्ठाचन्द्र सरकार ने इनमें से 25 क्षेत्रों के नाम तथा ग्रामों की संख्या का उल्लेख किया है जिसमें नेपाल (एक लाख गाँव) से ष्ठारू होता है तथा यवन (10 हजार गाँव) पर समाप्त होता है। बीच में काम्बोज (10 लाख गाँव) का नाम भी है। डॉ. दिनेष्ठाचन्द्र सरकार के अनुसार ये संख्याएँ काल्पनिक हो सकती हैं लेकिन यवन और काम्बोज के साथ नेपाल का भी नाम यही सिद्ध करता है कि सांस्कष्तिक भारतवर्ष के अन्तर्गत नेपाल सहित अफगानिस्तान का क्षेत्र ष्ठामिल माना जाता था।

इस प्रकार की गणनाओं को काल्पनिक नहीं माना जा सकता क्योंकि खोतान के राजा विष्ठा धर्म अपने एक खरोष्ठी लेख में यह दावा करते हैं- "इस जम्बुद्वीप में सोलह जनपद हैं और कुल मिलाकर छियासी हजार नगर हैं(Bailey: 1966-68,15)।" लगता है कि इस जम्बुद्वीप में दक्षिण एष्ठिया के भारत और पाकिस्तान भी ष्ठामिल थे। यह निष्कर्ष इसलिए है कि इसी वंष्ठा के एक अन्य राजा विष्ठा सूर, अपने एक खरोष्ठी लेख में स्वयं को 'हेदव चक्रवत्तर्रद विष्ठा ष्ठूर' अर्थात् 'हिन्द चक्रवर्ती राजा विष्ठा सूर' कहते हैं(Bailey: 2009, 5)। यह 'हिन्द' भारत या हिन्दुस्तान नहीं वरन्

मध्य एष्ठाया का क्षेत्र था जिसे अवेस्ता में भी 'हिन्द' कहा गया है। यह पूरा क्षेत्र कम से कम ग्यारहवीं ष्ठाताब्दी तक सांस्कष्ठतिक भारत का अंग था।

इसी प्रकार नेपाल भी सांस्कष्ठतिक भारत का अंग है और जो सम्बन्ध अंग का अंगी से होता है वही सम्बन्ध नेपाल और भारत में मानना चाहिए। यह सम्बन्ध धर्म का है, समाज का है, धार्मिक साहित्य का है और संस्कष्ठति का है। यह सम्बन्ध रक्त का है और इतना पुराना है कि उसकी तिथि का निर्धारण सम्भव ही नहीं है। हम दोनों के पूर्वज एक हैं, इतिहास एक है, धर्म ग्रन्थ एक हैं और और हमारा भूत भी एक है तथा भविष्य भी एक दूसरे के साथ बँधा हुआ है।। यह सांस्कष्ठतिक एकता ही हमारी ष्ठाक्ति का स्रोत है जो निष्ठा-दिन हमें प्रेरणा देता रहता है। इस पष्ठष्ठभूमि में जब हम अपने अपने पूर्व के इतिहास पर दष्ठष्टि डालते हैं तो हमें यही दिखाई पड़ता है कि लगभग तीन ष्ठाताब्दी पहले नेपाल भी सांस्कष्ठतिक रूप से वैसा ही था जैसा कि इस समय अंग, बंग, कलिंग, मिथिला, अवध तथा पंचनद देष्ठा हैं।

नेपाल ष्ठाब्द की व्युत्पत्ति

विकीपीडिया ने नेपाल ष्ठाब्द की व्युत्पत्ति पर कुछ सुझाव दिये हैं जो मुख्यतया अनुमानात्मक हैं।

1. संस्कष्ठत ष्ठाब्द *निपालय* का अर्थ होता है 'पर्वतों के चरणों पर' अथवा 'चरणों पर निवास'। अत: नेपाल ष्ठाब्द इसी से निकला हो सकता है।
2. तिब्बती ष्ठाब्द *नियंपल* का अर्थ होता है 'पवित्र भूमि'। नेपाल इससे निकला हो सकता है।
3. नेप नाम के एक जन आधुनिक भारत के गंगा की घाटी से नेपाल आये जो गोपालन करते थे। इन दो ष्ठाब्दों के सम्मिलन से नेपाल ष्ठाब्द की उत्पत्ति हो सकती है।
4. उत्तरी नेपाल के कुछ निवासी तिब्बत से नेपाल में आये थे जो ऊन पैदा करते थे। तिब्बती भाषा में 'ने' का अर्थ 'ऊन' होता है तथा 'पा' का अर्थ 'घर' होता है अत: नेपाल का अर्थ ऊन का घर हो सकता है।
5. नेवार जन जो काठमाण्डू घाटी में रहते हैं 'नेप' को मध्यदेष्ठा के अर्थ में प्रयोग करते हैं अत: वे काठमाण्डू घाटी के लिए नेपाल ष्ठाब्द का प्रयोग करते हो सकते हैं।
6. एक लोकप्रिय सिद्धान्त यह है कि नेपाल के लेप्चा जन की भाषा में 'ने' का अर्थ 'पवित्र' तथा 'पाल' का अर्थ 'गुहा' होता है अत: नेपाल का अर्थ पवित्र गुफा हो सकता है।
7. बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार देवी मंजुश्री ने नागदह (एक मिथिकल सरोवर जो काठमाण्डू घाटी में बना हुआ था) को सुखा दिया था। अत: घाटी रहने लायक हो गयी थी जिसका प्रथम ष्ठासक भुक्तिमान नामक ग्वाला था। उसने 'ने' नामक एक सन्त की सलाह ली थी। इस प्रकार नेपाली

विद्वान् ऋषीकेष्ठा साहा के अनुसार नेपाल का अर्थ पालन करना होता है।

लेकिन ये सभी सुझाव अनुमानात्मक हैं अत: अधिक विष्ठवसनीय नहीं लगते।

'नेपाल निरुक्त' के लेखक ज्ञानमणि नेपाल ने नेपाल ष्ठाब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए कहा है कि मूल ष्ठाब्द 'निप' है जिससे नेपाल ष्ठाब्द बना है। उनके अनुसार 'निप' ष्ठाब्द ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में मिलता है जिसका अर्थ महीधर ने घाटी या पर्वत बताया है। इससे दो ष्ठाब्द बनत हैं 'निप' और 'नेप'। नेप के दो अर्थ कहे गये हैं- पुरोहित तथा जल। उन्होंने निप जनपद का उल्लेख किया है तथा नेपाल की व्युत्पत्ति निप से बताया है। जो भी हो वराह मिहिर ने निप जनपद को मध्यदेष्ठा में बताया है। लेकिन यदि 'नेप' ष्ठाब्द की मानें और जल के अर्थ में स्वीकार करें तो इसे काठमाण्डू घाटी से जोड़कर देख सकते हैं जो पहले जल से भरी हुई थी और उसके निकल जाने के बाद मानव के आवास के योग्य बन सकी।

संस्कष्ठ साहित्य में नेपाल के उल्लेख

संस्कष्ठ साहित्य में नेपाल सम्बन्धी अनेक उद्धरण मिलते हैं जिनमें से कुछ यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

एक पुस्तक में हिमालय के पाँच खण्ड बताये गये हैं-

खण्डा: पञ्च हिमालयस्य कथिता नेपाल कूर्माचलो।

केदारोऽथ जलन्धरोऽथ रुचिर: कष्ठमीर संज्ञोन्तिम:।।

आर्यमंजश्रीमूलकल्प में हिमालय में स्थित नेपाल मण्डल का उल्लेख मिलता है-

भविष्यति तदा काले उत्तरं दिष्ठामाश्रित:।

नेपाल मण्डल ख्याते हिमाद्रे कुक्षिमाश्रिते।।

अथर्वपरिष्ठिष्ट के कूर्म विभाग में असम से पंजाब तक के इन क्षेत्रों का उल्लेख मिलता है-

नेपालं कामरूपं च विदेहोदुम्बरं तथाऽवन्तय: केकयष्ठच उत्तरा पूरवे हितो हन्यत्।

कौटिल्य ने अपने अर्थष्ठास्त्र में नेपाल की इन वस्तुओं का उल्लेख किया है-

अष्टालोतिसंघात्या कष्ठ्णाभिङ्गिःसी वर्षवारणमपासारक इति नेपालकम्।

क्षेमेन्द्र कष्ठ बष्ठत्कथामंजरी के 'बेताल पंचविंष्ठातिका' की कथा में नेपाल को विषय कहा गया है और वहाँ की एक राजकन्या का उल्लेख इस प्रकार आया है-

नेपाल विषये श्रीमन् यष्ठा:केतुरभूनष्ठ:।

पुत्री ष्ठाष्ठिप्रभा नाम तस्याभूदभूषणं रते।।

श्रीहर्षकष्ठ 'नैषधीय चरित' में नेपाल का उल्लेख इस प्रकार आया है-

भवन्तु तावत्तव लोचनाञ्चला। निपेय नेपाल नष्ठालय:।।

समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रष्ठास्ति में गुप्त साम्राज्य के नेपाल आदि सीमावर्ती राजाओं के उल्लेख इस प्रकार किये गये हैं-

समतट-डवाक-कामरूप-नेपाल-कर्तष्ठुरादि प्रत्यन्त नष्ठतिभि:।

नेपाल की सीमा

'नेपाल माहात्म्य' (15.3.4) में बष्ठत्तर नेपाल की सीमा इस प्रकार दी गयी है-

पूर्वस्यां कौष्ठिकी पुण्या सर्वपाप नाष्ठिनी।

गङ्गात्रिष्ठूलगङ्गाख्यां प्रतीच्यां दिष्ठि संस्थिता।।

उत्तरस्यां दिष्ठि तथा सोमा ष्ठिवपुरीमता।

नदी पवित्रा ष्ठीतलोदका दक्षिणस्यां दिष्ठि तथा।।

एतन्मध्ये महापुण्यं नेपाल क्षेत्रमुत्तमम्।।

नेपाल के ष्ठाक्ति वल्लभ अर्जेल ने 'जयरत्नाकरनाटक' नामक एक नाटक लिखा है जिसमें उन्होंने नेपाल की दो सीमाओं का उल्लेख किया है। एक बष्ठत्तर नेपाल तथा दूसरा संक्षिप्त नेपाल।

बष्ठत्तर नेपाल की सीमाएँ इस प्रकार दी गयी हैं-

यत्रोच्चै: सप्तधारा हिमगिरि कुहरात् कौष्ठिकीनां वहन्ति।

यत्रोच्चै: सप्तधारा हिमगिरि कुहरात् गण्डकीनां वहन्ति।।

पार्वत्या स्वेदभूता मुनिगण निवहै: सेव्यमानां समन्तात्।

यत्रास्ते नीलकण्ठो जगति सुविदित: सैष नेपाल देष्ठा:।।

उन्होंने नेपाल की संक्षिप्त सीमाएँ इस प्रकार दी हैं-

यत्रास्ते गुह्यकाली गिरिवर तनया वाग्वती यत्र पुण्या।

प्रत्यक्षं यत्र लिङ्गम् वरद् पष्ठुपतेष्ठचांगुनारायणोऽपि।

यत्रास्ते वज्रयोगिन्यखिलभयहरा भैरव पञ्चलिङ्ग।

तस्मिन्नेपाल देष्ठो जयति रणबहादुर राजाधिराजः।।

स्पष्टतः नेपाल का यह विवरण काठमाण्डू घाटी का है।

हिमवत्खण्ड में नेपाल की सीमा इस प्रकार बतायी गयी है–

गण्डकी कौष्ठिकी चैव तयोर्मध्ये वरस्थलम्।

नीलकण्ठतरे ष्ठौचं तयो प्रनस्था विधम्।

नेपाल इति विख्यातं देवक्षेत्र सुखप्रदम्।।

यह सीमा भी बष्ठत्तर नेपाल को ही रेखांकित करती है।

आधुनिक लेखकों के अनुसार भौगोलिक सीमा

डॉ. दिल्ली रमण रेग्मी का यह कहना भी सही है कि किसी समय 'नेपाल राज्य काठमाण्डू की घाटी और आसपास तक ही सीमित था और उसे ही नेपाल कहा जाता था।' वे यह भी कहते हैं कि नेपाल बूढ़ी गण्डक तथा सुनकोसी तथा उसके कुछ आगे तक फैला था। वास्तविक रेखा का निर्माण पष्ठिचम में गण्डक तथा पूरब में सुनकोसी तथा रोसी नदियाँ करती थीं। उत्तर में पर्वत को ही सीमा मान सकते हैं लेकिन दक्षिण में कोई सीमारेखा नहीं खींची जा सकती।

स्मिथ और कनिंघम ने भी घाटी को ही नेपाल माना है जिसमें तीन नगर थे– भातगांव या भक्तपुर, पाटन तथा काठमाण्डू। मध्यकाल के भक्तपुर तथा काठमाण्डू में ष्ठासन करने वाले मल्ल राजा अपने को 'नेपाल चक्रवर्ती' कहा करते थे। यहाँ तक कि आधुनिक नेपाल के निर्माता पष्ठृवी नारायण ष्ठाह ने भी भक्तपुर, काठमाण्डू तथा पाटन को ही नेपाल माना है। भक्तपुर अथवा भातगांव ष्ठाब्द की व्युत्पत्ति 'भुक्ति' से हुई हो सकती है जिसका अर्थ डॉ. दिनेष्ठा चन्द्र सरकार ने 'जागीर' माना है।

अतः यह कहना अनुचित नहीं होगा कि नेपाल के लिच्छवियों के प्रथम राजा मानदेव पहले काठमाण्डू घाटी के राजा रहे होंगे और बाद में अपनी ष्ठाक्ति बढ़ाते हुए आसपास के क्षेत्रां में राज्य का विस्तार किया था। जैसा कि हम आगे देखेंगे लिच्छवि राजाओं ने भी अपने अभिलेखों में नेपाल को मण्डल और भुक्ति कहा है जिसका अर्थ अधीनस्थ राजा ही होता है।

लिच्छवि अभिलेखों में नेपाल का उल्लेख

छठवीं–सातवीं ष्ठताब्दी ईस्वी से नेपाल के लिच्छवि अभिलेखों में भी नेपाल के उल्लेख मिलते हैं।

नेपाल का सबसे पहला उल्लेख वसन्तदेव के तिस्तुंग अभिलेख में मिलता है जिसकी तिथि ष्ठाक सं. 434 (512 ई.) दी गयी है। यह अभिलेख '*स्वस्ति नेपालेभ्यः*' से प्रारम्भ होता है। इसी क्षेत्र से दो और अभिलेख भी मिले हैं और वे भी इन्हीं ष्ठाब्दों से प्रारम्भ होते हैं। ये दोनों ही अंष्ठुवर्मा के हैं तथा नये प्रारम्भ किये गये संवत् 30 (606 ई.) में तिथ्यांकित हैं। '*स्वस्ति नेपालेभ्यः*' का अर्थ हमने 'नेपालीजनों का कल्याण हो' किया है जो नेपाली राष्ट्रीयता के उदय का द्योतक है।

इन तीन अभिलेखों के अतिरिक्त भीमार्जुनदेव के वर्ष 64 के यंगालहिटी लेख में भी नेपाल ष्ठाब्द आता है। भंष्ठारेष्ठवर अभिलेख में तो जिष्णुगुप्त ने नेपाल के भावी राजाओं को सम्बोधित करते हुए कहा है।

इसके अतिरिक्त नरेन्द्रदेव के अनन्तलिंगेष्ठवर अभिलेख में तथा उनके उत्तराधिकारी ष्ठिवदेव द्वितीय के भंष्ठारेष्ठवर अभिलेखों में नेपाल के सभी कर्मचारियों तथा सेवकों को सम्बोधित करते हुए दान की चर्चा की गयी है। ष्ठिवदेव के उत्तराधिकारी जयदेव ने तो नेपाल को 'नेपाल मण्डल' की संज्ञा से अभिहित किया है तो कुछ अन्य राजाओं ने उसे 'भुक्ति' कहा है। भुक्ति का अर्थ प्रायः अधीनस्थ राजा या जागीरदार का क्षेत्र माना जाता है। कभी-कभी राजा की स्वयं की भुक्ति होती थी जिसमें वह अपने कर्मचारियों की नियुक्ति करके कर वसूली करवाता था। नेपाल के लिच्छवि राजा किसके अधीनस्थ (कर) भोगी रहे होंगे इसकी चर्चा आगे की जायेगी।

नेपाल राज्य का भौगोलिक विस्तार

नेपाल के कुछ इतिहासकारों का यह विष्ठवास है कि प्राचीन काल में भी नेपाल का राज्य उतना ही विस्तार्ष्ठ रहा होगा जितना कि आज है। लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि वर्तमान नेपाल की सीमाएँ 1816 की अपमानजनक सन्धि के बाद अंग्रेजों द्वारा निर्धारित की गयी थी और नेपाल को अपने कई जीते हुए क्षेत्र छोड़कर ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सौंपने पड़े थे।

उनका एक तर्क यह भी है कि समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रष्ठास्ति में जिन सीमावर्ती राज्यों के नाम दिये गये हैं वे सभी नेपाल में ष्ठामिल रहे होंगे। लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि उसमें नेपाल को कामरूप तथा कर्तष्ठुर के बीच में रखा गया है। इसके साथ ही समुद्रगुप्त के इस लेख में नामों की गणना करते हुए 'कर्तष्ठुरादि' कहा गया है जिससे यह स्पष्ट है कुछ नाम नहीं लिये गये हैं। ये सभी अलग-अलग राज्य-क्षेत्र रहे हो सकते हैं। इससे नेपाल की सीमा सुनिष्ठिचत नहीं की जा सकती।

नेपाल का इतिहास ष्ठोष भारत के साथ

जब मैं 'नेपाल के लिच्छवि अभिलेखों का कार्पस' तैयार कर रहा था (दिल्ली, 1994), अथवा इ.एच. वाल्ष्ठा (E.H. Walsh) के क्वायनेज ऑफ नेपाल (Coinage of Nepal) के द्वितीय

संस्करण की भूमिका लिख रहा था (दिल्ली, 1973) या प्रो. लल्लनजी गोपाल के साथ स्टडीज इन द हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ नेपाल (Studies in the History and Culture of Nepal) (वाराणसी, 1977) लिखा था उस समय तक मौखरियों के इतिहास की ओर हमारा ध्यान नहीं गया था। अब मैं सोचता हूँ कि नेपाल का प्राचीन इतिहास भारत के इतिहास से उसी प्रकार संलग्न है जिस प्रकार बिहार, बंगाल, उत्तरप्रदेष्ठा और पंजाब आदि के इतिहास एक दूसरे से गुँथे हुए हैं। इनको अलग करके नहीं देखा जाना चाहिए। आज नेपाल एक स्वायत्तष्ठासी राष्ट्र है और इतिहासकारों ने इसी रूप में उसके इतिहास को देखने तथा लिखने का प्रयास किया है जो ठीक नहीं लगता।

हम देखते हैं कि अष्ठोक के समय या उसके भी पहले से ही नेपाल भारतीय इतिहास का उसी प्रकार एक अभिन्न अंग रहा है जैसे महाभारत काल तक या उसके बाद के काल तक भी बाहलीक और काम्बोज का इतिहास, जो आज अफगानिस्तान के भाग हैं, भारतीय इतिहास का अंग रहा है जिसको अभी तक लिखा ही नहीं गया क्योंकि अंग्रेज बहादुर के राज्य में इस प्रकार के कार्य को हतोत्साहित किया जाता रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी हमारे पाठ्यक्रम को बदला नहीं गया।

इस राजनीतिक इतिहास को अन्य कालों में भी रेखांकित किया जा सकता है। नेपाल के विद्वानों ने भी अष्ठोक के सम्बन्ध पाटन तथा लुम्बिनी से स्वीकार किये हैं। इसके बाद गुप्तकाल में भी समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रष्ठास्ति में नेपाल, कामरूप और कर्तष्ठुर आदि को गुप्त साम्राज्य का करद राज्य बताया गया है। इसकी चर्चा की जा चुकी है। गुप्तों के बाद भी इस सम्बन्ध को देखा जा सकता है। नेपाल के लिच्छवि अभिलेखों से भी इसकी पुष्टि की जा सकती है।

यहाँ पर संक्षेप में कुछ संकेत दिये जा रहे हैं। हमारे हाल ही के अध्ययनों के अनुसार भारत में गुप्तों के बाद मौखरि वंष्ठा ने उनका उत्तराधिकार प्राप्त किया था। मौखरियों के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उन्होंने उत्तर भारत का लगभग वह सारा भाग अपने अधीन कर लिया था जो कभी गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत था। कामरूप से हिमांचल तक तथा दक्षिण में मध्यप्रदेष्ठा तक के क्षेत्र मौखरि साम्राज्य के अन्दर ष्ठामिल थे। इस प्रकार कोई ऐसा कारण नहीं दिखाई पड़ता कि नेपाल के लिच्छवि राजा भी मौखरियों के प्रभाव से मुक्त रहे हों।

अभिलेखों के आधार पर नेपाल के लिच्छवी राज्य तथा उस पर मौखरियों की चर्चा करने से पहले हर्ष और मौखरियों के बीच सम्बन्धों की चर्चा कर लेना उचित होगा क्योंकि हर्ष का इतिहास अब तक संष्ठोधित नहीं किया जा सका है और हम उन्नीसवीं ष्ठताब्दी में फ्लीट द्वारा स्थापित मानदण्डों से बाहर नहीं निकल सके हैं। अत: इसमें संष्ठोधन की आवष्ठयकता है।

मौखरि तथा हर्ष

इस काल के अभिलेखों का विष्ठलेषण यह बताता है कि असम तथा हिमाचल की भाँति

स्थाणीष्ठवर का पुष्यभूति राजवंष्ठा भी मौखरि साम्राज्य के अधीन राज्य था। इस वंष्ठा में हर्ष एक ष्ठाक्तिष्ठाली राजा के रूप में उभरे। कारण यह था कि उनकी बहन राज्यश्री का विवाह मौखरि राजा अवन्तिवर्मा के पुत्र ग्रहवर्मा के साथ हुआ था। हर्षचरित के अनुसार इसी बीच मालवा के एक अज्ञातनामा मालवराज ने कन्नौज पर आक्रमण करके ग्रहवर्मा की हत्या कर दी। बंग नरेष्ठा ष्ठाष्ठांक की सेनाएँ भी इसी समय पूरब की ओर से मौखरियों पर दबाव बना रही थीं। हर्ष ने अपनी विधवा बहन की सहायता करते-करते मौखरि साम्राज्य के प्रष्ठासन को भी अपने प्रभाव में ले लिया और महाराजाधिराज की उपाधि धारण करके अपने स्वयं के नाम से तीन ताम्रष्ठासनपत्र जारी किये जिनमें मौखरि सम्राट का नाम नहीं दिया गया है। इस आधार पर फ्लीट ने यह धारणा व्यक्त की कि मौखरि साम्राज्य था ही नहीं। गुप्त सम्राटों के बाद उनका उत्तराधिकार मगध के परवर्ती गुप्तों को मिला। मौखरि इन परवर्ती गुप्तों के अधीन एक छोटा राजवंष्ठा था। लेकिन परवर्ती गुप्त राजा आदित्यसेन के अफसाद अभिलेख का सम्यक विष्ठलेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह वंष्ठा मालवा का एक छोटा-सा अधीनस्थ राज्य था। हर्षचरित आदि अन्य स्रोतों से पता चलता है कि आदित्यसेन का पिता माधवगुप्त हर्ष का मामा था और मालवा के अपने राज्य से वंचित होकर थानेसर के दरबार में समय बिता रहा था। बाद में जब हर्ष ने कन्नौज के मौखरि साम्राज्य पर वर्चस्व स्थापित कर लिया तब उसने माधवगुप्त को मगध का राजा बना दिया।

हर्ष और मौखरि

इतिहासकारों का यह अनुमान है कि हर्ष ने मौखरि साम्राज्य को समाप्त करके अपने को स्थापित किया था, सत्य नहीं है। हमारे ष्ठोधों के अनुसार मौखरि साम्राज्य नष्ट नहीं हुआ था और हर्ष ने अपने ताम्रपत्रों में उनका उल्लेख जानबूझकर नहीं किया था। ग्रहवर्मा के बाद भी मौखरि राजवंष्ठा चलता रहा तथा हमने कन्नौज के यष्ठोवर्मा के बाद की दो पीढ़ियों तक इस वंष्ठा के सोलह राजाओं की सूची और इतिहास दिया है (वर्मा 2008-09)।

दूसरी ओर नेपाल के लिच्छवि काल के इतिहास को देखें तो लगता है कि इस वंष्ठा के प्रथम राजा मानदेव थे जिनका चांगुनारायण अभिलेख मिलता है। उन्होंने अपने को 464 ई. में स्वतंत्र घोषित करके यह अभिलेख लिखवाया था। यह वह समय था जब भारत में गुप्त साम्राज्य अपनी अन्तिम साँसें गिन रहा था और अन्तिम गुप्त सम्राट विष्णुगुप्त की पुत्री उपगुप्ता मौखरि राजा ईष्ठवरवर्मा की पत्नी थी और उसका दौहित्र ईष्ठानवर्मा गुप्त साम्राज्य का उत्तराधिकारी बना और अपनी राजधानी कन्नौज में स्थापित की (वर्मा, वही, पष्ट245)। निष्ठचय ही मानदेव ने गुप्त साम्राज्य से मौखरि साम्राज्य की स्थापना के बीच समय में होने वाली संक्रमणकालीन अव्यवस्था का लाभ उठाया। लेकिन ष्ठीघ्र ही उनको मौखरि साम्राज्य की सर्वोच्चता स्वीकार करनी पड़ी जिसके संकेत कुछ लिच्छवि अभिलेखों में मिलते हैं।

लिच्छवि अभिलेखों में भोज और भुक्ति

इस काल के सभी अभिलेखों का विवेचनात्मक विष्ठलेषण करने के बाद यह पता चला कि मौखरि ही गुप्त साम्राज्य के उत्तराधिकारी बने और असम से लेकर हिमाचल तक उनका साम्राज्य विस्तष्त था। अत: नेपाल भी उसके प्रभाव से बाहर नहीं रह सकता था।

इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि नेपाल के लिच्छवि राजा ष्ठिावदेव के उत्तराधिकारी जयदेव ने तो नेपाल को 'मण्डल' की संज्ञा से अभिहित किया है तो कुछ अन्य राजाओं ने उसे 'भुक्ति' कहा है। भुक्ति का अर्थ प्राय: अधीनस्थ राजा या जागीरदार का क्षेत्र माना जाता है। लेकिन इस विषय पर अभी पर्याप्त ष्ठोध नहीं किया गया है कि नेपाल के लिच्छवी किसके अधीनस्थ भोगी रहे होंगे। इन उल्लेखों को भारत के तत्कालीन अन्य अभिलेखों तथा साहित्यिक स्रोतों के सन्दर्भ में देखें तो लिच्छवियों के मौखरि राजाओं तथा बाद में हर्ष के अधीनस्थ मानने में कोई कठिनाई नहीं दिखाई पड़ती। लिच्छवि राजाओं में परमभट्टारक आदि सर्वोच्च उपाधियाँ केवल बाद के राजाओं में ही देखने को मिलती हैं जो हर्ष के बाद का काल था।

लिच्छवि राजवंष्ठा में ष्ठिावदेव का काल सबसे महत्त्वपूर्ण रहा है। वह कन्नौज के हर्ष तथा असम के भास्करवर्मा का ज्येष्ठ समकालीन था तथा गंगा की घाटी में मौखरि-हर्ष के संक्रमण काल का लाभ उठाकर अपनी स्थिति मजबूत करने का प्रयास किया। इस कार्य में अंष्ठुवर्मा ने उसकी बहुत सहायता की। ष्ठिावदेव (प्रथम) ने लगभग 39 वर्ष राज्य किया (576 से 615 ई.)। नेपाली संवत् 576 ई. से ष्ठुरू होता है। यह वर्ष ष्ठिावदेव के राज्यारोहण का वर्ष था। इसके तीस वर्ष बाद 606 ई. में अंष्ठुवर्मा ने इस नये संवत्सर से अपने अभिलेख लिखवाने ष्ठुरू किये जो अब नेपाली संवत् बन चुका है। अत: अंष्ठुवर्मा को लिच्छवि राजवंष्ठा का विद्रोही नहीं वरन् सहायक माना जाना चाहिए। अंष्ठुवर्मा का अन्तिम अभिलेख 621 ई. का है अत: ऐसा लगता है कि इसके बाद उसकी मष्ठ्यु हो गयी। हर्ष के अन्यत्र फँसे होने का लाभ नेपाल के लिच्छवियों ने उठाया और वे स्वतंत्र हो गये। ष्ठिावदेव के बाद उसका उत्तराधिकारी उदयदेव हुआ और अंष्ठुवर्मा के अभिलेखों में किसी बड़े राज्याभिषेक की तैयारी का उल्लेख मिलता है जिसे नेपाली इतिहासकार समझ नहीं सके। मेरा विचार है कि यह तैयारी उदयदेव के अभिषेक के लिए थी। इसी समय काठमाण्डू में एक नया सचिवालय बनाया गया जिसका नाम 'कैलासकूट भवन' रखा गया।

नेपाली इतिहासकारों का भ्रम

कुछ नेपाली इतिहासकारों (डी.आर. रेग्मी) ने अंष्ठुवर्मा में हर्ष की छवि देखने का प्रयास किया है जिसने लिच्छवि राजा को अपने प्रभावमें लेकर ष्ठासनसूत्र अपने हाथ में कर लिया था। वे ठीक इसी प्रकार का एक उदाहरण नेपाल के मध्ययुग के इतिहास में देखने को पाते हैं। ष्ठाह वंष्ठा

के राजा को प्रभावहीन करके राणाओं ने नेपाल का ष्ठासनसूत्र अपने हाथों में ले लिया था। लेकिन लिच्छवि अभिलेखों का हमारा यह विष्ठलेषण यह बताता है कि इस प्रकार की कोई बात नहीं हुई थी। इसके विपरीत ष्ठिवदेव तथा उदयदेव ने अंष्ठुवर्मा की सहायता से अपने ष्ठासन को किसी अधि राज की अधीनता से मुक्त करा लिया था जिसका उत्सव मनाने का उल्लेख अंष्ठुवर्मा के लेखों में मिलता है। ये अधिराज कन्नौज के मौखरि अथवा हर्ष ही हो सकते हैं।

नरेन्द्रदेव तथा अंष्ठुवर्मा

यह विष्ठलेषण जिसे अब तक सही परिप्रेक्ष्य में नहीं समझा गया, इस प्रकार है। उदयदेव के पुत्र नरेन्द्रदेव का पहला अभिलेख 641 ई. में तिथ्यांकित है और अन्तिम अभिलेख 679 ई. का है। इस समय हर्ष का ष्ठासन समाप्त हो चुका था और मौखरि सम्राट तथा परवर्ती गुप्तों के उत्तराधिकारी आदित्यसेन के वंष्ठाजों में वर्चस्व की लड़ाई ष्ठुरू हो चुकी थी। उदयदेव ने इसका लाभ उठाया। यह एक बड़ी उपलब्धि थी जिसका उत्सव मनाकर यादगार बना दिया गया। यही नहीं काठमाण्डू में कैलासभवन नामक नया सचिवालय बना। अंष्ठुवर्मा के अभिलेखों में नये सिरे से राज्याभिषेक और उत्सव मनाने का भी उल्लेख मिलता है।

अंष्ठुवर्मा तथा लिच्छवि नरेष्ठा

इससे भी बड़ी एक बात यह हुई कि इस अवसर पर एक नये संवत्सर का प्रारम्भ भी किया गया जिसे नेपाली वंष्ठावलियों ने मानदेव संवत् कहा है। आगे चलकर यही नेपाली संवत् के नाम से जाना जाता है। यह संवत् 476 ई. से ष्ठुरू होता है। यह इस बात का प्रमाण है कि लिच्छवि इतिहास में कोई बड़ी उपलब्धि प्राप्त हुई थी जिसका उत्सव मनाया गया। वह था कन्नौज के आधिपत्य से मुक्ति। अंष्ठुवर्मा के सभी अभिलेख इसी संवत् में तिथ्यांकित हैं। अंष्ठुवर्मा ने अपने अभिलेखों में किसी लिच्छवि राजा का नाम नहीं दिया है जिसको आधार मानकर नेपाली इतिहासकारों ने अंष्ठुवर्मा को विद्रोही सामन्त बनाकर पेष्ठा किया है। लेकिन अंष्ठुवर्मा ने यदि विद्रोह किया होता तो बाद के लिच्छवि राजाओं ने इस संवत् का बहिष्कार कर दिया होता। लेकिन वे इसको चलाते रहे।

लिच्छवि-मौखरि सम्बन्ध

नरेन्द्रदेव ने लिच्छविकुलकेतु भट्टारक महाराजाधिराज की उपाधि धारण की थी। इसके पहले की तीन पीढ़ियों तक यह उपाधि स्थगित रही। नरेन्द्रदेव के पुत्र ष्ठिवदेव (द्वितीय) तथा उनके पुत्र जयदेव हुए। जयदेव ने अपनी वंष्ठावली दी है जो इस वंष्ठा के राजाओं के क्रम-निर्धारण में सहायक है। इसके अनुसार जयदेव के पिता ष्ठिवदेव (द्वितीय) का विवाह वत्सदेवी के साथ हुआ था जो मौखरिकुल के भोगवर्मा की पुत्री थी। यह भोगवर्मा कन्नौज के मौखरि राजा रहे होंगे इसकी

सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता। कालक्रम के अनुसार यह भोगवर्मा हर्ष के समकालीन रहे होंगे और ग्रहवर्मा के उत्तराधिकारी माने जा सकते हैं।

मौखरि और परवर्ती गुप्त

जयदेव के इस अभिलेख के अनुसार मौखरि भोगवर्मा का विवाह मगध के राजा आदित्यसेन की पुत्री से हुआ था। इस आदित्यसेन की पहचान अफसाद ष्ठिालालेख के परवर्ती गुप्त राजा से की जा सकती है जिसके पिता मालवा के माधवगुप्त को हर्ष ने मगध में स्थापित कर दिया था। बाद में यह वंष्ठा कन्नौज के मौखरियों के लिए सिरदर्द बन गया और यष्ठोवर्मा को इनका समूल नाष्ठा करना पड़ा था। इस प्रकार मौखरियों तथा लिच्छवियों एवं परवर्ती गुप्तों के पारस्परिक विवाह सम्बन्ध होते रहे हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि स्वयं जयदेव का विवाह कामरूप के राजा हर्षदेव (हर्षवर्मा?) की पुत्री राज्यमती से हुआ था।

इस प्रकार नेपाल का प्राचीन इतिहास भारत के इतिहास के साथ इस प्रकार गुम्फित है कि उसको अलग से देखना ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना के समान होगा। नेपाल और भारत ष्ठाताब्दियों से एक दूसरे के साथ सामाजिक, सांस्कष्ठिक और राजनीतिक रूप से इस प्रकार सम्बद्ध रहे हैं कि उनके सम्बन्धों को अलग-अलग देखना ऐतिहासिक भूल होगी। वास्तविकता तो यह हैं कि नेपाल बष्ठत्तर सांस्कष्ठिक भारत ही है और हमारा परस्पर सगे रक्त सम्बन्धियों का सम्बन्ध है। भले ही आज हम दो राष्ट्र हैं लेकिन कुल मिलाकर हम एक बष्ठत्तर कुल का निर्माण करते हैं।

आइए, हम एक साथ मिलकर इस सम्पूर्ण क्षेत्र के विकास के लिए कदम से कदम मिलाकर आगे बढ़ें।

सन्दर्भ ग्रन्थः

अग्रवाल, कष्ठणदेव 1985, *नेपाली संस्कष्ठ अभिलेखों का हिन्दी अनुवाद*; दिल्ली।

Bailey, H.W. 1966-68 Visa Dharma, *भारती,* Bulletin of the College of Indology, Central Asia Number, Banaras Hindu Universtiy, pp. 12-14.

Bailey, H.W. 2009, *Indo-Scythian Studies: Khotanese Texts*, Volume IV, Cambridge University Press.

Deo, S.B. 1968, *Archaeological Excavations in Kathmandu.*

Deo, S.B. 1964, *Archaeological Investigations in Nepal Tarai.*

गोयल, श्रीराम 1973, *प्राचीन नेपाल का राजनीतिक एवं सांस्कष्ठिक इतिहास*।

जोष्ठी, हरिराम 2030 वि.सं., *नेपाल को प्राचीन अभिलेख, काठमांडौ*।

Jha, H.N. 1970, *The Licchavis.* Varanasi.

नेपाल, ज्ञानमणि 2040 वि.सं., *नेपाल निरुक्त,* काठमाण्डौ।

Niyogi, Roma 1956, *Nepalese Inscription in Gupta Characters*, Text and Plates, Calcutta

Regmi, D.R. 1969, *Ancient Nepal*, 3rd edition.

रेग्मी, जगदीष्ठा चन्द्र ष्ठार्मा 2026 वि.सं., *लिच्छवि संस्कष्ठि* (नेपाली)।

वज्राचार्य, धनवज्र (2030 वि.सं.), *नेपालकाल का अभिलेख,* काठमाण्डौ।

Verma, T.P. 1973, Introduction to *The Coinage of Nepal*, by E.H. Walsh, Indological Book House, New Delhi.

Verma, T.P. 1977, *Studies in the History and Culture of Nepal*, with Prof. Lallanji Gopal, Bharati Prakashan, Varanasi.

Verma, T.P. 1994, *A Corpus of the Lichchhavi Inscriptions of Nepal*, with Dr. A.K. Singh, Ramanand Vidya Bhavan, New Delhi.

ठाकुर प्रसाद वर्मा 2008-09, कन्नौज के मौखरि सम्राट, *प्रागधारा,* उत्तर प्रदेष्ठा राज्य पुरातत्त्व विभाग की ष्ठोध पत्रिका, 2008-09, अंक 19, पष्ट239-275।

卐

योगिराज बाबा गम्भीरनाथ नि:शुल्क सिलाई कढ़ाई प्रष्ठिाक्षण केन्द्र में प्रष्ठिाक्षण लेती ग्रामीण महिलाएँ एवं छात्राएँ

अभिलेखों में मन्दिर-वास्तु के लिए प्रयुक्त अभिधान एवं उसके उपादान : एक सर्वेक्षण

प्रो. विपुला दुबे*

नाम-रूप का अविनाभाव सम्बन्ध होता है। 'रूप' के बिना नाम की कल्पना नहीं हो सकती वहीं नाम, रूप को धारण कर सार्थकता प्राप्त करता है। भारतीय संस्कृति, काव्य, कला अथवा जीवन-कला की कसौटी नाम-रूप, शब्द-अर्थ के सम्यक सायुज्य को मानती है पार्वती-शिव के समान (वागर्थाविवसम्पृक्तौ)। अस्तु पुराभिलेखों में प्रयुक्त 'मन्दिर-वास्तु' नामों में देश-काल के परिवर्तन के साथ धार्मिक, राजनीतिक चेतना का बिम्ब किस प्रकार समाहित है तथा ये अभिधान मन्दिर उत्पत्ति-विकास के किस प्रकार साक्षी हैं इसका एक सर्वेक्षण ही इस शोध-पत्र का उद्देश्य है।

प्राचीन भारत में मन्दिरों के भौतिक अवशेष निर्विवाद रीति से गुप्त काल से प्राप्त होते हैं लेकिन आभिलेखिक साक्ष्यों से प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व एवं प्रथम शताब्दी ईस्वी में मन्दिर-विकास के चरण एवं मन्दिरों के अस्तित्व में होने की सूचना 'मन्दिर अभिधानों' एवं उनके उपादानों (सिला विगड भीचा, पूजाशिला-प्राकार इत्यादि) में सन्निहित है। पुराभिलेखों में मन्दिर-वास्तु के लिए देवायतन, शैलदेवगृह, प्रासाद, भवन, गृह, शिला-प्रासाद, महागृह, अन्तःपुरपुरम्, हर्म्य देवकुल, कीर्ति, सुराश्रय का प्रयोग दिखायी देता है, लेकिन सम्प्रति देवालयों के लिए सर्वाधिक व्यवहृत होने वाला 'मन्दिर' नाम परवर्ती है। अभिलेखों में सर्वप्रथम कलचुरि नरेश युवराज द्वितीय के बिलहरि अभिलेख (10वीं शताब्दी ई.) के चालीसवें श्लोक में नोहला देवी द्वारा निर्मित एक शिव देवालय को 'मन्दिर' नाम से अभिहित किया गया है।[1] यद्यपि 'राजभवन' के लिए 'मन्दिर' नाम का प्रयोग संजन ताम्रपत्र में हुआ है, जो नवीं सदी ई. का है।[2]

उल्लेखनीय है कि पुराभिलेखों में सर्वप्रथम कलिंग नरेश खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख[3] से तद्युगीन सभी मतों के पूजास्थलों के अस्तित्व में होने की सूचना मिलती है। इस अभिलेख में खारवेल को 'सभी देवताओं का जीर्णोद्धार कराने वाला' कहा गया है। यहाँ निस्सन्देह 'देवायतन' नाम देवस्थान अथवा पवित्र स्थल का वाची है, यद्यपि उस काल में (प्रथम शताब्दी ई.पूर्व) मन्दिर पुरावशेष की अनुपलब्धि के कारण यह कहना कठिन है कि देव मन्दिर का भौतिक स्वरूप क्या

*प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

था। 'सव देवायतनों' से यहाँ तात्पर्य ब्राह्मण, जैन, बौद्ध परम्परा के पवित्र स्थलों, पूजा स्थलों से प्रतीत होता है। इसी अभिलेख में जैनों के अष्टमंगलों (स्वस्तिक, दर्पण, कलष्ठा, मत्स्य, पाद, भद्रासन, माला) में से स्वस्तिक एवं वेदिका सहित वष्ठ्र का रेखाचित्रीय अंकन हुआ है जो जैन धर्म में इन पवित्र चिह्नों के बढ़ते महत्त्व का परिचायक है। इस सन्दर्भ में खारवेल की धार्मिक राजनयिक उपलब्धियों में नन्द राजा द्वारा ले जायी गयी कलिंग 'जिन' की प्रतिमा को पुनः प्राप्त करना एवं उसे स्थापित करना उल्लेखनीय है। ध्यातव्य है कि जैन एवं बौद्ध प्रतिमाओं (प्रसेनजित के द्वारा बुद्ध की चन्दन मूर्ति का निर्माण) एवं उनके पवित्र चिह्नों का अंकन इस काल में अयागपट्टों पर होने लगा था अस्तु जहाँ उन्हें प्रतिष्ठापित किया जाता होगा वे ही श्रमणों के पूजा स्थल एवं जिन मन्दिर के रूप में विकसित हुए।

श्रमण परम्परा के पूजा स्थलों के समानान्तर ही ब्राह्मण परम्परा के देव मन्दिरों के अस्तित्व में आने का प्रमाण ष्ठोडास का मोरा (मथुरा) पाषाण लेख है जो प्रथम ष्ठाताब्दी ई. का है।[4] इस लेख में तोषा नामक महिला के द्वारा वष्ठ्णियों के पूज्य पंचवीरों (संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न, साम्ब एवं अनिरुद्ध) की प्रतिमाएँ 'ष्ठौलदेवगष्ठ्ह' में (**भगवतां वष्ठ्णीनां पञ्चवीराणां प्रतिमाः ष्ठौलदेवगष्ठ्हे स्थापितः**) अर्थात् पाषाण निर्मित मन्दिर में स्थापित करने का उल्लेख है। यह आभिलेखिक साक्ष्य वैष्णव देव मन्दिर के न केवल अस्तित्व में आने की सूचना देता है बल्कि यह भागवत धर्म में पंचवीरों की पूजा की प्राचीनता का ठोस प्रमाण भी है। उल्लेखनीय है कि देव स्थान को प्रायः ष्ठौल, प्रस्तर, ष्ठिाला से निर्मित होना बतलाया गया है। यहाँ ष्ठौल निर्मित देवगष्ठ्ह चिरस्थायित्व के ही मात्र सूचक नहीं हैं बल्कि देवताओं के उन्नत निवास एवं उनके दिव्यत्व के भी वाची प्रतीत होते हैं। मथुरा से प्राप्त क्षत्रपकालीन एक ष्ठिालालेख में भगवान् ष्ठिाव के 'देवकुल' तथा मूर्ति निर्माण का उल्लेख है (मथुरा संग्रहालय सं. 71.8)।

मन्दिर अभिधानों की दष्ठ्ष्टि से गुप्त एवं गुप्तोत्तर अभिलेखों से विष्ठोष प्रकाष्ठा मिलता है क्योंकि ये नाम न केवल मन्दिरों के स्वरूप विकास की अग्रिम कड़ी हैं बल्कि जिस देवता से मन्दिर सम्बद्ध होता था उसकी वन्दना में रचित प्रथम एक या दो ष्ठलोक उस देव प्रतिमा की लाक्षणिक विष्ठोषताओं को समाहित किये हुए दिखायी देते हैं। कुमारगुप्त एवं बन्धुवर्मा के मन्दसोर अभिलेख[5] में सूर्य मन्दिर के लिए अलग-अलग सन्दर्भों में तीन पष्ठ्र्यायक नाम प्रयुक्त हैं- 'भवन, प्रासाद एवं गष्ठ्ह'। यथा अभिलेख के उन्तीसवें ष्ठलोक में पट्टवाय श्रेणी द्वारा सूर्य किरणों से युक्त एक अनुपम मन्दिर के निर्माण का उल्लेख है (**श्रेणीभूतैर्भवनमतुलं कारितं दीप्ति रष्ठ्मे**) जिसे 'भवन' कहा गया है। निर्माणोपरान्त मंगलाचार विधि से इस मन्दिर का अनावरण मालव संवत् 493 में हुआ। उल्लेख्य है कि मन्दिर की पूर्णता को उपलक्षित करने के लिए प्रष्ठास्तिकार ने इसे 'प्रासाद' नाम दिया है (**मंगलाचार-विधिना प्रासादोऽयंनिवेसितः**), कालान्तर में इस मन्दिर का एक भाग

खण्डित हो गया जिसका वर्णन करते हुए इसे 'भवन' (**व्यष्ठीर्य्यतैकदेष्ठोऽस्य भवनस्य ततोऽधुना**) की संज्ञा से तथा संस्कारित होने के पष्ठचात् इसे गष्ठ (भानुमतोगष्ठ) कहा गया है। एक ही मन्दिर के लिए तीन नामों के साथ ही उसके स्वरूप का आख्यान भी प्रस्तुत है, जो परवर्ती ष्ठिल्पष्ठास्त्रीय विधान की दष्टि से महत्त्व रखता है। यथा इसे पर्वत के सदष्ठा चौड़े एवं उन्नत ष्ठिखरों वाला, आकाष्ठा को मानो स्पर्ष्ठा करता हुआ, सद्यः उदित चन्द्रमा की निर्मल किरणों के समान धवल, पष्ठिचम देष्ठा की राजधानी (दष्ठापुर) में जड़े हुए मनोहर चूड़ामणि के समान नयनों को आनन्द देने वाला है। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख[6] में नगरपति चक्रपालित द्वारा निर्मित चक्रभष्ठ (विष्णु) के मन्दिर को 'गष्ठ' की संज्ञा प्रदान की गयी है। पुनः इस मन्दिर के स्वरूप का वर्णन करते हुए इसे ऊर्जयत पर्वत के समान उन्नत, सुदष्ठ तथा नगर ष्ठीर्ष पर ष्ठासन करता हुआ बताया गया है। संक्षोभ के खोह ताम्रपत्र[7] (सतना) में पिष्टपुरी देवी के एक मन्दिर का उल्लेख है जिसे 'देवकुल' कहा गया है। इस देवकुल के जीर्णोद्धार, बलि, चरु सत्र हेतु ओपाडिक ग्राम के अर्द्धभाग को ताम्रष्ठासन द्वारा दान देने का उल्लेख है। फ्लीट ने इस देवी को विष्णुप्रिया लक्ष्मी माना है क्योंकि इस अभिलेख का आरम्भ '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**' से हुआ है। महाराज सर्वनाथ के खोह ताम्रपत्र[8] में इस देवी का नाम 'पिष्टपुरिका' मिलता है। तोरमाण के एरण वराह मूर्तिलेख में वराहरूपधारी विष्णु को त्रिलोकरूपी 'महागष्ठ' का स्तम्भ कहा गया है तथा ऐरिकिणि (एरण-सागर) क्षेत्र में जगत् के हित में रत भगवान् नारायण का एक 'ष्ठिला-प्रासाद' अर्थात् मन्दिर निर्मित करने का उल्लेख है, जो आज भी 'वराह' नाम से इस क्षेत्र में प्रख्यात है। उल्लेख्य है कि प्रथम ष्ठताब्दी ई. के घोसुण्डी अभिलेख[9] में सर्वतात के द्वारा 'नारायण वाटक' के लिए 'पूजा-ष्ठिला-प्राकार' बनवाने का उल्लेख है, यहाँ पत्थर की सुदष्ठ दीवार से भगवान् नारायण के पवित्र स्थल (अथवा ष्ठालिग्राम) को आवेष्टित कराना ही लक्ष्य प्रतीत होता है क्योंकि 'वाटक' ष्ठाब्द का अर्थ 'घेरा' होता है। जिस प्रकार इस अभिलेख में 'विष्णु' को त्रिलोक रूपी महागष्ठ का स्तम्भ कहा गया है उसी प्रकार ष्ठैव अभिलेखों एवं साहित्य में ष्ठिव की स्तुति में त्रैलोक्य रूपी नगर के आरम्भ तथा स्थिति के लिए ष्ठिव को आधार स्तम्भ कहा गया है। 'हर्षचरित' में महाकवि बाण ने ष्ठिव की वन्दना में उन्हें त्रिलोक रूपी नगर के आरम्भ का 'मूलस्तम्भ' कहा है।[10] साहित्य एवं आभिलेखिक परम्परा से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में महावास्तुकारों के रूप में प्रतिष्ठित 'विष्ठवकर्मा', 'मय' का स्थान परवर्ती काल में विष्णु एवं ष्ठिव ने ले लिया, जो धार्मिक संचेतना के परिवर्तन का ही परिणाम था। मिहिरकुल के ग्वालियर प्रस्तरलेख[11] में मातष्ठेट के द्वारा पर्वतों में श्रेष्ठ, सुरम्य 'गोप' नाम वाले पर्वत पर पाषाण से सूर्य के एक मन्दिर निर्माण का वर्णन है, जिसे 'श्रेष्ठ प्रासादों में अग्रगण्य' (**प्रासादवर-मुख्यम्**) कहा गया है, गोप पर्वत ग्वालियर के समीप स्थित है।

ईष्ठानवर्मा के हरहा अभिलेख[12] (वि.सं. 611=554 ई.) में उल्लेख है कि मष्ठया के लिए

निकले सूर्यवर्मा ने ष्ठिाव के एक जीर्ण मन्दिर को देखा जिसे 'ष्ठिाव का भवन' (अन्धकभिदो भवन) कहा गया है। इस टूटे मन्दिर का जीर्णोद्धार सूर्यवर्मा ने करवाया जो 'क्षेमेष्ठवर' नाम से विख्यात हुआ। इस मन्दिर को 'पष्ठ्वी का ललाट' कहा गया है। इस अभिलेख के मंगलाचरण में ष्ठिाव की जो वन्दना प्रस्तुत है उससे ष्ठिाव-प्रतिमाओं की लाक्षणिक विष्ठोषता पर महत्त्वपूर्ण प्रकाष्ठा मिलता है यथा- कहा गया है कि जिसके ष्ठारीर का अर्द्धभाग स्त्री से सेवित होने पर भी कामदेव स्थायी स्थान नहीं बना सका, सिंह चर्म को जो धारण करता है, मष्ठाकष्ठि को धारण करने वाली चन्द्रकला जिसके ष्ठीर्ष पर विराजमान है तथा जिसके ष्ठारीर पर सर्प स्पन्दन करते रहते हैं। अपसढ़ अभिलेख[13] में आदित्यसेन के द्वारा विष्णु मन्दिर के निर्माण का उल्लेख है। इस मन्दिर को 'भवनों में उत्तम' (**तेनेदं भवनोत्तमं क्षितिभुजा विष्णोः कष्ठे कारितः**) एवं 'पष्ठ्वी की भुजा' कहा गया है। चालुक्य नरेष्ठा पुलकेष्ठी द्वितीय के ऐहोल अभिलेख[14] में एक जैन मन्दिर के निर्माण का उल्लेख है, जिसका निर्माता एवं प्रष्ठास्ति प्रणेता दोनों रविकीर्ति ही था, जो स्वयं को 'मतिमान' कहता है। अभिलेख में विवष्ठ है कि अपनी रचना को 'नया अर्थ' प्रदान करने के लिए रविकीर्ति ने पत्थरों से सुदष्ठ़तापूर्वक भवनों में श्रेष्ठ, महान जैन मन्दिर (**ष्ठैल जिनेन्द्र भवन**) का निर्माण करवाया जिसे उसने 'भवन' की संज्ञा से सम्बोधित किया है। अपनी रचना के माध्यम से कालिदास एवं भारवि की कीर्ति पाने का उद्घोष करने वाले इस विद्वान् कवि रविकीर्ति का 'नव अर्थ विधान' से तात्पर्य क्या था बहुत स्पष्ट तो नहीं है लेकिन मानसार[15] (XIX, 252, XXXII, 145 इत्यादि) में जैन 'देव भवनों' के प्रसंग में कहा गया है कि ये 'स्थिर' एवं 'चलायमान' दोनों ही प्रकार के होते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन देव मन्दिर आरम्भिक चरण में स्थिर नहीं होते थे इसलिए रविकीर्ति ने इसे पत्थरों से बनवाकर तथा मन्दिर निर्माण के लक्ष्य से इस ऐहोल प्रष्ठास्ति की रचना की। उसने अपने दोनों कार्यों को उपलक्षित करने के लिए 'नव अर्थ विधान' की बात कही है।

ष्ठांकरगण प्रथम के सागर अभिलेख[16] (सातवीं ष्ठाती ई. का उत्तरार्द्ध) में देऊक की पत्नी कष्ठ्णा द्वारा अपने माता-पिता की पुण्यवष्ठ्द्धि हेतु क्षिति तल पर 'कीर्ति' (मन्दिर) स्थापित करने का उल्लेख है। लेख का आरम्भ **सिद्धि! ॐ नमः ष्ठिवाय** से हुआ है। धर्मपाल के खालिमपुर ताम्रपत्र[17] (नवीं ष्ठाती ई.) में भगवान् नन्न नारायण के एक मन्दिर निर्माण का वर्णन है, जो ष्ठ्भस्थलों पर बनवाया गया तथा जिसे 'देवकुल' कहा गया है। ग्वालियर प्रष्ठास्ति में मिहिर भोज द्वारा विष्णु मन्दिर (नरकद्विष) बनवाने का उल्लेख है। अभिलेख के 25वें ष्ठलोक में इसे 'अन्तःपुरपुरम्' नाम दिया गया है अर्थात् जो मन्दिर (अन्तःपुर) प्राचीर से आवष्ठ था। पत्थर की सुदष्ठ दीवार से पवित्र स्थलों को घेरने का उल्लेख तष्ठीय ष्ठाताब्दी ई. पूर्व से ही मिलने लगता है। उल्लेखनीय है कि मन्दिर-वास्तु के लिए 'अन्तःपुर' नाम का प्रयोग अभिलेखों में विरल है। मालव नरेष्ठा भोज के उदयपुर प्रष्ठास्ति[18] में कविराज भोज की प्रष्ठांसा में कहा गया है कि उस राजा ने तो अनेक मन्दिरों (केदारेष्ठवर,

रामेष्ठवर, सोमनाथ, सुण्डीर, काल, अनल, रुद्र के देवालयों) का निर्माण कर पृथ्वी का 'जगती' नाम सार्थक कर दिया। पुराणों (मत्स्य पुराण अध्याय CCLXII, VV, 1-2, अग्नि पुराण अध्याय XLII, V.5 इत्यादि) में 'जगती' की विवेचना करते हुए उसे मूर्ति, लिङ्ग का अधिष्ठान, कूप का 'चबूतरा' अथवा a moulding of the base कहा गया है। निस्सन्देह जगती अर्थात् पृथ्वी की सार्थकता पवित्र मन्दिरों, मूर्तियों को आधार प्रदान करने में थी। इन देवालयों के लिए 'सुराश्रय' नाम का प्रयोग भी किया गया है। यह अभिलेख शिव मन्दिरों के निर्माण से सम्बन्धित है अस्तु आरम्भ में शिव की स्तुति है जो उनके तद्युगीन स्वरूप की अभिव्यक्ति करती है यथा- चन्द्र से सुशोभित शिखर, नन्दी का सान्निंध्य, शम्भू के जटाजूट में विराजमान गंगा के प्रति पार्वती का ईर्ष्याभाव तथा शिव के अर्द्धभाग का उमा द्वारा आलिंगन विवृत है। शिव का यही स्वरूप उनकी परवर्ती प्रतिमाओं में भी मिलने लगता है, शब्द परम्परा एवं भौतिक मूर्ति परम्परा का सायुज्य यहाँ देखा जा सकता है।

इन तथ्यों के आलोक में स्पष्ट है कि मन्दिर अभिधानों में उपन्यस्त पर्वतनाम (शैल देवगृह, पूजा-शिला-प्राकार) एवं पर्वतों से उनकी बार-बार तुलना इस धारणा की परिणति थी कि देवता दिव्य, आकाशगामी एवं उन्नत पर्वतों पर निवास करते हैं। अस्तु पर्वतीय क्षेत्र अथवा मैदानी भू-भाग में निर्मित मन्दिरों को पर्वताकार 'रूप' (शिखरि प्रकाशा) दिया गया एवं उनके नामों में भी वही भाव अनुस्यूत हुआ। इस सन्दर्भ में शिल्पशास्त्रों में वर्गीकृत मन्दिरों के विविध नाम उल्लेखनीय हैं। मत्स्यपुराण[19] एवं भविष्यपुराण[20] में 'प्रासाद' के बीस भेद बताये गये हैं जिनमें प्रथम तीन पर्वतवाची हैं- मेरु, मन्दर एवं कैलास। मानसार में भी मन्दिरों के तकनीकी नामों (सिन्धुक, सम्पूर्ण, मेरुकूट, क्षेम, शिव, हर्म्य, सौम्य, विशाल इत्यादि) में 'मेरुकूट' मिलता है जो इस तथ्य की पुष्टि करता है कि मन्दिरों की संरचना का आदर्श पर्वत ही था लेकिन यह अवधारणा परवर्ती है क्योंकि 'देवस्थलों' के लिए प्रयुक्त होने वाले पुराभिलेखिक नामों में 'देवायतन' प्राचीन है जो इनके पर्वताकार रूप का वाची नहीं है।

प्रस्तुत आलेख में भारत के प्रमुख अभिलेखों में मन्दिर-वास्तु के लिए व्यवहृत नामों (अभिधानों) के सर्वेक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि सभी मन्दिर वाची नामों में 'भवन' सर्वाधिक लोकप्रिय था। ध्यानार्ह्य है कि मन्दिर नामों में 'प्रासाद' (प्रासादे देव भूभुजाम्)[21], 'हर्म्य' (हरतिमनः, हर्म्यादि धनिनां वासः)[22], 'अन्तःपुर' (मन्दिर के गर्भगृह का सूचक), 'मन्दिर', देवस्थान एवं राजभवनों दोनों के लिए प्रयुक्त होने लगे थे। निष्ठचय ही जब राजा में देवत्व का आरोपण हुआ तब राजा भी देवता के समान दिव्यप्रकाशा से युक्त (राज् दीप्तौ = राजा) माने गये। अस्तु उनके निवास स्थल में (बाह्य एवं आन्तरिक) भव्यता दर्शाने के लिए उन्हें 'प्रासाद' कहा जाने लगा। इसी प्रकार 'मन्दिर' नाम का प्रयोग भी देव-वास्तु एवं राज-महल दोनों के लिए मिलता है। अमोघ वर्ष के संजन ताम्रपत्र में 'राजप्रासाद' को 'मन्दिर' कहा गया है। वहीं कलचुरी शासक युवराज द्वितीय के बिलहरी

अभिलेख[23] में 'ष्ठाव देवालय' के लिए 'मन्दिर' नाम का प्रयोग है। इसी प्रकार हर्म्य एवं अन्त:पुर भी राजाओं अथवा धनिकों के भवन, अन्त:पुर के लिए भी व्यवहृत होते थे।

ये नाम (प्रासाद, हर्म्य, अन्त:पुर, मन्दिर) देवता एवं राजा को एकीकृत करने का प्रयास प्रतीत होते हैं। पूर्व मध्यकाल तक आते-आते मन्दिर धार्मिक एवं राजनीतिक ष्ठाक्ति के अधिष्ठान बन गये। लौकिक ष्ठाक्ति का नियन्ता राजा पारलौकिक ष्ठाक्ति के प्रतीक देवताओं से प्रतिस्पर्धा करने लगे जिसके परिणामस्वरूप तीन प्रमुख ष्ठाक्तियाँ समाज की दष्ठा-दिष्ठा निर्देष्ठाक बन कर उभरीं; ये थीं- देवता, देव, पुरोहित (गुरु) एवं राजा जिसका प्रमाण देवालय, प्रासाद (राज-प्रासाद) एवं गुरुवायतन हैं।

निष्कर्षत: पुराभिलेखों में मन्दिर-वास्तु के लिए प्रयुक्त नाम (अभिधान) एवं उनके उपादानों पर दष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि आरम्भ में पूजास्थलों को मजबूत पत्थर अथवा ईंट के प्राकार से आवेष्टित कर दिया जाता था जिससे उनकी पवित्रता भंग न हो। इसका प्राचीनतम आभिलेखिक साक्ष्य सम्राट अष्ठोक का रुम्मिनदेई लघु स्तम्भ लेख है जिसमें सम्राट अष्ठोक द्वारा भगवान् बुद्ध की जन्मस्थली (लुम्बिनी) को कठोर पत्थर की भित्तिका से सुरक्षित करवाना (सिला विगड भीचा कालापिता) तथा अपने इस महनीय कार्य को स्तम्भ स्थापित कर लेख के माध्यम से विज्ञप्ति करना था। लुम्बिनी के उत्खनन में सुदष्ठ ईंटों की एक प्राचीर मिली है तथा जिसका निचला स्तर मौर्यकालीन ईंटों का है। यह प्राचीर मौर्य ष्ठासक अष्ठोक के द्वारा बनवायी गयी होगी। जहाँ तक अभिलेख में आये 'सिला विगड भीचा' का प्रष्ठन है निस्सन्देह प्राकष्ठ सिला = ष्ठिला का ष्ठाब्दिक अर्थ 'पत्थर' होता है तथा विगड = विकट सुदष्ठ। लेकिन इस ष्ठाब्द में मजबूती, कठोरता का भावार्थ अन्तर्निहित है। अस्तु मजबूत ईंट के लिए 'सिला' ष्ठाब्द का व्यवहार हो सकता है।

सर्वतात के घोसुण्डी अभिलेख में भी वैष्णवों के पवित्र चिह्न 'नारायण वाटक' (ष्ठालिग्राम) के लिए 'पूजा ष्ठिला प्राकार' बनवाने का उल्लेख मिलता है जिससे सिद्ध होता है कि मन्दिरों के अस्तित्व में आने के पूर्व पूजा-स्थलों, देवों के पवित्र चिह्नों, प्रतिमाओं को जहाँ स्थापित किया जाता था उसे पत्थर के प्राकार से घेर दिया जाता था। उदयगिरि गुहालेख से विदित होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के सचिव, सान्धिविग्रहिक वीरसेन ने ष्ठाम्भु के एक मन्दिर के रूप में 'गुहा' का निर्माण करवाया था। अस्तु मन्दिर-वास्तु के भौतिक स्वरूप निर्धारण का प्रथम चरण 'सिला प्राकार' (ष्ठिला प्राकार) था। वहीं इनके लिए प्रयुक्त नाम देष्ठा-काल के परिवर्तन के साथ बदलती धार्मिक-राजनीतिक चेतना को भी दष्ठाते हैं। यथा- 'प्रासाद' जहाँ देवता एवं पष्ठवी के देवता राजाओं के निवास के लिए प्रयुक्त होने लगे वहीं हर्म्य-(धनिनां वास) अर्थात् मन को हरने वाले भवन धनिकों के भव्य आवास एवं देव मन्दिरों के लिए प्रयुक्त मिलते हैं।

प्रमुख अभिलेखों में मन्दिरों के लिए प्रयुक्त 'अभिधानों = नामों' की सूची

देवायतन	01 हाथीगुम्फा अभिलेख
ष्ठौल देवगह्व	01 मोरा पाषाण-लेख(पंचवीरो)
प्रासाद	01 मंदसौर-कुमारगुप्त-I (सूर्य) प्रासाद वर-मुख्यम
	01 ग्वालियर प्रस्तर लेख (सूर्य मन्दिर)
भवन	02 मंदसौर अभिलेख (सूर्य)
	01 हरहा अभिलेख (सूर्य)
	01 अपसढ़ अभिलेख (विष्णु)
	01 ऐहोल अभिलेख (जिनेन्द्र)
गह्व	01 मन्दसौर (सूर्य)
	01 जूनागढ़ (सू विष्णु)
ष्ठिलाप्रासाद	01 तोरमाण का एरण अभिलेख (वराह रूपधारी विष्णु)
महागह्व	01 एरण अभिलेख (वराहरूपी विष्णु)
देवकुल	01 खोह अभिलेख (पिष्टपुरी देवी)
	01 खालिपुर ताम्रपत्र (भगवान् नन्न नारायण)
मन्दिर	01 बिलहरी अभिलेख (ष्ठिवमन्दिर)
	01 संजन ताम्रपत्र (राजभवन के लिए प्रयुक्त)
क्षेमेन्द्र	01 हरहा अभिलेख (ष्ठिव)
अन्तःपुरपुरम्	01 मिहिर भोज की ग्वालियर (नरकद्विष = विष्णु)
सुराश्रय	01 उदयपुर अभिलेख (ष्ठिवमन्दिरों के लिए)
कीर्ति	01 ष्ठांकरगण का सागर अभिलेख

सन्दर्भः

1. सरकार, डी.सी., सलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, भाग-2, दिल्ली, 1983, 321,
निर्म्मापितनसुकह्वसङ्गतये तदेयमङ्कषाग्रष्ठिखरस्खलि तोष्ण रष्ठिम।

देवस्य मंदिर मुमाप्रणयैकव (ब)न्धोस्त्यानाकष्टि स्वयष्ठासामिथ(व) चक्रवालम्।।40।।

2. तत्रैव, पष्ट 478, नं. 5, ष्ठलोक 37
3. Ed. by Krishnan, K.G., Uttankita Sanskrit Vidya Aranya Epigraphs, Vol. II, Mysore, 1989, No. 67.
'सवपासंऽपूजकौ सवदैवायतनसकार कारकौ'
(revering other religionists, renovator of all temples)
4. तत्रैव, नं. 76, पष्ट 170-171
Mathura (Mora) Well Inscription of S'odasa.
5. जे.एफ. फ्लीट, कार्पस, भाग III, वाराणसी, 1963, नं. 18, पष्ट 79
6. तत्रैव, नं. 14, पष्ट 56
7. तत्रैव, नं. 25, पष्ट 112
8. वाजपेयी, कष्णदत्त, ऐतिहासिक भारतीय अभिलेख, जयपुर, 1992, पष्ट 191
9. तत्रैव, Uttankita Sanskrit Vidya Aranya Epigraphs, No. 52
10. हर्षचरित, प्रथम उच्छ्वास 1
नमस्तुङ्गष्ठिारष्ठचुम्बिचन्द्रचामरचारवे।
त्रैलोक्यनगरारम्भमूलसतम्भाय ष्ठाम्भवे।।2।।
11. वाजपेयी, कष्णदत्त, ऐतिहासिक भारतीय अभिलेख, जयपुर, 1992, पष्ट 201
श्रीस्तावद्गिरि - मूर्ध्नि तिष्ठति।
ष्ठिाला-प्रासाद - मुख्यो रमे।।13।।
12. तत्रैव
13. फ्लीट, कार्पस, 111, नं. 42
14. सरकार, डी.सी., सलेक्ट इन्स्क्रिप्ष्ठान्स, भाग-2, पटना, 1983, पष्ट 443
15. Acharya, P.K., An Encyclopaedia of Hindu Architecture, Bhopal, 1978, p.367
16. तत्रैव, वाजपेयी, पष्ट 245
17. सरकार, डी.सी., सलेक्ट इन्स्क्रिप्ष्ठान्स, भाग-2, पष्ट 63
राज्ञा तेन स्व-देवीनां यष्ठाः-पुण्याभिवष्द्धये
अन्तःपुर-पुरं नाम्ना व्यधामि नरकद्विषः।।
18. तत्रैव, ऐतिहासिक भारतीय अभिलेख, पष्ट 262, ष्ठलोक 20,
केदारामेष्ठवर सोमनाथासुं) डीरकालानलरुद्रसत्कैः।
सुराश्रयै व्याप्य च यः समन्ताद्ययाथसंज्ञां जगतीं चकार।।20।।
19. Matsya Purana, Chap. CCLXIX, VV. 1-7, 8-14, उद्धष्ठ पी.के. आचार्य, तत्रैव, पष्ट 349
20. भविष्यपुराण, तत्रैव

21. अमरसिंह, अमरकोष्ठा 2.2.9 सम्पादित, सत्यदेव मिश्र, मलेष्ठिया 1972.
    प्रासादो देवभूभुजाम्।।9।। देवानां भू भुजां चगष्ठम्।
    प्रसीदन्त्यत्र।
22. तत्रैव, 2.2.8 (हरतिमनः) हर्म्यादि धनिनां वासः।
23. तत्रैव, सरकार, डी.सी., सलेक्ट इन्स्क्रिप्शान्स, भाग-2, पष्ट 321

卐

साप्ताहिक स्वैच्छिक श्रमदान में महाविद्यालय के छात्र-छात्रायें

जलाष्ठायों का महत्त्व एवं निचलौल के प्रमुख जलाष्ठाय

डॉ. योगेन्द्र पाल कोहली*

उत्तर प्रदेष्ठा एवं बिहार के भोजपुरी क्षेत्र की कहावत है- "एक गाँव नगरी, अट्ठारह गण्डा पोखरी" अर्थात् एक गाँव में बहत्तर पोखरे (एक गण्डा = 4 पोखरे, 18 गण्डा = 72 पोखरे)।

हमारे पूर्वजों को पोखरे से होने वाले लाभों की जानकारी थी। जीवन के लिए अत्यावष्ठयक पंचतत्त्व (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर) में जल अति महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। वैज्ञानिक एवं धार्मिक दष्टिकोण से देखा जाये तो जीवन की उत्पत्ति ही जल से हुई है तथा मानव ष्ठारीर में 70 प्रतिष्ठात जल की मात्रा होती है। जल ही जीवन है, जल के बिना जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसी कारण सभी मानव समूह विष्ठाल रूप लेने लगे तो नदियों एवं प्राकष्तिक जलस्रोतों से दूर भी गाँव, नगर बसने लगे और जल की आवष्ठयकता पूर्ति के लिए मानवकष्त तालाब, पोखरे आदि जल-संसाधन विकसित होने लगे। जीवन के लिए जल की आवष्ठयकता एवं महत्त्व के कारण ही सभ्यताओं में जल को देवी या देवताओं के रूप में पूजा की जाने लगी। हमारी भारतीय संस्कष्ति में जल को देवता माना गया है। विष्ठव के सर्वप्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में आपः (जल) सूक्त (3.3) के माध्यम से जल की अमष्त औषधि के रूप में स्तुति की गयी है- **'अप्सु अन्तः अमष्तम् अप्सु भेषजम् अपाम् उत प्रष्ठास्तये।'** तालाब की चर्चा सर्वप्रथम हमें ऋग्वेद में मिलती है जहाँ घर के आस-पास तालाब आदि जलाष्ठाय निर्माण होने का उल्लेख किया गया है।

हमारी संस्कष्ति में नदियों एवं जलाष्ठायों का स्थान महत्त्वपूर्ण होने के कारण ही सभी तीर्थ नदी या तालाब आदि जलाष्ठायों के पास हैं जहाँ दर्ष्ठान से पूर्व स्नान करना आवष्ठयक धार्मिक कार्य माना जाता है, हिन्दू धर्म के चारों धाम (बदरीनाथ, द्वारका, रामेष्ठवर और जगन्नाथपुरी) विष्ठव का सबसे बड़ा मन्दिर (अंकोरवाट का विष्णु मन्दिर), राम जन्मभूमि, कष्ष्ण जन्मभूमि, कैलास पर्वत, पुष्कर का ब्रह्मा मन्दिर, मुक्तिनाथ धाम, कामाख्या ष्ठाक्तिपीठ, द्वादष्ठा ज्योतिर्लिंग, पष्ठुपतिनाथ आदि सभी तीर्थ एवं धार्मिक स्थल किसी-न-किसी जलस्रोत के पास ही हैं।

हिन्दू धर्म में ही नहीं अन्य धर्मों में भी तालाब आदि जलाष्ठायों एवं नदियों को पवित्र माना जाता है। पारसी धर्म में **'आर्देवी सूरा अनाहिता'** को जलाष्ठायों की देवी माना गया है अतः पारसी

*अवकाष्ठा प्राप्त प्राध्यापक, रसायनष्ठास्त्र, बुद्ध पी.जी. कॉलेज, कुष्ठीनगर

लोग नियमित रूप से जलाष्ठायों की पूजा करते हैं। प्राचीन रोम में **'इगोरिया'** देवी को, चीन में **'मात्सु'**, जापान में **'तेर्फी'**, प्राचीन मिस्र में **'नेप्थिस'** नाम की जल देवी को जलस्रोतों की अधि ष्ठात्री माना जाता था। आज भी इस्लाम, ईसाई, सिख आदि धर्मों के सभी प्रमुख तीर्थ किसी-न-किसी जलस्रोत के पास हैं। उन जलस्रोतों का जल गंगाजल की तरह पवित्र माना जाता है। ईसाइयत में **'होली वाटर'**, इस्लाम में **'आवेजमजम'**, सिख में **'अमष्ठकुण्ड'** का जल सभी धार्मिक कार्यों में उपयोग किया जाता है।

जलाष्ठायों का निर्माण एवं संरक्षण

जीवन के लिए तथा धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों में जल की आवष्ठयकता होने के कारण विभिन्न धर्म-ग्रन्थों में पोखरे, सरोवर आदि जलाष्ठायों के निर्माण कार्यों को पुण्यदायक कार्य माना गया है। इसे राजाओं का राजधर्म माना गया है-

धर्मास्यार्थस्य कामस्य फलमाहुर्मनीषिणः

तडाग सुकष्ठं देष्ठो क्षेत्रमेकम् महाश्रयम्।

पुष्करण्यस्तडागानि कूपांश्चैवात्र खानयेत्।

एतत् सुदुर्लभतरमिहलोके द्विजोत्तम॥ (*महाभारत*)

तथा नये जलाष्ठायों का निर्माण तथा पुराने का जीर्णोद्धार करने से व्यक्ति के कुल का उद्धार हो जाने की बात कही गयी है-

यस्तडागं नवं कुर्यात् पुराणं वापि खानयेत्

ससर्व कुलमुद्धष्ठ्य स्वर्ग लोके महीयते (*बष्ठस्पति स्मष्ठि*)

हमारे पूर्वजों ने नदियों एवं जलाष्ठायों को प्रदूषण से बचाये रखने के लिए अनेक धार्मिक नियमों का निर्माण एवं पालन किया। नदियों और तालाबों को प्रदूषण रहित करने के उद्देष्ठय से हमारे पूर्वजों ने जलाष्ठाय एवं नदियों के समीप कुल्ला करना, बाल झाड़ना, ष्ठौच करना, गन्दगी करना, कूड़ा-करकट फेंकने आदि कार्यों को वर्जित किया है-

अम्बु न क्षोभयेदङ्गैः पादनोत्साद येन्न च।

नाचरेतो ज्लवन क्रीडां न गण्डुषं जलं क्षिपेत्।

अन्योन्यं न क्षिपेत् तोयं न देह मलमुत्सष्ठेत्।

न कुत्सयेदम्बु तीर्थमन्यत् तत्र न कीर्तयेत्॥ (*ष्ठाण्डिल्य स्मष्ठि*)

नदियों एवं जलाष्ठायों में देह को मलमल कर नहाना मना किया गया है-

'मल प्रक्षालयेत्तीरे ततः स्नानं समाचरेत्'।

इसके साथ ही जलाष्ठायों के संरक्षण की व्यवस्था भी की गयी है। तालाब, सरोवर इत्यादि जलाष्ठायों को नष्ट करने वाले व्यक्ति को मष्ठ्युदण्ड देने का प्रावधान भी किया गया है- **'तडाग देवतागार भेदकान् घातयेन्नष्ठ।'**

हमारे धर्मष्ठास्त्रों में नदियों में मूत्र, कफ, मल त्याग करने वाले को नरकगामी माना गया है-

मूत्र ष्ठ्लेष्म पुरीषाणि यैरूत्सष्ट्टानि वारिणि।
ते पाल्यन्ते न विष्मूत्र दुर्गन्धे यूपपूरिते॥

धर्मग्रन्थों के अनुसार जलाष्ठायों के प्रकार

उपयोग एवं निर्माण की दष्ट्टि से महाभारत में वेदव्यास ने तालाब एवं जलस्रोतों को निम्न चार प्रकार से वर्गीकरण किया है-

1. **कूप**- जिसका व्यास 7 फीट से 75 फीट हो।
2. **वापी**- छोटा चौकोर पोखर, लम्बाई 75 से 150 फीट हो जिसमें जल-स्तर पर पाँव के सहारे पहुँचा जा सके।
3. **पुष्करणी**-छोटा पोखर, गोलाकार जिसका व्यास 150 से 300 फीट तक हो।
4. **तड़ाग**- चौकोर पोखर, जिसकी लम्बाई 300 से 400 फीट तक हो।

जलाष्ठायों में जीवन का वितरण

झील व पोखर आदि समान रूप से विभिन्न धरातलीय जीवों में पाये जाने वाले जलाष्ठाय हैं जो गहराई व आकार की दष्ट्टि से विविधता प्रदर्ष्ठित करते हैं। पोखर स्थायी जल तथा वर्षा जल पर निर्भर व अस्थायी दोनों प्रकार के होते हैं। स्थलीय जीव क्षेत्र की अपेक्षा जलीय जीवन की परिस्थितिता सर्वथा भिन्न होती है। स्थलीय जीवों में जहाँ सर्वाधिक तापमान से प्रभावित होते हैं, जलीय आवासों में लवण, खनिज, पोषक तत्त्व तथा प्रकाष्ठा इसके उल्लेखनीय कारक हैं। जल में आवासीय जीवन मुख्यत: तीन प्रकार के होते हैं-

1. **प्लवक**- ऐसे सूक्ष्म जीव जो प्लवित अवस्था में जीवन व्यतीत करते हैं तथा जिनकी गति लहरों की दया पर निर्भर करती है।
2. **तरणक**- ये तीव्र गति से तैरते घूमते प्राणी हैं जो प्राय: खाद्य-श्रंष्ठ्खला के अन्तिम छोर पर विद्यमान होते हैं।

3. **नितलक**- यह तली पर रहने वाले पौधे या प्राणी हैं। ये या तो तली से चिपके रहते हैं या तल की सतह पर ही विचरण करते हैं।

उष्ण कटिबन्धीय तालाबों में तापीय स्तरण नहीं पाया जाता है। किन्तु समष्ठीतोष्ण प्रदेष्ठों से जलाष्ठायों में स्पष्ट तापीय-स्तरज दर्ष्ठाते हैं। जल के सर्वाधिक घनत्व का होना जलाष्ठाय की उपयोगिता को बढ़ाता है। इस गुण के कारण किसी झील का सारा जल बर्फ के रूप में जम नहीं पाता। जल के इन्हीं गुणों के कारण गहरे जलाष्ठायों में एक बार तापमान बदल जाने के बाद वायु के तापमान के साथ सारे पानी का तापमान ष्ठीघ्र नहीं बदलता है। इस प्रकार समष्ठीतोष्ण प्रदेष्ठों के गहरे पोखरों में तापमान के तीन प्रमुख स्तर बन जाते हैं।

यदि जलाष्ठाय की खुली सतह पर जलकुम्भी (Eichornia) सरीखे मैक्सिकन पौधे (जो कि पूरे भारतवर्ष के जलाष्ठायों में खरपतवार की तरह फैल गये हैं) आ गये तो दिन-दूने, रात-चौगुने बढ़कर पूरे जलाष्ठाय की सतह को घेर लेते हैं। भारत में कष्ठमीर से कन्याकुमारी तक नाना प्रकार के छोटे-बड़े जलाष्ठायों की दुर्गति इस पौधे ने की है। इसके कारण ही प्रकाष्ठा की किरणें जलाष्ठायों के अन्दर नहीं पहुँच पाती हैं। प्रकाष्ठा संष्ठलेषण की प्रक्रिया में ऑक्सीजन की कमी हो जाती है। यदि जलकुम्भी तथा एजोला के पौधों को मिलाकर धान के खेतों में खाद के रूप में उपयोग किया जाये तो धान के फसलों की उत्पादन क्षमता में लगभग 30-40 प्रतिष्ठात की वष्ठृद्धि हो जाती है।

निचलौल के आस-पास के कुछ प्रमुख जलाष्ठाय

सेमरी ताल- यह ताल नेपाल में नारायणी नदी (गण्डक) के बेसिन में व्यस्थित है। भारत-नेपाल सीमा पर स्थित एक मात्र ताल है जो प्रसिद्ध पहाड़ी दुर्लभ संकटग्रस्त पक्षियों एवं विविध प्रकार की मछलियों के लिए प्रसिद्ध है।

गैड़ा ताल- चितवन राष्ट्रीय-निकुंज से सटे नवलपरासी जिले में स्थित यह ताल गैण्डों के पानी पीने का स्रोत है। नारायणी नदी के पष्ठिचम में स्थित यह ताल हिमालयी पक्षियों तथा साइबेरियन पक्षियों का निवास स्थान भी है।

देवदह पोखरी- रूपन्देही जिले के देवदह नगर से सटा हुआ नवलपरासी जिले का यह ताल बौद्ध धर्मावलम्बियों की आस्था का केन्द्र है। ऐतिहासिक दष्ठष्टिकोण से यह ताल ष्ठाक्यवंष्ठीय राजाओं के समय का माना जाता है।

इन तालों के अतिरिक्त अमर पोखरी, धनेवा पोखरी, हल्दिया ताल, ष्ठानीष्ठचरे ताल विभिन्न पक्षियों के वास स्थान के रूप में प्रसिद्ध है।

दर्जिनिया ताल- महराजगंज जिले के प्रसिद्ध सोहगीबरवा वन्यजीव अभयारण्य के पूर्वी क्षेत्र के

मध्य भाग में स्थित दर्जिनिया प्राकष्टिक ताल वैसे तो घड़ियालों एवं मगरमच्छों के लिए प्रसिद्ध है लेकिन साथ ही साथ सर्दी के मौसम में प्रारम्भ में ही साइबेरियन पक्षियों के कोलाहल से गुंजायमान हो जाता है। यहाँ पर अजगर, मछली, अन्य देष्ठी पक्षी जैसे लालसर, डिगवच, बोदर, गैरी तथा अन्य पहाड़ी चिड़ियों से हमेष्ठा युक्त रहता है। यहाँ राजकीय पक्षी सारस की बहुलता सहसा ही मन को आकर्षित करता है। इसके साथ ही वन्यजीव हिरन, नीलगाय, जंगली सुअर, चीता, ष्ठोर, अजगर आदि के प्यास बुझाने का यह प्रमुख स्रोत है।

लमुहा ताल- यह ताल महराजगंज जिले के प्रसिद्ध ष्ठिवमन्दिर इटहिया के पास स्थित है। जनश्रुतियों के अनुसार इसकी खुदाई 250 वर्ष पहले इस तराई में बसे थारू जनजातियों के द्वारा की गयी। इसके आस-पास आज भी खुदाई में जनजातियों द्वारा प्रयुक्त सामान्य वस्तुएँ आसानी से देखी जा सकती हैं। लम्बे व आयताकार होने के कारण इस ताल का नाम लमुहा ताल पड़ा। यह इस परिक्षेत्र की मानवनिर्मित सबसे बड़ी ताल है। इसका प्रयोग वर्तमान में सिंचाई, मछली पालन एवं अन्य कष्ठि सम्बन्धी कार्यों में किया जाता है।

कुड़ियां ताल- प्राकष्टिक तालों में अपना विष्ठिष्ट स्थान रखने के साथ ही धार्मिक दष्टिकोण से इस क्षेत्र का प्रमुख ताल है। जनश्रुतियों के अनुसार पहले यहाँ गाँव बसा हुआ था। अचानक दैवीय प्रकोप के कारण गाँव के धँसने से इस ताल का निर्माण हुआ है। इस ताल के किनारे ही प्रसिद्ध कुड़ियां देवी का प्राचीन मन्दिर है जो इस क्षेत्र में धार्मिक आस्था का प्रमुख केन्द्र है। यहाँ दोनों नवरात्रों में भक्तों की भारी भीड़ देखने को मिलती है। सुरम्य वातावरण में स्थित यह ताल पुरानी मछलियों तथा रक्त कमल पुष्प, सिंघाड़ा, जंगली पक्षियों व अजगर साँपों के लिए प्रसिद्ध है। सुबह के समय जंगलों के बीच से दिखता हुआ सूर्य और पत्तियों से छनकर आती हुई सूर्य की किरणें कमल के साथ मन को बरबस ही मोहित करती हैं। कोई भी प्रकष्टि प्रेमी बिना इस ताल को देखे नहीं रह सकता।

पुरैना (पुरइनिया) ताल- महराजगंज मुख्यालय से पूर्व की ओर लगभग 20 कि.मी. पर स्थित है। पुरइन पत्ता (ग्रामीण भोजों में खाने के प्लेट के लिए प्रयुक्त होता है) की अधिकता के कारण इसका नाम पुरैना ताल पड़ा। इस ताल के नाम पर ही इसके चारों ओर विकसित गाँव को पुरैना गाँव के नाम से जाना जाता है। ऐतिहासिक दष्टिकोण से इस ताल का विष्ठेष स्थान है क्योंकि इसके चारों ओर बौद्धकालीन टीले, मिट्टी के बर्तन के अवष्ठेष प्राप्त होते हैं।

चिरवहियाँ ताल- महराजगंज जनपद के निचलौल परिक्षेत्र में स्थित है। यह घने जंगल के बीच में एक विषुवतरेखीय नदी के समान बलखाती हुई यह ताल प्रसिद्ध जंगली व पहाड़ी संकटग्रस्त पक्षियों के लिए विष्ठेष रूप से जाना जाता है। अजगर, गेहुँअन सर्प के साथ ही रोहू, भाकुर, बरारी, माँगुर मछलियों के लिए प्रसिद्ध है। ठण्डियों में ष्ठवेत कमल का आकर्षण पानी पर तैरते हुए हिम

के समान प्रतीत होते हैं।

उपर्युक्त तालों के अलावा रोहू, मोय, मांगुर मछली एवं दुर्लभ जंगली चिड़ियों के लिए प्रसिद्ध लेदीमन ताल मछलियों के लिए प्रसिद्ध ताल झवही ताल, मछलियों व देष्ठी पक्षियों के लिए पड़िया ताल, मछलियों एवं चिड़ियों के लिए प्रसिद्ध अटेरवां ताल, रोहू मछली के लिए प्रसिद्ध बैदौली ताल, सांस्कष्ठिक मेलों के लिए प्रसिद्ध मानव निर्मित दामोदरी ताल तथा बौलिया ताल इस क्षेत्र की प्राकष्ठिक ष्ठोभा बढ़ाते हैं।

हमारा भविष्य वर्तमान से बेहतर हो और सुरक्षित भी तो आइए, हम सब नेपालवासी एवं भारतवासी मिल-जुलकर अपनी साझी विरासत के इस अनमोल मोती (ताल-संस्कष्ठि) को जीवित रखें ताकि धरती की जैव-विविधता का संरक्षण हो।

卐

ब्रह्मलीन महंत अवेद्यनाथ निःष्ठुल्क प्राथमिक उपचार केन्द्र
स्वास्थ्य परीक्षण कराते ग्रामीणजन

आदर्श शिक्षक

डॉ. वेद प्रकाश पाण्डेय*

मैं साहित्य का विद्यार्थी हूँ। मैंने शिक्षाशास्त्र के ग्रन्थ नहीं पढ़े हैं। कोई प्रशिक्षण भी नहीं लिया है। इस लेख में आदर्श शिक्षक के विषय में मैंने जो कुछ निवेदन किया है वह मेरे अब तक के अर्जित ज्ञान, अनुभव और कल्पना पर आधारित है।

- आदर्श शिक्षक वह होता है जो अपनी रुचि और प्रकृति से शिक्षक बनता है। मजबूरी में, वृत्ति के लिए कोई भी शिक्षक हो सकता है किन्तु वह आदर्श शिक्षक नहीं हो सकता।
- आदर्श शिक्षक में मनोविज्ञान सहित अन्य विषयों के सामान्य ज्ञान के साथ अपने विषय का विशिष्ट ज्ञान होता है।
- वह अभिव्यक्ति और विश्लेषण में सक्षम होता है। शिक्षक, वकील और नेता के लिए यह गुण/सामर्थ्य जरूरी है।
- वह सादगी पसन्द, मूल्यजीवी, नैतिक और शीलवान होता है। वह कक्षा के बाहर भी वैसा ही दिखता है जैसा कक्षा में।
- आदर्श शिक्षक छात्र की रुचि/प्रकृति/स्वभाव/सामर्थ्य के अनुसार उसकी दिशा का निर्धारण/संकेत करता है।
- वह छात्रों को समुदाय और राष्ट्र के प्रति उत्तरदायी बनाता है।
- आदर्श शिक्षक वह होता है जिससे उसकी संस्था की पहचान बनती है।
- उसमें वाणी के संयम के साथ हर प्रकार का संयम होता है।
- वह अपने छात्रों के प्रति सदाशयी, वत्सल और सहयोग तत्पर होता है।
- उसे भाषा का स्तरीय ज्ञान होता है।
- वह कक्षा में तैयारी के साथ जाता है। किसी छात्र के किसी प्रश्न का सही उत्तर ज्ञात न होने पर गलत उत्तर नहीं देता है। नि:संकोच भाव से 'कल बतायेंगे' कहता है। कक्षा से निकलते ही

*पूर्व प्राचार्य, किसान पी.जी. कॉलेज, सेवरही (कुशीनगर)

सही उत्तर की तलाश में जुट जाता है। दूसरे दिन उत्तर देकर ही अपना कार्य आरम्भ करता है।

- बच्चों द्वारा प्रश्न पूछने पर न झुँझलाता है न तो उन्हें हतोत्साहित करता है। हाँ, किसी के अनर्गल/असंगत प्रश्न पर मर्यादित टिप्पणी जरूर करता है।
- समय का अनुशासन और प्रबन्धन उसके लिए वरेण्य होता है।
- परीक्षा में कदाचार का विरोधी, मूल्यांकन में ईमानदार और नैतिक रहता है।
- उसमें गम्भीरता के साथ मर्यादित और शिष्ट विनोदप्रियता होती है।
- वह नित्य विद्यार्थी होता है। पढ़ना उसके स्वभाव का अंग होता है।
- वह बच्चों के सामने अपने अधिकारियों/सहकर्मियों की निन्दा-आलोचना नहीं करता।
- वह खुशामद नहीं करता। खुशामद पसन्द भी नहीं होता।
- बच्चों से मर्यादित दूरी रखता है।
- अपने छात्र की कमजोरियों को नजरअंदाज नहीं करता। सुधार करता है।
- अपने अज्ञान को छिपाता नहीं, उसे दूर करने का उद्यम करता है।
- बड़ा शिक्षक बनने का प्रयत्न करता है। किसी महान शिक्षक को आदर्श रूप में स्वीकार करता है।
- सिर्फ सूचनाएँ देना या परीक्षा में उत्तीर्ण करा देना आदर्श शिक्षक का काम नहीं है। सूचनाएँ तो पुस्तकों एवं इण्टरनेट से भी मिल जाती हैं। आदर्श शिक्षक का काम है बच्चे को दृष्टि देना, विजन देना, उसे कुछ होने, करने की प्रेरणा देना। उसकी आँखों में सपना जगा देना। उसे विवेकवान बनाना। यहाँ किसी विचारक का एक कथन देना उचित है-

  "A mediocer teacher tells, a good teacher explains, a superior teachr demonstrates and an exceptional teacher inspires."
- तकिया कलाम (जो है कि, क्या नाम से, I mean to say, यानी, जैसे कि आदि) का सहारा नहीं लेता है।
- शब्द और संख्या का शुद्ध-प्रामाणिक उच्चारण करता है।
- आदर्श शिक्षक की प्रतिबद्धता अपने काम के प्रति होती है।
- वह अपने पेशे से सन्तुष्ट रहता है। अपने कार्य से आनन्द प्राप्त करता है। "यह विसंगति जिन्दगी के द्वार सौ-सौ बार रोई/ चाह में है और कोई बाँह में है और कोई" जैसी कुण्ठा का शिकार नहीं होता।

- ष्ठिक्षण की कलाओं से अभिज्ञ होता है।
- उसमें आदान और सम्प्रदान दोनों के प्रति उत्कण्ठा/बेचैनी होती है।
- आदर्श ष्ठिक्षक साहित्य के श्रंष्ठारिक स्थलों को न तो छोड़ता है, न ही उसकी कुरुचिपूर्ण व्याख्या करता है। वह ष्ठिष्ट भाषा में गम्भीरतापूर्वक उसकी व्याख्या करता है। संकेतों/प्रतीकों का आश्रय ग्रहण करता है।
- वह ष्ठिष्ठुओं को एक सफल अदाकार, किष्ठोरों को एक कुष्ठाल मनोवैज्ञानिक और युवकों का एक समर्थ समाजष्ठास्त्री की भाँति पढ़ाने में दक्ष होता है।
- आदर्श ष्ठिक्षक काम-ष्ठिक्षा (Sex education) का ष्ठिक्षण एक वैज्ञानिक/ एक चिकित्सक की तरह कर सकता है। वह इसके लिए अपेक्षित ज्ञान, अनुभव, ष्ठाब्दावली, संयम और गरिमा से युक्त होता है।
- वह 'जिन्दगी की किताब का सोलहवाँ अध्याय' भी (अपने छात्र-छात्राओं को) पढ़ा सकता है। जहाँ सभी निरुपाय दिखते हैं; वहाँ वह समर्थ दिखता है।

"विषय नया भाषा जटिल, गुरुजन सब निरुपाय।
कैसे पढ़ लूँ उमर का, सोलहवाँ अध्याय।।"

- आदर्श ष्ठिक्षक अपने कार्य को अपनी मुक्ति का द्वार मानता है। वह अगले जन्म में भी ष्ठिक्षक होने की कामना करता है।
- आदर्श ष्ठिक्षक में अमष्ठ का अधिवास होता है। उसकी स्नेहिल-स्निग्ध-वत्सल दष्ठिट में, उसके करों के कोमल स्पर्ष्ठा में और अन्तर से फूटी स्नेहार्द्र वाणी में अमष्ठ होता है। जादू होता है।
- वह आत्मदानी होता है। अपने ष्ठिष्यों को निःष्ठोष होने की सीमा तक देता रहता है।

मेरी दष्ठिट में उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न ष्ठिक्षक आदर्श ष्ठिक्षक होता है। मैं ऐसे ष्ठिक्षक को ष्ठतष्ठा: प्रणाम करता हूँ।

मैं मानता हूँ कि एक व्यक्ति उपर्युक्त सभी गुणों से विभूषित नहीं भी हो सकता है किन्तु उसमें अधिकतम का अधिवास अपेक्षित एवं वरेण्य है।

आचार्यों का मत है कि आदर्श, चाहे उसका क्षेत्र जो हो, इतना ऊँचा होता है कि उसे सर्वांष्ठात: पा लेना कठिन-प्राय: असम्भव होता है। हाँ, उसे पा लेने की चाह मनुष्य को ऊँचा उठाती चली जाती है। लगातार ऊँचा उठना ही लोक-दष्ठिट में आदर्श होना है।

卐

शिक्षा का वर्तमान परिदृश्य : एक मूल्यांकन

डॉ. सरोज कुमार वर्मा*

शिक्षा के दो पक्ष होते हैं- एक आन्तरिक, जिसमें पाठ्यक्रम आता है और दूसरा बाह्य, जिसमें पद्धति आती है। यह दूसरा पक्ष पहले से तय होता है। यानी पाठ्यक्रम से पद्धति निर्धारित होती है। क्या पढ़ना है, इस पर निर्भर करता है कि उसे कैसे पढ़ाया जाये? इसलिए जिस विधि से विज्ञान पढ़ाया जाता है, उसी विधि से कला नहीं पढ़ाई जा सकती; ठीक वैसे ही जैसे जिस तरीके से तर्क किया जाता है, उसी तरीके से प्रेम नहीं किया जा सकता। विषय के हिसाब से विधि बदल जाती है। इसलिए शिक्षा पर विचार करते वक्त सबसे पहले इस पर विचार किया जाना जरूरी है कि पढ़ाया क्या जाये? यानी पाठ्यक्रम क्या हो?

यही सवाल शिक्षा का उद्देष्टय तय करता है। आखिर हमें शिक्षा क्यों चाहिए? हम शिक्षित होकर क्या करेंगे? शिक्षा हममें कौन-सी तब्दीली लायेगी? इससे हमारी किस समस्या का समाधान होने वाला है? यह सवाल आज भी उतना ही प्रासंगिक और महत्त्वपूर्ण है जितना उस दिन रहा होगा, जिस दिन पहली बार किसी ने शिक्षा की आवष्टयकता महसूस की होगी और इसका जवाब आज भी वही होगा, जो सम्भवत: उस दिन दिया गया होगा कि शिक्षा मनुष्य को विकसित करती है। उसे सभ्य बनाती है। सामाजिक बनाती है। यानी कुल मिलाकर उसे सही ढंग से जीना सिखाती है। कोई पूछ सकता है कि जब शिक्षा से सम्बन्धित सवाल और जवाब दोनों मालूम हैं तो फिर इस पर विचार करने की जरूरत क्या है?

जरूरत इसलिए है कि जीने का वह सही ढंग क्या है, यह आज तक अनुत्तरित है। 'आज तक अनुत्तरित' कहने का अर्थ यह नहीं है कि इस सही ढंग का निर्धारण कभी किया ही नहीं गया। शिक्षा से सम्बन्धित जितनी परिभाषाएँ दी गयी हैं, जितने विचार प्रस्तुत किये गये हैं, वे सब इसी ढंग निर्धारण की प्रक्रियाएँ हैं। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि निर्धारण कभी हुआ ही नहीं, बल्कि इसका अर्थ यह है कि वह सही ढंग क्या है, यह आज तक सुनिष्ठिचत नहीं हुआ और 'सुनिष्ठिचत नहीं हुआ' ऐसा भी कहना ठीक नहीं है, अपितु यह कहना ज्यादा ही ठीक होगा कि सुनिष्ठिचत हुआ, परन्तु अपने देष्ठा, काल, परिस्थिति और परिवेष्ठा के हिसाब से सुनिष्ठिचत हुआ। अब

*दर्ष्ठानष्ठाास्त्र विभाग, बी.आर.ए. बिहार विष्ठवविद्यालय, 06, व्याख्याता आवास, खबड़ा रोड, विष्ठवविद्यालय परिसर, मुजफ्फरपुर (बिहार)

चूँकि ये सभी परिवर्तनष्ठील हैं, इसलिए अतीत में जो इनका स्वरूप था, वह वर्तमान में नहीं रह गया है। फलतः कल इनके हिसाब से जो सही था, वह आज सही नहीं रह गया है। ऐसी स्थिति में अभी के हिसाब से क्या सही है, क्योंकि इसी आधार पर हमारा भविष्य सुरक्षित होगा, यह तय करना ष्ठिाक्षा का उद्देष्ठय है।

और यह उद्देष्ठय द्विआयामी है। एक आयाम तो यह है कि ष्ठिाक्षा सही पैमाना तय करे और दूसरा यह कि उस पैमाने के अनुकूल व्यक्ति निर्मित करे। इस प्रकार ष्ठिाक्षा का कुल दायित्व यह है कि वह सही मनुष्य विकसित करे। यह सही मनुष्य कैसा होगा? जो सभ्य हो, सुसंस्कृत हो, सामाजिक हो और इन सबके ऊपर सर्वहितकामी हो। यह तभी हो सकता है जब ष्ठिाक्षा के केन्द्र में मनुष्य का अस्तित्व और मनुष्यता का उत्थान हो। इस मापदण्ड पर यह तय करना आवष्ठयक है कि क्या आज की ष्ठिाक्षा इस उद्देष्ठय को पूरा कर रही है? ऐसा मनुष्य निर्मित कर रही है?

उत्तर होगा- नहीं। बिल्कुल नहीं। आज की ष्ठिाक्षा तो मनुष्य को मनुष्य होने से ही वंचित कर रही है। उसकी मनुष्यता को ही खारिज कर रही है। वह व्यक्ति को वे तमाम चीजें सिखाती है, जो मनुष्यता के लिए घातक हैं, उसके विपरीत पड़ती हैं। मसलन- प्रतियोगिता, तुलना, महत्त्वाकांक्षा, अहंकार, परिग्रह, स्वार्थपरता आदि और इन्हीं से पैदा होती है- हिंसा, आतंक, धर्मान्धता, राष्ट्रद्वन्द्विता, विद्वेष और विनाष्ठा की आकांक्षा वगैरह। ये सब मनुष्यता को नष्ट करने वाले तत्त्व हैं। मनुष्य के वजूद को मिटा देने की प्रक्रियाएँ हैं। इसलिए ठहरकर सोचना होगा कि भूल कहाँ हो रही है? कैसे मनुष्य की बेहतरी के लिए किया जाने वाला उपक्रम उसे बदतर बनाये जा रहा है?

इसके मूल में भौतिक विकास की वर्तमान अवधारणा है। इस अवधारणा के मुताबिक वह व्यक्ति अथवा देष्ठा विकसित है जो भौतिक रूप से समृद्ध है। जिसके पास यह समृद्धि नहीं है वह अविकसित है। इसी मापदण्ड के आधार पर दुनिया के सारे देष्ठा दो हिस्सों में बँट गये हैं- एक विकसित और दूसरा विकासष्ठील। विकसित वह है जिसके पास अतुल सम्पत्ति है और विकासष्ठील वह है जिसके पास इतनी सम्पत्ति नहीं है, मगर उसे प्राप्त करना है। इस सम्पत्ति के प्राप्त करने का आधार उद्योग और व्यापार है। इसलिए जो देष्ठा औद्योगिक रूप से जितना उन्नत है और व्यापार में जितना कुष्ठाल है उतना ही विकसित है और बाकी के विकासष्ठील देष्ठों को भी यह उन्नति और कुष्ठालता हासिल करनी है। ये विकसित देष्ठा उद्योगों के द्वारा दैहिक सुख के लिए अनावष्ठयक सामग्री अकूत मात्रा में पैदा करते हैं और विकासष्ठील देष्ठों में उन्हें ऊँची कीमत पर बेचकर अपनी आर्थिक समृद्धि बढ़ाते हैं।

इसमें वे तकनीक का भी भरपूर इस्तेमाल करते हैं और कोई विरोध न करे इसके लिए नये-नये अत्याधुनिक हथियार निर्मित कर उसका जखीरा लगाते हैं। कुल मिलाकर अभी विकास

का जो ढाँचा है उसके केन्द्र में भौतिक समृद्धि है और उस समृद्धि के चार स्तम्भ हैं- आर्थिक, औद्योगिक, तकनीकी और सामरिक। इन्हीं चार स्तम्भों पर अभी का सारा विकास टिका हुआ है। इसलिए जिस देश के चारों स्तम्भ सुदृढ़ हैं, वह विकसित है और यह केवल देश के स्तर पर नहीं है, व्यक्ति के स्तर पर भी है। जिस व्यक्ति के पास आर्थिक सम्पन्नता जितनी अधिक है, जिसको तकनीकी ज्ञान जितना ज्यादा है, जिसके पास व्यापारिक कुशलता जितनी अधिक है तथा जो बाहुबल से जितना मजबूत है, वह उतना ही ज्यादा विकसित है। समाज में उसकी प्रतिष्ठा है, साख है। वह बड़ा और माननीय है।

अब जाहिर-सी बात है कि जब शिक्षा मनुष्य को विकसित करने का उपक्रम है और विकास का यह पैमाना है तो शिक्षा स्वभावत: और अनिवार्यत: उन प्रक्रियाओं में संलग्न हो जायेगी, जिनसे यह विकास सम्भव होता है। अभी शिक्षा के नाम पर जो तकनीकी, औद्योगिक, व्यापारिक और प्रबन्धात्मक शिक्षा दी जा रही है वह सब इसी के कारण है। सूचना-तकनीक, व्यापार-प्रबन्धन, कम्प्यूटर-इंजीनियरिंग अथवा विज्ञापन-व्यवस्था आदि जो शिक्षा के मुख्य विषय हो गये हैं, उसका कुल उद्देश्य यही है। इसी वजह से अभी के पाठ्यक्रम में इन सारे विषयों को प्रमुखता से शामिल किया गया है और उसी के अनुरूप शिक्षण-पद्धति निर्मित की गयी है।

यद्यपि इन सारे विषयों की शिक्षा रोजगारपरक शिक्षा के नाम पर दी जाती है, परन्तु एक तो इन्हीं सारे क्षेत्रों में रोजगार के अवसर इजाद किये गये हैं, इसलिए ये सारे विषय रोजगारपरक हो गये हैं और दूसरे अब यह सिर्फ रोजगार का मामला नहीं रह गया है, आर्थिक प्रचुरता का मामला बन गया है। इन क्षेत्रों में असीम आय है, इसलिए ये विषय इतने प्रमुख बन गये हैं। कल जब इन क्षेत्रों में न तो रोजगार के अवसर इजाद किये गये थे और न इतनी अधिक आय थी तो दूसरे अन्य कई विषय रोजगारपरक थे। अत: आज यदि ये विषय रोजगारपरक और प्रचुर आय के साधन बन गये हैं तो इसके पीछे भी विकास की यही अवधारणा है।

इस प्रकार अभी की शिक्षा केवल भौतिक विकास, बाह्य समृद्धि, दैहिक सुख आदि से जुड़ी हुई है और इन्हीं उद्देश्यों की प्राप्ति में संलग्न है। इसमें मानसिक शान्ति, आध्यात्मिक उत्थान तथा आन्तरिक प्रगति आदि के लिए कोई जगह नहीं है। इसीलिए दर्शन, साहित्य, संगीत, कला आदि विषय जो मनुष्य को भीतर से विकसित करते हैं, हाशिये पर चले गये हैं; जबकि इनके बगैर मनुष्यता सही मायने में विकसित ही नहीं हो सकती।

लेकिन विडम्बना यह है कि जो लोग शिक्षा पर निरन्तर विचार करते हैं, बच्चों के बस्ते के बोझ से चिन्तित हैं, उन्हें खेलने के पर्याप्त अवकाश नहीं मिल पाने से दुखी हैं, उनमें उपजने वाले मानसिक विकारों से त्रस्त हैं और उनके रोबोट होते जाने से आक्रान्त हैं, वे भी इस मूल कारण पर ऊँगली नहीं रखते। वे विकास की इसी अवधारणा को स्वीकारते हुए शिक्षा में सुधार लाना चाहते

हैं, जो कि सम्भव नहीं है। यह नीम रोपकर आम पाने का प्रयास है। आखिर इस व्यवस्था में यह कैसे सम्भव है?

जब सबको अधिकतम समृद्धि चाहिए तो उसके लिए गलाकाट प्रतिस्पर्धा होगी और उसमें सब अव्वल आना चाहेंगे। ऐसी स्थिति में छाँटने के तमाम उपाय करने पड़ेंगे और चुनाव का सख्त पैमाना अख्तियार करना पड़ेगा ताकि न्यूनतम छात्र सफल हो सकें। कहीं भी चयन के लिए उच्चतम अंकों की अनिवार्यता और बेहद कठिन प्रतियोगिता के प्रावधान का यही कारण है। ऐसी दु:स्थिति में किसी छात्र को अवकाश कैसे मिलेगा? उसकी पढ़ाई का तनाव कैसे कम होगा?

यह हो सके इसके लिए तो आवश्यक है कि उस अन्धी दौड़ में शामिल न हुआ जाये और शामिल न होने के लिए आवश्यक है कि न्यूनतम सुविधाओं के साथ जीया जाये। लेकिन तब फिर इस विकास का क्या होगा? यही शिक्षा का परिदृश्य है। अत: शिक्षा पर विचार करने के क्रम में सबसे पहली जरूरत यह है कि इस दुष्चक्र को तोड़ा जाये। इस परिदृश्य को बदला जाये।

यह बदलाव विकास की वर्तमान अवधारणा को बदलने से हो सकता है। अभी का विकास उद्योग आधारित है। इसके बदले कृषि आधारित विकास की अवधारणा विकसित की जा सकती है। एक ऐसा विकास जिसके केन्द्र में कृषि हो। यद्यपि इसमें यंत्र और उद्योग से बिल्कुल परहेज नहीं होगा। परन्तु वे केन्द्र में नहीं होंगे। केन्द्र में कृषि होगी। यही हमारी आय का मुख्य स्रोत होगी। व्यापार और उद्योग का स्थान इसके बाद होगा। ये अतिरिक्त आय के स्रोत होंगे, लेकिन कृषि की कीमत पर नहीं। कृषि को नष्ट करके इन्हें सुरक्षित नहीं किया जायेगा। ये उसके सहयोगी रहेंगे। मगर इसमें कठिनाई यह होगी कि कृषि से उतनी आय नहीं होगी, जितनी उद्योग अथवा व्यापार से होती है। तब जीवन भी उतना विलासितापूर्ण नहीं हो पायेगा जितना औद्योगिक, व्यापारिक व्यवस्था में होता है। अभी की उपभोक्तावादी जीवन शैली के लिए कृषि आधारित विकास में जगह नहीं बच पायेगी। इसके लिए हमें तैयार होना पड़ेगा। न्यूनतम सुविधाओं के साथ जीने की आदत डालनी पड़ेगी। मगर यह एक दिन में होने वाला नहीं है। यह लम्बे समय तक निरन्तर चलनेवाली एक कठिन प्रक्रिया है। शिक्षा की इसमें अहम भूमिका होगी।

लेकिन शिक्षा अपनी इस भूमिका का निर्वाह तभी कर पायेगी जब उसके अनुकूल पाठ्यक्रम और शिक्षण पद्धति की व्यवस्था हो। इसके लिए प्राथमिक स्तर से लेकर उच्च स्तर तक ऐसे विद्यालय, महाविद्यालय खोले जा सकते हैं, जिनमें कृषि-आधारित अध्ययन की व्यवस्था हो। यह तब हो सकता है जब कृषि-केन्द्रित पाठ्यक्रम बनाया जाये और उसी के अनुरूप शिक्षण पद्धति विकसित की जाये। ये विद्यालय, महाविद्यालय अभी के कृषि विश्वविद्यालयों से इस मायने में भिन्न होंगे कि अभी के कृषि विश्वविद्यालयों में कृषि तकनीक पर आधारित है, जबकि उन विद्यालयों, महाविद्यालयों में तकनीक कृषि पर आधारित होगी मसलन- सिंचाई के लिए बड़े बोरिंग कर भूमिगत

जल निकालना तकनीक आधारित कृषि का उदाहरण है, जबकि नदियों से नहर बनाकर सिंचाई करना कृषि आधारित तकनीक का उदाहरण है। ऐसे नवनिर्मित शिक्षण-संस्थानों में तकनीक कृषि का सहयोगी होगा, कृषि तकनीक पर आधारित नहीं होगी।

इन शिक्षण-संस्थाओं में एक व्यवस्था और करनी पड़ेगी, जो आध्यात्मिक विकास की होगी। आध्यात्मिक विकास आत्मबोध से होता है और आत्मबोध ध्यान-साधना से होता है। इसलिए इन संस्थानों के पाठ्यक्रम में ध्यान-साधना की पद्धतियों को शामिल करना होगा। उनके नियमित अभ्यास की व्यवस्था करनी पड़ेगी। यह व्यवस्था शिक्षण-पद्धति का अंग होगी। यह इसलिए करना होगा कि आत्मबोध को उपलब्ध व्यक्ति भौतिकता की दौड़ में शामिल नहीं होता। वह भीतर से इतना समृद्ध होता है कि बाहर की समृद्धि की उसे जरूरत ही नहीं पड़ती। इससे उसकी आन्तरिक मजबूती बढ़ती है और वह धन, पद, सत्ता, सम्मान आदि के बाहरी हमलों से विचलित नहीं होता बल्कि जरूरत के मुताबिक न्यूनतम सुविधाओं के साथ जीने में समर्थ होता है। यदि वैचारिक प्रशिक्षण से भी इस तरह की समर्थता आती है तो इस तरह का प्रशिक्षण दिया जा सकता है।

ऐसे शिक्षण-संस्थान सरकार तो खोल ही सकती है, सरकार से मदद लेकर स्वतंत्र संगठन अथवा संस्थाएँ भी खोल सकती हैं। जब इस तरह के शिक्षण-संस्थान खोले जायेंगे, उसमें इस तरह का पाठ्यक्रम लागू होगा और इस तरह की शिक्षण-पद्धति अपनायी जायेगी तो वहाँ पढ़ने वाले छात्रों के बस्ते का बोझ भी कम होगा, उन्हें खेलने के अवसर भी मिलेंगे और बड़े होकर जब इन संस्थानों से बाहर निकलेंगे तो उनमें दूसरे से आगे निकलने की घातक प्रतिस्पर्धा तथा अनावश्यक वस्तुओं को संग्रह करने की विकृत होड़ नहीं रहेगी, क्योंकि वहाँ उनका स्वस्थ विकास हुआ रहेगा। उस विकास में शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और आत्मिक सभी विकास शामिल होंगे। इससे उनका व्यक्तित्व संतुलित होगा। वे लिप्साग्रस्त होकर बेतहाशा उपभोग के आकांक्षी नहीं होंगे। इसके विपरीत वे न्यूनतम सुविधाओं के साथ जीने के अभ्यासी होंगे। इसकी शुरुआत भारत से हो सकती है।

भारत में प्रतिभाओं की कमी नहीं है। यहाँ की प्रतिभाएँ सारी दुनिया में अव्वल आती हैं। यहाँ श्रमिकों की भी कमी नहीं है। यहाँ के श्रमिक पूरे विश्व में फैले हुए हैं। यहाँ जमीन की भी कमी नहीं है। यहाँ की बहुत सारी जमीन बंजर पड़ी हुई है। यहाँ नदियों की कमी नहीं है। कई नदियों का संजाल बिछा हुआ है। मतलब यहाँ कृषिकेन्द्रित विकास के लिए आधारभूत संरचनाओं की कमी नहीं है। कमी है तो सिर्फ आत्मविश्वास की, कुशाल नेतृत्व की। यहाँ के पेशेवर नेताओं से कोई उम्मीद नहीं की जा सकती। उन्होंने ही यहाँ की जनता को आत्महीनता के बोध से भर दिया है। इसलिए जो लोग यह प्रयास करना चाहते हैं उन्हें पूरे आत्मविश्वास के साथ यहाँ का नेतृत्व करना पड़ेगा अथवा यहाँ की जनता के बीच से ही ऐसे नेता का चुनाव करना पड़ेगा, जिसमें देशा को लेकर आत्मगौरव से और जो इतना मजबूत हो कि राजनीति की काली कोठरी में भी बेदाग रह

सके। अँधेरा कितना भी घना हो और कितना भी पुराना, माचिस की एक जलती हुई तीली से दूर हो सकता है। जरूरत उस तीली को जलाने की है। यह तीली आत्मविश्वास और दृढ़ संकल्प से जल सकती है। इस तीली की रोशनी में एक नयी पगडण्डी निर्मित हो सकती है, जिस पर यदि अकेले भी यात्रा शुरू की जाये तो पीछे आने वाले कारवाँ से वह विस्तृत राजपथ में बदल जायेगी।

परन्तु इस पगडण्डी पर चलने में सबसे बड़ा भय अपने पिछड़ जाने का है जबकि जिसे अभी विकास कहा जा रहा है वही वास्तव में पिछड़ापन है। आखिर देह का विकास भी कितना और क्या हो सकता है? कोल्हू के बैल की तरह एक सीमित दायरा है उसका। असीम और अनन्त विकास तो चेतना का ही हो सकता है। अछोर आकाश में उड़ते पंछियों की तरह। इसलिए घबड़ाने की जरूरत नहीं है। किसी लम्बी पंक्ति का आखिरी व्यक्ति यदि अपना रुख बदल ले तो वही पहला हो जाता है। भारत को भी अपना रुख बदलना पड़ेगा। अपनी दिशा मोड़नी पड़ेगी। यह मोड़ नयी यात्रा की शुरुआत बन सकती है, बशर्ते कि वह शिक्षा की एक नयी परिभाषा गढ़े, उसके अनुरूप योजना बनाये और उसके कार्यान्वयन का न केवल ठोस संकल्प ले बल्कि उस पर काम भी शुरू कर दें।

यह काम किसी पुराने गिरते हुए ढाँचे को इधर-उधर से ठीक-ठाक करके बचा लेने भर का नहीं है, बल्कि जर्जर हो गये खतरनाक ढाँचे को पूरी तरह ध्वस्त करके नया ढाँचा निर्मित करने का है। चूते छप्पर को प्लास्टिक से ढककर एक-आध बारिश काटी जा सकती है, पूरा जीवन नहीं गुजारा जा सकता। उसके लिए तो नया मकान ही बनाना पड़ता है। भारत को भी इस जर्जरता से मुक्ति चाहिए। लीक पर बेहोशी में दौड़ते हुए पागलों की जमात से मुक्ति चाहिए। यह मुक्ति उसे पागलों की जमात से अलग होकर उस जर्जरता के ध्वंस और नये के निर्माण से मिल सकती है। इस नये निर्माण के लिए शिक्षा को भी बिल्कुल नया होना पड़ेगा। विकास, बाजार, विज्ञापन, औद्योगीकरण, उदारीकरण, भूमण्डलीकरण जैसे तमाम लिजलिजे और दलदली शब्दों के व्यामोह से अपने को बचाते हुए शिक्षा को नये अर्थबोध से युक्त करना होगा। इस नयेपन की तलाश के लिए ही शिक्षा के लिए गठित आयोगों की संस्तुतियों और शिक्षा से सम्बन्धित आँकड़ों की फेहरिस्त में न जाकर, क्योंकि ये सब जड़ के बदले शाखाओं को हिलाने-डुलाने का प्रयास है, शुद्ध वैचारिक स्तर पर कोई विकल्प तलाशने की कोशिश की गयी है। हो सकता है इस कोशिश से कोई नया रास्ता निकल सके। मनुष्य की बेहतरी का कोई सूत्र मिल सके।

卐

प्राचीन भारत में राष्ट्र की अवधारणा

डॉ. रमेष्ा चन्द्र खन्डूडी एवं **श्रीमती रजनी मीणा***

प्राचीन भारतीय सन्दर्भ में राष्ट्र एक भौगोलिक सांस्कष्तिक अवधारणा रही है। ऋग्वेद में राष्ट्र ष्शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख एक निष्ष्चित भू-क्षेत्र के अर्थ में हुआ है। ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षि देष्, मध्यदेष्, आर्यावर्त एवं भारतवर्ष आदि नामों से आर्य क्षेत्र का क्रमिक भू-सांस्कष्तिक विस्तारीकरण हुआ। मान्यतानुसार पौरववंष्ी चक्रवर्ती सम्राट भरत के नाम पर राष्ट्र का नाम भारतवर्ष पड़ा।

वेद, पुराण, महाभारत, रामायण, अष्टाध्यायी, जातक-साहित्य, रघुवंष्, मेघदूत एवं अन्य प्राचीन भारतीय साहित्य में भारत भूमि के जनपदों, राज्यों, नगरों, नदियों, पर्वतों, जातियों, निवासियों आदि का विस्तार से उल्लेख हुआ है। वायु पुराण का यह उल्लेख है कि हिमालय एवं समुद्र के मध्य अवस्थित भूमि भारतवर्ष है और उसमें निवास करने वाली प्रजा भारती है, भारतीय राष्ट्रीयता का प्राचीन श्रेष्ठ उदाहरण है। भारतवासी प्राचीन समय से ही भारतीय उपमहाद्वीप के भूगोल से भली-भाँति परिचित थे और सम्पूर्ण भारत भूमि के प्रति उनकी गहरी श्रद्धा थी। भारत-राष्ट्र के प्रति भावनात्मक एकता एवं भारतवासियों में सह-अस्तित्व के भाव को बनाये रखने में वैदिक संस्कष्ति, द्रविड़ीय संस्कष्तियों से आर्य संस्कष्ति का सम्पर्क एवं समन्वय, संस्कष्त भाषा एवं साहित्य की व्यापकता, ब्राह्मी लिपि व पालि भाषा का प्रसार, सनातन हिन्दू धर्म एवं उसके अनुष्ठान, हिन्दू जीवन पद्धति, दर्ष्शन एवं आध्यात्मिकता, चतुर्दिक तीर्थों की स्थापना, तीर्थ यात्रा एवं भक्ति परम्परा, हिन्दू-बौद्ध-जैन स्थापत्य एवं देव प्रतिमा कला की समरूपता आदि तत्त्वों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

भारत राष्ट्र की भू-सांस्कष्तिक एकता एवं पहचान को प्राचीन काल में उसके अनेक यष्ास्वी चक्रवर्ती सम्राटों के अखिल भारतीय राज्यों के निर्माण, सुसंगठित प्रष्ासनिक व्यवस्था एवं राष्ट्रीय एकता के लिए किये गये अनेक धार्मिक-सांस्कष्तिक कार्यों के कारण और भी अधिक बल प्राप्त हुआ।

भारत में साम्राज्य की अवधारणा वैदिक काल में अस्तित्व में आ चुकी थी। ऐतरेय ब्राह्मण में समुद्रपर्यन्त पष्वी के ष्ासकों को एकराट् कहा गया है। कौटिल्य ने चक्रवर्ती सम्राट का ष्ासन

*व्याख्याता - इतिहास, राजकीय महाविद्यालय, राजगढ़ (अलवर), राजस्थान

क्षेत्र हिमालय से लेकर आसमुद्र सम्पूर्ण भारत भूमि को माना है। चन्द्रगुप्त मौर्य प्रथम ऐतिहासिक चक्रवर्ती शासक था जिसने एक सुसंगठित केन्द्रीकृत शासन व्यवस्था द्वारा भारत के राष्ट्र राज्य की स्थापना की। अशोक महान ने पालि भाषा, ब्राह्मी लिपि, धम्म, प्रशासनिक सुधारों एवं प्रजाकल्याणकारी कार्यों के माध्यम से अपने साम्राज्य के नागरिकों में एकता एवं समानता की भावना को सुदृढ़ एवं विस्तृत किया। साम्राज्यीय गुप्त सम्राटों के काल में कला-साहित्य-विज्ञान-दर्शन-धर्म के क्षेत्र में हुए अभूतपूर्व विकास ने इस देश को न केवल सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध किया अपितु उनमें भारत राष्ट्र के प्रति गौरव भाव में वृद्धि की। गुप्तोत्तरकालीन भारत में उत्तर एवं दक्षिण भारत में अनेक प्रादेशिक राज्यों का उदय हुआ। लेकिन यहाँ उत्तर भारतीय शासकों की महत्त्वाकांक्षा समुद्रपर्यन्त राज्य विस्तार की होती थी वहीं दक्षिण भारतीय शासक हिमालय एवं गंगानदी तक अपने सैन्य अभियान कर अपने राज्य को अखिल भारतीय स्वरूप देने की अभिलाषा रखते थे। कदाचित् उन शासकों के अवचेतन में प्राचीन चक्रवर्ती सम्राटों के आदर्श विद्यमान थे।

निष्कर्षतः आधुनिक राजनीतिक सन्दर्भ में एक राष्ट्र राज्य के रूप में भारत का अस्तित्व भले ही बीसवीं शताब्दी की प्रघटना हो लेकिन एक भू-सांस्कृतिक राष्ट्र के रूप में इसकी पहचान भारतीय जनमानस में प्राचीन काल से ही निरन्तर विद्यमान रही है। प्राचीन भारत के सन्दर्भ में राष्ट्र एक भू-सांस्कृतिक अवधारणा थी। पश्चिमी साम्राज्यवादी इतिहासकारों का यह कथन कि भारत राष्ट्र केवल अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत ही एक सूत्र में बँध सका, इससे पूर्व नहीं - ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्णतः सत्य नहीं है।

राष्ट्र की अवधारणा का प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है।[1] यहाँ देश या राज्य के लिए राष्ट्र शब्द प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में राजा से राष्ट्र की रक्षा करने को कहा गया है।[2] इससे स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद काल के अन्त में राष्ट्र के अंग के रूप में क्षेत्र की परिकल्पना की जाने लगी थी। उत्तरवैदिक काल में प्रादेशिक तत्त्व का जोर क्रमशः बढ़ता गया। अथर्ववेद के निर्वाचन गान में यह अभिलाषा व्यक्त की गयी है कि राष्ट्र या प्रदेश राजा के अधिकार में रहे और वरुण, बृहस्पति, इन्द्र, अग्नि देवता उसे दृढ़ता प्रदान करें।[3] अब राजा के प्रभुत्व वाले भू-भाग का निरन्तर विस्तार होने लगा था, फलतः वे राजाधिराज, सम्राट, एकराट् जैसी विशाल उपाधियाँ धारण करने लगे। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का शासक एकराट् होता है।[4] शतपथ ब्राह्मण में भी राजा को राष्ट्रभृत या राज्य का भर्ता (पालनकर्ता) कहा गया है।[5] राजसूय तथा अश्वमेध जैसे विशाल यज्ञों का अनुष्ठान कर सम्राट अपनी शक्ति प्रदर्शित करते थे।

हमारे देश के नाम भारत अथवा भारतवर्ष की व्याख्याएँ प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध हैं। इनमें एक व्याख्या प्रकृया सांस्कृतिक है। महाभारत के वनपर्व में कहा गया है 'भरत्येष प्रजाः

सर्वस्ततो भरत उच्यते'[6] अर्थात् अग्नि भरत है क्योंकि वह प्रजाओं को भरता है। वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार 'देश में जहाँ-जहाँ अग्नि फैलती है, प्रजाएँ उसकी अनुगामी होकर उस प्रदेश में भर जाती हैं। आद्यभूसन्निवेश के समय देश विस्तार की यही राष्ट्रीय युक्ति थी.....इस प्रकार समग्र भूमि भरत-अग्नि का व्यापक क्षेत्र बन गयी और यही भरत क्षेत्र भारतवर्ष कहलाया।'[7]

दूसरी लोकप्रिय व्युत्पत्ति प्रकाश्या राजनीतिक है। पौरव वंश के प्रसिद्ध सम्राट दौःषन्ति भरत ने देश के बिखरे हुए आर्य राज्यों को जीतकर चक्रवर्ती साम्राज्य स्थापित किया था। उसके इस साम्राज्य को उसके उत्तराधिकारियों ने चिरकाल तक स्थायी बनाये रखा इसलिए वे स्वयं और उनके शासन के अन्तर्गत रहने के कारण यह देश भारत नाम से विख्यात हुआ। भरत के शासन में इस देश को राजनीतिक एकता प्राप्त हुई। परवर्ती काल में भरत नाम को और अधिक व्यापक आधार देने का प्रयास किया गया। मत्स्य पुराण में मनु को भरत कहा गया है क्योंकि उन्होंने ही सबसे पहले धर्म और न्याय की मर्यादा बाँधकर प्रजाओं के भरण-पोषण की परम्परा प्रचलित की थी। इस व्यवस्था के अनुसार जिस प्रदेश में मनु की सन्तति ने निवास किया उसका नाम भारतवर्ष पड़ा।[8]

भारतवर्ष प्राचीन काल से ही एक विशिष्ट भौगोलिक इकाई के रूप में प्राचीन भारतीय साहित्य में वर्णित होती रही है। राष्ट्र के आवश्यक तत्त्व के रूप में एक विशिष्ट भौगोलिक पहचान एवं भू-भाग की समरूपता यहाँ विद्यमान रही है। वर्तमान में भौगोलिक एवं भूगर्भीय दृष्टि से भारतवर्ष एशिया महाद्वीप के अन्तर्गत हिमालय और हिन्दुकुश के दक्षिण, हेलमन्द के पूर्व और ब्रह्मपुत्र के पूर्वी छोर के पश्चिम में एवं दक्षिण में समुद्र से परिवृत्त एक विशाल उपमहाद्वीपीय भूखण्ड है। विष्णु पुराण में इसका स्पष्ट उल्लेख है- **उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रैश्चैव दक्षिणम्। वर्स तदभारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः॥** 2/3/1 प्राचीन काल से ही भारत के लोगों को एक भौगोलिक इकाई के रूप में अपनी मातृभूमि का पूर्णरूपेण ज्ञान था और इसके प्रति उनके हृदय में श्रद्धा एवं प्रेम निहित था। अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में 'माताभूमिः पुत्रोहम् पृथिव्याः' कहकर राष्ट्रप्रेम के भारतीय दृष्टिकोण को व्यक्त किया गया है। भारत में अतिप्राचीन काल से भारती प्रजा की भौगोलिक और सांस्कृतिक एकता को निर्विवादरूपेण स्वीकृत किया गया। प्राचीन काल से ही यह देश भारतवर्ष के नाम से विख्यात था और यहाँ के निवासी भारती सन्तति कहे जाते थे। भारतवासियों ने भारत को अपनी मातृभूमि माना है और यहाँ के नदियों, पर्वतों और नगरों आदि की देवियों और देवताओं के रूप में उपासना की। उनकी इस भावना के क्रमिक विकास का इतिहास प्राचीन साहित्य में सुरक्षित है। मनुस्मृति में आर्य क्षेत्र के क्रमिक विस्तार की स्मृति सुरक्षित मिलती है, जो क्रमशः ब्रह्मावर्त (सरस्वती व दृषद्वती का मध्यवर्ती क्षेत्र), ब्रह्मर्षि देश (कुरुक्षेत्र, मत्स्य, शूरसेन तथा पांचाल जनपद क्षेत्र), मध्यदेश (उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्य, पश्चिम में उत्तरी राजस्थान और पूर्व में प्रयाग तक) तक था। बौद्ध साहित्य में मध्यदेश का विस्तार मगध तक माना गया है। पाणिनि काल

में हिमालय, विन्ध्यपर्वत और पष्ठिचमी व पूर्वी समुद्रों से घिरे विष्ठाल भूखण्ड को आर्यावर्त संज्ञा दी गयी। बौद्ध निकायों में दक्षिणापथ, कलिंग, दन्तपुर, भरूकच्छ, अष्ठमक, सोवीर आदि क्षेत्रों का उल्लेख हुआ है।[9] पाणिनि के नन्दयुगीन भाष्यकार कात्यायन समस्त भारत से परिचित थे। उन्होंने अपनी कष्ठति में सुदूर दक्षिण के पाण्ड्यों और चोलों का उल्लेख किया है।[10] चतुर्थ ष्ठताब्दी ई.पू. के अन्त में अखिल भारतीय मौर्य साम्राज्य की स्थापना, अष्ठोक के ष्ठिालालेखों की समस्त भारत में उपलब्धता तथा इनमें सुदूर दक्षिणी राज्यों का नामोल्लेख स्पष्ट करता है कि मौर्य काल तक भारतीयों को समस्त देष्ठा के भूगोल का ज्ञान हो गया था। फलतः परवर्ती युगों में भारतवर्ष की यह परिभाषा सर्वमान्य हो गयी- **"आहिमवत आकुमायां भारतवर्षम्"** अर्थात् "हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक विस्तष्ठ भौगोलिक इकाई को भारतवर्ष कहते हैं।"[11]

मौर्योत्तर एवं कुषाण कालों में भारतीयों की अखिल भारतीय भौगोलिक चेतना सुस्पष्ट और गहनतर हो जाती है। महाभाष्य में केरल अथवा मालाबार तक का उल्लेख है। चौथी ष्ठताब्दी ई. तक रचित रामायण एवं महाभारत महाकाव्यों में उत्तर भारत के भूगोल के साथ-साथ दक्षिण भारत के भूगोल का भी विस्तष्ठ परिचय मिलता है। रामायण के किष्किन्धाकाण्ड में सुग्रीव का भौगोलिक ज्ञान तथा महाभारत के सभा पर्व में सहदेव की विजय यात्रा में पाण्ड्यों, द्रविड़ों, आन्ध्रों और केरलों के पराजित किये जाने का उल्लेख है। भीष्मपर्व में उत्तर की 157 जातियों का एवं दक्षिण की 50 जातियों का उल्लेख हुआ है।[12] वायु पुराण में भारत के भौगोलिक विस्तार एवं एक भौगोलिक इकाई के रूप में उसके अस्तित्व को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है। वायु पुराण के अनुसार समुद्र के उत्तर एवं हिमालय के दक्षिण में स्थित भू-भाग का नाम भारत है और उसमें निवास करने वाली प्रजा भारती है। इसमें भारत के पूर्व में किरातों (उत्तर-पूर्व की जनजातियों) एवं पष्ठिचम में यवनों (बैक्ट्रिया के यवनों) की स्थिति बतायी गयी है। कन्याकुमारी से गंगा के स्रोत तक भारत भूमि का विस्तार बताया गया है।[13] स्पष्ट है कि प्रथम ष्ठताब्दी ई.पू. तक भारत के विस्तार की यह कल्पना अस्तित्व में आ चुकी थी।

मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड, कूर्म, विष्णु और वराह आदि पुराणों के भुवनकोष नामक अध्यायों में और महाभारत के भीष्मपर्व में भारत के पर्वतों और नदियों का विस्तार से उल्लेख हुआ है। पुराणों के विवरणों से ज्ञात होता है कि भारतवासी मेरु पर्वत (पामीर) और हेमकूट (कैलास हिमालय) को अपने देष्ठा की सीमा मानते थे। महाभारत में देष्ठा की सीमा के अन्दर अवस्थित सात पर्वतों- महेन्द्र (पूर्वी घाट की पर्वतश्रंष्ठखला), मलय (कावेरी के दक्षिण की चोटियाँ), सह्याद्रि (पष्ठिचमी घाटी की पर्वतमाला), ष्ठुक्तिमान (खानदेष्ठा की पहाड़ियाँ), ऋक्ष (सतपुड़ा-महादेव पर्वतश्रंष्ठखला), विन्ध्य और परियात्र (विन्ध्याचल के पष्ठिचमी भाग से लेकर राजपूताने की अरावली पहाड़ियाँ) के उल्लेख से स्पष्ट है कि भारत के भूगोल में हिमालय से लेकर सुदूर दक्षिण तक के प्रदेष्ठा सम्मिलित किये

जाते थे। पर्वतों के समान ही भारत की नदियों की सूची भी पुराण और महाभारत आदि ग्रन्थों में मिलती है। महाभारत की नदी सूची में दो सौ नाम हैं जिनमें गान्धार की सुवास्तु से लेकर असम की लौहित्य, उड़ीसा की ऋषिकुल्या और वैतरणी तथा दक्षिण की तुंगभद्रा तक सम्मिलित है। ष्ठिवपुराण में सप्तगंगा (सात नदियों) गंगा, सिन्धु, गोदावरी, कावेरी, ताम्रपर्णि, सरयू, रेवा को गिनाया गया है।[14] धर्मनिष्ठ भारतीय आज भी स्नान करते समय देष्ठा की पवित्र नदियों का आह्वान करता है-

गंगे च यमुने चैव गोदावरी सरस्वती।
नम्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन्सन्निधिं कुरू॥

देष्ठा की मोक्षदायिका नगरियों की सूची में भी उत्तर और दक्षिण दोनों भू-भागों के नगर सम्मिलित हैं जिनका नामोच्चार श्रद्धापूर्वक भारत के लोग करते हैं-

अयोध्या-मथुरा-माया-काष्ठी-कांची-अवन्तिका।
पुरी द्वारावती ज्ञेया सप्तैताः मोक्षदायिका॥

प्राचीन काल में भारत की भौगोलिक एकता की भावना की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति कालिदास की रचनाओं में हुई है। रघुवंष्ठा के चतुर्थ सर्ग में रघु अपना दिग्विजय अभियान वंग से प्रारम्भ कर उत्कल, कलिंग, दुर्दर होते हुए सुदूर दक्षिण में केरल पहुँचते हैं और वहाँ से अपरान्त और त्रिकूट पर्वत होते हुए पारसीकों, वक्षुप्रदेष्ठा में हूणों और तदन्तर काम्बोज, उत्सवंसकेत और किरात इत्यादि जातियों को परास्त करते हुए असम जा पहुँचते हैं। इस प्रकार कालिदास ने रघु के दिग्विजय अभियान के माध्यम से समस्त भारतवर्ष की परिक्रमा कर डाली। कालिदास ने इन्दुमती के स्वयंवर में मगध व अंग के साथ अनूप, कलिंग और पाण्ड्य आदि जनपदों के नरेष्ठों को निमंत्रित करके अपने अखिल भारतीय दष्टिकोण का परिचय दिया है। इसी प्रकार राम के लंका से प्रत्यागमन और मेघदूत में मेघ की रामगिरि से कैलास तक की यात्रा के विवरण में वह देष्ठा के विभिन्न भू-भागों से प्रगाढ़ परिचय और स्नेह का परिचय देते हैं।[15]

समस्त भारतीय जनमानस में भारत को एक राष्ट्र के रूप में अभिव्यक्त करने एवं भावनात्मक एकता को बनाये रखने में भारत-भूमि की भौगोलिक एकता के साथ-साथ यहाँ के धर्म, भाषा, संस्कष्ति, दर्ष्ठान, साहित्य, आचार-विचार, रीति-रिवाज, कला, परम्परा आदि की समरूपता का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यद्यपि भारतीय संस्कष्ति का मूल आधार वैदिक संस्कष्ति रही है लेकिन इतिहास के दीर्घकालीन समय प्रवाह में वैदिक संस्कष्ति का आर्येत्तर एवं दक्षिण भारत की द्रविड़ीय संस्कष्तियों के साथ सम्पर्क एवं समन्वय ने भारतीय संस्कष्ति को व्यापक एवं अधिक सर्वस्वीकष्त आधार प्रदान किया।

हमारी परम्परा से प्राप्त सनातन धर्म, आधार ग्रन्थ, आप्त पुरुष तथा सांस्कृतिक अनुष्ठान थोड़ी स्थानीय भिन्नता के साथ हिमालय से कन्याकुमारी तथा सौराष्ट्र से प्राग्ज्योतिषपुर तक मान्य है। रामायण एवं तमिल परम्परा से भी उत्तर एवं दक्षिण भारत की एकता प्रमाणित होती है। तदनुसार तमिल देश के संस्कृतीकरण का कार्य ऋषि अगत्स्य द्वारा किया गया। चेर देश में आर्य संस्कृति का प्रसार परशुराम के समय तक हो चुका था। केरल में प्रचलित जनश्रुति के अनुसार केरल एवं कोंकण की भूमि को समुद्र से निकालने का काम परशुराम ने किया था। अगत्स्य के समय से दक्षिण और उत्तर भारत दोनों ही भागों के लोग एक ही धर्म एवं संस्कृति को मानते आये हैं।

प्राचीन भारतवर्ष में संस्कृत सम्पूर्ण देश की साहित्य की प्रमुख भाषा के रूप में मान्य थी। यद्यपि संस्कृत भाषा का उदय एवं विस्तार उत्तर भारतीय वैदिक ऋषि-मुनियों एवं विद्वानों द्वारा किया गया लेकिन यह शीघ्र ही दक्षिण भारत के विद्वान् वर्ग की भी भाषा बन गयी। वैदिक धर्म के अनेक ग्रन्थों में से अनेक की रचना दक्षिण भारत में हुई। श्रौत, गृह्य एवं धर्मसूत्र के रचयिता आपस्तम्ब दक्षिणवासी थे। हाल, विज्जिका, भारवि, कुलशेखर, वासुदेव, त्रिविक्रम भट्ट, सद्गुरुशिष्य, गुणाढ्य, सायणाचार्य, विष्णुचित्त स्वामी, शंकराचार्य, मल्लिनाथ, पण्डित जगन्नाथ आदि दक्षिण के संस्कृत विद्वानों ने अपनी साहित्यिक-धार्मिक रचनाओं से दक्षिण भारत में इस भाषा को समृद्ध बनाया। वेद, उपनिषद्, धर्मशास्त्र, स्मृति ग्रन्थ, पुराण, रामायण, महाभारत आदि धर्म ग्रन्थों, पाणिनि, पतंजलि, कालिदास, अश्वघोष एवं अन्य संस्कृत कवियों-लेखकों की रचनाओं, पंचतंत्र कथाओं, नीति ग्रन्थों आदि का पठन-पाठन सम्पूर्ण भारतवर्ष में होता था। तमिल परम्परा के अनुसार संस्कृत और द्रविड़ भाषाएँ एक ही उद्गम से निसृत हैं। कालान्तर में दक्षिण की तमिल, कन्नड़, तेलुगु, मलयालम जैसी भाषाएँ संस्कृत के स्पर्श से ही जागृत और विकसित होकर साहित्य भाषा के धरातल पर पहुँच सकी हैं।[16]

प्राचीन भारत में संस्कृत के अलावा पालि, प्राकृत, अपभ्रंश भाषाओं के साथ-साथ ब्राह्मी लिपि ने भी भारत की सांस्कृतिक एकता के निर्माण में भूमिका निभायी। पालि भाषा एवं ब्राह्मी लिपि का ज्ञान अशोक के समय उत्तर भारत सहित दक्षिण भारत को भी हो चुका था। इसलिए अशोक ने दक्षिण भारत में भी अपने अभिलेख पालि भाषा व ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण करवाये। तमिल परम्परा के अनुसार द्रविड़ भाषाओं की सभी लिपियाँ ब्राह्मी से निकली हैं। प्राकृत काव्य साहित्य की रचना में दक्षिणात्य कवियों का भी योगदान रहा है।

प्राचीन भारत में राष्ट्र अवधारणा के निर्माण में धर्म एवं कला का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वैदिक धर्म एवं उसके परवर्ती स्वरूप ब्राह्मण धर्म एवं उसके सम्प्रदायों शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर आदि से सम्बन्धित देवी-देवता, धार्मिक-दार्शनिक ग्रन्थ, अनुष्ठान-कर्मकाण्ड आदि पूरे भारत में लगभग एक समान रहे हैं। उनसे सम्बन्धित देवप्रतिमा, मन्दिर, मठ, आश्रम, तीर्थस्थल भी पूरे राष्ट्र

में अवस्थित हैं। प्राचीन काल से धार्मिक स्थलों की तीर्थयात्रा की परम्परा रही है। ष्ठास्त्रार्थ एवं नवीन विचारों के प्रचार हेतु सभी भागों के विद्वान् सम्पूर्ण भारत-भूमि में भ्रमण करते थे। नवीं ष्ठताब्दी में केरल निवासी महान् दार्ष्ठनिक ष्ठांकराचार्य ने राष्ट्र की भावनात्मक एकता को और सुदष्ठ करने एवं हिन्दू धर्म संस्कष्ठति को व्यापक आधार प्रदान करने के लिए भारत की सुदूर चार दिष्ठाओं में चार प्रसिद्ध हिन्दू तीर्थों एवं मठों की स्थापना की। अब प्रत्येक नैष्ठिक हिन्दू के जीवन का उद्देष्ठय इन तीर्थों की यात्रा करना था। देष्ठा भर में फैले विभिन्न तीर्थ स्थलों की यात्राओं ने भारतीयों के मन में एक राष्ट्र के निवासी होने की भावना का विकास किया तथा इससे विभिन्न क्षेत्रों के लोगों में सामाजिक सांस्कष्ठतिक मेलजोल में वष्ठद्धि हुई। हिन्दू देव समूह, बुद्ध-बोधिसत्वों एवं जैन तीर्थङ्करों की प्रतिमाएँ देव प्रतिमा ष्ठास्त्र के सिद्धान्त एवं लक्षणों के अनुरूप सम्पूर्ण देष्ठा में प्रायः एक समान निर्मित की गयी। इसी प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित स्थापत्यीय ष्ठैलियों के अनुसार देव मन्दिरों, स्तूप, चैत्य, गुहाओं आदि का निर्माण किया गया जिसमें प्रायः समरूपता है।

प्राचीन काल से ही भारतवासी अपने धर्म, दर्ष्ठान एवं संस्कष्ठति की श्रेष्ठता के कारण अपनी मातष्ठभूमि पर निरन्तर गर्व करते थे। उत्तर भारत में रचित विष्णु पुराण के अनुसार देवता भी यहाँ देह धारण कर जन्म लेने के लिए लालायित रहते थे-

गायन्ति देवाः किलगीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमि भागे।
स्वर्गापवर्गास्पद मार्ग भूते भवन्ति भूयः पुरूषाः सुरत्वात्।। (विष्णु पुराण 2/3/24)

इसी प्रकार दक्षिण भारत में विरचित श्रीमद्भागवत पुराण में भी उक्त भाव को और भी अधिक विलक्षण रूप में प्रस्तुत किया गया है-

अहो अमीषां किमकारिष्ठोभनं प्रसन्न एषां स्विदुतस्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नष्ठु भारताजिरे मुकुन्द सेवौपयिकं स्पष्ठा हि नः।। (श्रीमद्भागवत 5/19/21)

वाल्मीकि रामायण में भगवान् राम ने भी भारत को स्वर्ग से श्रेष्ठतर माना था-

नेयं स्वर्णपुरी लंका रोचते मम लक्षणः,
जननी-जन्मभूमिष्ठच स्वर्गादपि गरीयसी। (वाल्मीकि रामायण)

भारत राष्ट्र की उपर्युक्त वर्णित भौगोलिक-सांस्कष्ठतिक एकता को प्राचीन काल में राजनीति ने भी अनेक अवसरों पर सुदष्ठता प्रदान की। ऐतिहासिक काल में नन्दष्ठासक महापद्मानन्द यदि पूर्णतः नहीं तो आंष्ठिक रूप से अखिल भारतीय साम्राज्य स्थापित करने में सफल रहा। पुराणों में उसे एकछत्र, एकराट् तथा अनुल्लंघित रूप से पष्ठथ्वी को भोगने वाला कहा गया है। जैन लेखकों ने नन्द के मंत्री द्वारा समुद्रपर्यन्त पष्ठथ्वी जीते जाने की चर्चा की है।[17] भारत में साम्राज्य की

अवधारणा चक्रवर्ती आदर्श पर आधारित थी। उत्तर वैदिक साहित्य में अनेक प्राचीन चक्रवर्ती शासकों की सूची मिलती है। पालि साहित्य में सफल जम्बुद्वीप (भारतीय उपमहाद्वीप) को एक चक्रवर्ती राजा का शासन क्षेत्र माना गया है। अंगुत्तर निकाय के अनुसार बुद्ध अपने एक पूर्वजन्म में सम्पूर्ण पृथ्वी पर शासन करने वाले चक्रवर्ती राजा थे। धर्मानुसार शासन करने वाले चक्रवर्ती राजा का आदर्श बुद्ध एवं उनके अनुयायियों के सम्मुख सदैव रहता था।[18]

अर्थशास्त्र परम्परा के विकास के साथ भारत में राजत्व की नयी अवधारणा विकसित हुई और चक्रवर्ती आदर्श को ठोस आधार मिला। कौटिल्य ने चक्रवर्ती का शासन क्षेत्र हिमालय से समुद्र तक विस्तृत भूमि को बताया है। चन्द्रगुप्त मौर्य और उसके उत्तराधिकारियों का साम्राज्य राजत्व की इस नवीन अवधारणा एवं चक्रवर्ती क्षेत्र के आदर्श का व्यावहारिक रूप था। चन्द्रगुप्त मौर्य को मुद्राराक्षस में हिमालय से समुद्र तक पृथ्वी का स्वामी बताया गया है। सुदूर दक्षिण प्रायद्वीप के चोल, चेर, पाण्ड्य और सतियपुत को छोड़कर लगभग सम्पूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप उसके साम्राज्य के अन्तर्गत था। अर्थशास्त्र के विवरणों से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक सुदृढ़ केन्द्रीकृत जनकल्याणकारी शासन व्यवस्था के द्वारा इस विशाल साम्राज्य को प्रशासनिक एकता में सूत्रबद्ध किया।

सम्राट अशोक के कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यों से भारत की मूलभूत एकता की भावना को बल मिला। अशोक ने ब्राह्मी लिपि को अखिल भारतीय स्तर पर प्रसारित किया और उसे लोकप्रिय बनाया। एक लिपि के प्रचार द्वारा न केवल साम्राज्यीय प्रशासन को लिखित आदेशों पर आधृत कर दृढ़ बनाया गया अपितु देश को सांस्कृतिक एवं प्रशासनिक एकता की एक मजबूत जंजीर से बाँधा गया। भाषात्मक विविधता वाले प्राचीन भारतीय समाज में अशोक ने अपने अभिलेखों में सुदूर पश्चिमोत्तर प्रदेशों को छोड़कर अन्य सर्वत्र पालि भाषा का प्रयोग किया। उसने इस राजभाषा का रूप दिया। पालि भाषा प्रशासन और साहित्य के क्षेत्र में एकता की कड़ी के रूप में सम्पर्क भाषा बनी।[19] साम्राज्य में एकता की भावना राजपुरुषतंत्र की समरूपता के कारण भी उत्पन्न हुई। अशोक के अभिलेखों से स्पष्ट है कि उसके आदेश सब प्रदेशों के लिए समान होते थे और एक ही आदेश की प्रतिलिपियाँ सब जगह उत्कीर्ण करायी गयीं। अतः सभी प्रजाजनों के मन में यह भावना उत्पन्न होनी स्वाभाविक थी कि वे एक राज्य के समानस्तरीय नागरिक हैं। स्वयं सम्राट द्वारा जनपदवासियों से सम्पर्क रखने, राजकुमारों की गवर्नरों के रूप में नियुक्ति, धर्म महामात्र एवं राजूकों के समय-समय पर दौरे आदि इन सबसे प्रजाजन एवं प्रशासक के मध्य निरन्तर सम्पर्क बना रहा। सर्वधर्म समभाव एवं नैतिक आदर्शों पर आधारित अशोक की धम्मनीति ने भी विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय युक्त भारत राष्ट्र को भावनात्मक एकता प्रदान की। अशोक के उक्त उपायों से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से भारत की राजनीतिक-सांस्कृतिक एकता की प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिला।

सम्राट पुष्यमित्र शुंग द्वारा अश्वमेध यज्ञ का सम्पादन, कनिष्क की देवपुत्र षाहिषाहानुषाही

की साम्राज्यीय उपाधि, गौतमीपुत्र सातकर्णि के लिए 'त्रिसमुद्रतोयपीतवाहनस्य' का विरुद स्पष्ट करता है कि ये शासक भी एक विशाल साम्राज्य के स्वामी थे। साम्राज्यीय गुप्त सम्राटों- समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, कुमारगुप्त प्रथम, स्कन्दगुप्त के अधिसत्तात्मक साम्राज्य का स्वरूप लगभग अखिल भारतीय था जिसमें उनके प्रत्यक्ष शासित, अधीनस्थ सामन्त क्षेत्र एवं प्रभाव क्षेत्र सम्मिलित थे। उनकी महाराजाधिराज, परमभट्टारक, परमेश्वर, पराक्रमांक, विक्रमादित्य जैसी उपाधियाँ इसके द्योतक हैं। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति, महरौली प्रशस्ति लेख, स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ अभिलेख में इन शासकों की अखिल भारतीय विजयों एवं समुद्रपर्यन्त पृथिवी के विजित करने का उल्लेख है। मन्दसोर अभिलेख में वत्सभट्टि ने कुमारगुप्त प्रथम को समुद्रपरिवृत पृथिवी का स्वामी बताया है।[20] कालिदास ने सम्भवतः गुप्त सम्राटों की छवि को ध्यान में रखकर अपने ग्रन्थ 'रघुवंश' में रघुवंशीय नरेशों को 'आसमुद्रक्षितीशानाम' बताते हुए उनके चक्रवर्तित्व की ओर संकेत किया है। पराक्रमी गुप्त सम्राटों के लगभग तीन शताब्दियों के सुप्रशासित सुदीर्घ शासन काल में कला, साहित्य, विज्ञान, दर्शन के क्षेत्र में हुई अभूतपूर्व प्रगति एवं पौराणिक हिन्दू धर्म के अभ्युत्थान एवं विकास ने भारत को सांस्कृतिक-धार्मिक दृष्टि से और भी अधिक समृद्ध किया। इस सांस्कृतिक चेतना का विस्तार गुप्तकाल में जन सामन्य तक व्याप्त हो गया।

गुप्तोत्तर काल से लेकर प्राक् तुर्क युग तक उत्तर एवं दक्षिण भारत में अनेक प्रादेशिक राज्यों का उदय हुआ लेकिन इनके शासकों द्वारा धारण की जाने वाली उपाधियाँ साम्राज्यीय एवं अखिल भारतीय स्वरूप लिये होती थीं। बाणभट्ट ने हर्षवर्धन को चतुस्समुद्राधिपति, सकल राज चूड़ामणि, महाराजाधिराज, परमेश्वर आदि विरुद दिये हैं।[21] प्रादेशिक अधिसत्ताधिपति होते हुए भी उत्तर भारतीय शासकों की महत्त्वाकांक्षा दक्षिण में तीनों समुद्रों तक राज्य विस्तार की होती थी।[22] अखिल भारतीय साम्राज्य का अधिपति होने की महत्त्वाकांक्षा के पीछे कदाचित् इन शासकों के अवचेतन मस्तिष्क में सम्पूर्ण भारत भूमि या राष्ट्र का स्वामी होने की इच्छा का प्रभाव था जिसका उल्लेख उनके अभिलेखों एवं प्रशंसा में रचित ग्रन्थों में किया जाता था।[23] नवीं शताब्दी के प्रतिहारकालीन राजकवि राजशेखर ने कन्याकुमारी से लेकर मानसरोवर (हिमालय) तक भारत का चक्रवर्ती क्षेत्र माना है, हिमालय में शिव एवं दक्षिणी छोर पर कन्याकुमारी (तपलीन कुमार पार्वती) का सूत्र देशा की इस भीतरी एकता का प्रतीक है।[24]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में राष्ट्र की अवधारणा भौगोलिक एवं सांस्कृतिक होने के साथ-साथ राजनीतिक भी थी। शासक वर्ग से लेकर सामान्य जन तक भारत भूमि से परिचित थे। कुलीन एवं विद्वत् वर्ग में प्रचलित भाषा, साहित्य, लिपि एवं विचारों की समरूपता ने सामाजिक एवं सांस्कृतिक गतिशीलता को निरन्तर बनाये रखा। प्राचीन काल में हिन्दू, बौद्ध एवं जैन धर्म व संस्कृति के अनुयायी भारतीयों का सामाजिक-आर्थिक-धार्मिक-सांस्कृतिक जीवन यद्यपि

एक समान तो नहीं था लेकिन अधिकांशतया समरूप था। पूर्व मध्य काल में बौद्ध व जैन धर्म एवं उसके सम्प्रदाय विशाल एवं प्रभावी हिन्दू धर्म व संस्कृति से प्रभावित होकर एक बड़ी सीमा तक हिन्दूमय होने लगे। इन सभी कारकों ने भारतवासियों को भावनात्मक एवं मनोवैज्ञानिक रूप से एक दूसरे को जोड़ा।

यह सत्य है कि भारत बीसवीं शताब्दी में आधुनिक सन्दर्भ में एक राष्ट्र राज्य के रूप में अस्तित्व में आया लेकिन भारतवासियों के मन में भारत राष्ट्र की भू-सांस्कृतिक छवि प्राचीन काल से ही विद्यमान रही थी। विदेशी सत्ताओं से संघर्ष एवं राष्ट्र की स्वतंत्रता-प्राप्ति में इस भावना का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

सन्दर्भः

1. ऋग्वेद 4/42/1
2. ऋग्वेद 10/173/1, 10/173/2
3. अथर्ववेद 6/88/2
4. ऐतरेय ब्राह्मण 8/15
5. शतपथ ब्राह्मण 9/4/1.1
6. वनपर्व 211.1
7. गोयल, श्रीराम; प्राचीन भारत, पृष्ट 13
8. गोयल, श्रीराम; प्राचीन भारत, पृष्ट 14
9. गोयल, श्रीराम; प्राचीन भारत, पृष्ट 30
10. तत्रैव, पृष्ट 31
11. तत्रैव, पृष्ट 31
12. तत्रैव, पृष्ट 31
13. तत्रैव, पृष्ट 32
14. तत्रैव, पृष्ट 32-33
15. तत्रैव, पृष्ट 33
16. दिनकर, रामधारी सिंह, भारतीय संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ट 38
17. रायचौधरी, हेमचन्द्र - पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियण्ट इण्डिया, पृष्ट 234, टिप्पणी 2 में उद्धृत
18. गोयल, श्रीराम; प्राचीन भारत, पृष्ट 338
19. तत्रैव, पृष्ट 568
20. सलेक्टेड इन्सक्रिप्शान्स, पृष्ट 304
21. हर्षचरित, पृष्ट 52
22. नारायण पाल का बादाल स्तम्भ लेख, एपि. इण्डिका, जिल्द 2, पृष्ट 160, 165 श्लोक 5
23. राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीय की दिग्विजयें - (1) एपि. इण्डिका, जिल्द 23, पृष्ट 293-95 (2) चोल सम्राट राजेन्द्र प्रथम की सेना का उत्तर भारतीय अभियान, तिरुवालगाड एवं तिय भल्ले अभिलेख, एपि. इण्डिका, जिल्द 9, पृष्ट 223 से आगे।
24. गोयल, श्रीराम; प्राचीन भारत, पृष्ट 32

卐

महाभारत में राष्ट्र का स्वरूप

डॉ. सुष्ठील कुमार गुप्त*

महाभारतकालीन राष्ट्र के स्वरूपान्तर्गत हमें एक ऐसी ष्ठासन व्यवस्था के दर्ष्ठान होते हैं जहाँ राजा, प्रजा सभी पर सदाचार पालन तथा कर्तव्यनिष्ठा का अंकुष्ठा है। आधुनिक राजनीतिष्ठास्त्र के विद्वानों का मत है कि आदर्ष्ठा राष्ट्र वही है, जहाँ प्रत्येक नागरिक को मूलभूत सुविधाएँ प्राप्त हों। सर्वत्र सुख, ष्ठान्ति और सदाचार का पालन हो एवं सबके हितों की रक्षा की जाए, तभी राष्ट्र सर्वहितकारी बन सकता है। महाभारत के अनुसार, राजा का प्रमुख कर्तव्य है कि वह अपने राजधर्म का निष्ठापूर्वक पालन करे। प्रजा की देखभाल, उसकी आन्तरिक तथा बाहरी संकटों से सुरक्षा, उसे नैतिकता के सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करने के लिए प्रेरित करना, दुष्टों का दमन आदि भी राजा के प्रमुख कर्तव्यों में परिगणित है। महाभारत में कहा गया है–

धर्माय राजा भवति न कामकरणाय तु। (ष्ठान्तिपर्व 96.3)

अर्थात् राजा अपने धर्म (कर्तव्य परम्परा) का पालन करने के लिए होता है, न कि मनमानी करने के लिए। ष्ठान्तिपर्व 56.44–46 के अनुसार, जिस प्रकार गर्भवती स्त्री अपनी इच्छाओं तथा सुख की परवाह न करते हुए सदैव गर्भ के ही हित का ध्यान रखती हुई आचरण करती है, उसी प्रकार अपने कर्तव्य का पालन करने वाले राजा को भी सदैव वही व्यवहार करना चाहिए, जो कि जनता के हित में हो। ऐसी ष्ठासन व्यवस्था में प्रजा की उन्नति तथा समष्ठद्धि उसी प्रकार बढ़ती है, जिस प्रकार सरोवर में कमल खिलते हैं। इस प्रकार का कर्तव्यपरायण प्रजापालक राजा एक सफल ष्ठासक होने के कारण प्रष्ठांसनीय तथा सभी यज्ञों के फल को पाने वाला कहा गया है–

प्रजाः यस्य विवर्धन्ते सरसीव महोत्पलम्।
सः सर्वयज्ञफलमाक् राजा लोके महीयते॥ (ष्ठान्तिपर्व 139.106)

लोकहितकारी राष्ट्र ऐसा आदर्ष्ठा राष्ट्र है जहाँ ष्ठासन के द्वारा ही गरीब तथा कमजोर वर्ग को सहायता प्राप्त होती है। महाभारत में भी दुःखी, बेसहारा, वष्ठद्ध, कमजोर तथा पीड़ित व्यक्तियों की रक्षा करना राजा का कर्तव्य कहा गया है–

*भोपाल

कृपणानाथवृद्धानां दुर्बलातुरयोषिताम्।
संविभक्तास्मि सर्वेषां मामकान्तरमाविशः॥ (शान्तिपर्व 77.18)

सभापर्व, 5.125 में युधिष्ठिर से कुशल-क्षेम पूछने के पश्चात् नारद कहते हैं- हे राजन! तुम अन्धे, गूंगे, पंगु, विकलांग, सम्बन्धियोंरहित लोगों को पिता के समान सुरक्षा तो प्रदान करते हो ना? बेसहारा, निर्धन, दु:खी तथा (आर्थिक रूप से पराश्रित) विधवा स्त्रियों को जीवन निर्वाह के निमित्त धन देना तथा उनकी सुरक्षा करना राजा का दायित्व माना गया है-

कृपणानाथवृद्धानां विधवानाञ्च योषिताम्।
योगक्षेमञ्च वृत्तिञ्च नित्यमेव प्रकल्पयेत्॥ (शान्तिपर्व 86.24)

महाभारत में भी प्रजा के निर्धन समुदाय को भोजन, वस्त्र तथा आवास सुलभ कराना राजा की उदारता तथा कर्तव्य ही समझे जाते थे-

दीनान्धकृपणानाञ्च गृहाच्छादनभोजनैः।
आनृशंस्यपरो राजा चकारानुग्रहं प्रभुः॥ (अनुशासनपर्व 42.11)

प्रजा के कल्याण के लिए प्याऊ बनवाना, बाग-बगीचे लगवाना, कुएँ खुदवाना, नहरें निकालना, प्रजा के स्वास्थ्य की रक्षा करने के उद्देश्य से आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार जीवन-यापन करने की शिक्षा देना, यज्ञ कराना - ये सभी आदर्श राजा के कार्य अनेक बार गिनाये गये हैं। इन कल्याणकारी योजनाओं के पूरा होने पर निश्चित है कि प्रजा को समस्त सुख-सुविधाएँ प्राप्त होंगी तथा उनका जीवन-स्तर भी ऊँचा उठेगा; परन्तु शान्ति की स्थापना के लिये यह आवश्यक है कि राजा समाज में फैले दुराचार तथा कुरीतियों को भी दूर करे। शान्तिपर्व 88.14-15 तथा 21-22 में भीष्म पितामह उपदेश देते हुए कहते हैं- मद्यशाला खोलने वाले, वेश्याएँ कुट्टनियों, वेश्याओं के दलाल, जुआ खेलने वाले तथा अन्य इसी प्रकार के समाजविरोधी कार्य करने वाले लोगों को दण्ड देकर नियंत्रण में रखना चाहिए, क्योंकि ये समस्त राष्ट्र को हानि पहुँचाते हैं तथा यदि ये राष्ट्र में हों, तो कल्याणमार्ग पर चलने वाली प्रजा को कष्ट देते हैं। मद्यशाला, वेश्यालय आदि इन सब पर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए, क्योंकि इन सबके सेवन से मनुष्य विषय-वासनाओं में आसक्त होता है। विषयासक्ति से धन तथा कल्याण का नाश होता है। कामी व्यक्ति सभी अकार्य कार्य करता है, मांस खाता है, मदिरा पीता है, पराये धन तथा स्त्री का अपहरण करता है। स्वयं तो ये कुकृत्य करता ही है, दूसरों को भी यही कुकृत्य करने की प्रेरणा देता है। ऐसे लोग सम्पूर्ण प्रजा को अनुशासनहीन बना देते हैं। अत: राजा इन दुष्टों को अवश्य ही प्रयत्नपूर्वक दबा कर रखे। इस प्रकार की शान्तिपूर्ण समृद्ध, धर्म तथा नैतिक आचरण से ओतप्रोत आदर्श व्यवस्था तभी सम्भव है, जब प्रत्येक नागरिक अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए, दूसरों को हानि न पहुँचाते हुए अपनी-अपनी उन्नति

करता हो, उनके जीवन की मूलभूत आवष्ठयकताएँ पूर्ण हो रही हों तथा वे अपने अधिकारों के प्रति भी जागरूक हों। ऐसी ही स्वानुष्ठासित तथा प्रबुद्ध समाज की कल्पना महात्मा गाँधी ने की थी।

प्राय: धन के असमान वितरण के कारण अधिकतर अपराध होते हैं। कहा भी है- **'बुभुक्षित: किं न करोति पापम्, क्षीणा: जना: निष्करुणा: भवन्ति।'** अपराध व्यक्ति तथा समाज के हितों का समन्वय न होने के परिणाम होते हैं। अत: यह भी राजा के कर्तव्य की परिधि में आता है कि धन का समान वितरण हो। यह दो उपायों से सम्भव है- (1) धनवानों से टैक्स रूप में वसूले गये धन से गरीबों को अस्पताल, विद्यालय, यातायात के साधन इत्यादि उपलब्ध कराये जायें। (2) यदि इस प्रकार प्राप्त धन पर्याप्त न हो, तो धनवानों को गरीबों के लिए दान देने हेतु प्रेरित करना चाहिए तथा धनवान यज्ञों में दान-दक्षिणा दें, इस प्रकार का वातावरण बनाना चाहिए। सामाजिक कल्याण के उद्देष्ठय से वृक्ष लगाना, बाग लगाना, कुआँ खुदवाना, भोजन, वस्त्र बाँटना इत्यादि जनसाधारण के कल्याण के कार्य धनवान व्यक्ति स्वेच्छा से करें। इस दृष्टि से महाभारत के अनुष्ठासनपर्व के दानधर्म-पर्व नामक खण्ड में अनेकानेक स्थलों पर इस प्रकार के जीवनोपयागी कार्यों को पुण्यदायक कहकर कर्ताओं की प्रष्ठांसा की गयी है। दान देने के अनेक नियम भी बनाये गये हैं; यथा- सुपात्र को दान देना चाहिए, दान सम्मानपूर्वक तथा प्रेमपूर्वक देना चाहिए, दान जरूरतमन्द को ही देना चाहिए।

महाभारत में ऐसे आदर्ष्ठा राष्ट्र की परिकल्पना है, जहाँ धनवान स्वेच्छा से निर्धनों के लिए कल्याणकारी कार्यों के लिए दान करते हैं। कर लगाने का लक्ष्य भी, राष्ट्र का योगक्षेम विधान तथा प्रजा के लिए कल्याणकारी योजनाओं को पूरा करना था। अत: राजा को कर तभी लगाना चाहिए, जब आवष्ठयकता हो अन्यथा नहीं।

दापयित्वा करं धर्म्यं राष्ट्रं नीत्या यथाविधि।

तथैतं कल्पयेद् राजा योगक्षेममतन्द्रित:।। (ष्ठान्तिपर्व 71.11)

यदि राजा अपने कर्तव्यों का पालन करेगा तभी वह जनता से भी उनसे अपेक्षित तथा विहित कर्तव्यों का पालन करवा सकेगा अन्यथा नहीं। डॉ. रघुवीर ष्ठास्त्री जी ने अपनी पुस्तक 'महाभारतकालीन राज्य-व्यवस्था' के अध्याय-3 में इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि मानव का स्वभाव है स्वार्थपरता अर्थात् अपने हितों का ही ध्यान रखना। यदि सभी स्वार्थी हो जायें, तो आपाधापी मच जाये। तब लोकहित का ध्यान कौन रखेगा? अत: मानव जगत् को पतन से बचाने के लिए ही स्वधर्मपालन तथा वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था की गयी तथा राजा को यह दायित्व सौंपा गया कि वह यथाष्ठाक्ति कठोरतापूर्वक प्रजा से धर्म का पालन करवाये। गम्भीर प्रष्ठन है कि इस प्रकार कर्तव्यनिष्ठ, धर्मप्रधान, सामाजिक तथा आर्थिक सुरक्षा की स्थापना किस प्रकार सम्भव है, जिसमें

प्रत्येक व्यक्ति सुरक्षित अनुभव करता हुआ अपनी तथा समाज की उन्नति करे? इसका भी समुचित उत्तर हमें महाभारत से ही प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार महाभारत में एक ऐसे आदर्श राष्ट्र का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कर्तव्य (धर्म) का पालन करता है। चोरी, हिंसा आदि करने वालों तथा स्वधर्म पालन न करने वालों को समुचित और न्यायसंगत दण्ड दिया जाता है। यदि राजा अपनी प्रजा के रक्षारूपी धर्म के पालन में सफल न हो पाये, तो प्रजा उसके विरुद्ध विद्रोह करके नया राजा चुन सकती है। महाभारत में राजनीति की एक नवीन शैली का प्रतिपादन किया गया है, जिसमें राजनीतिशास्त्र तथा धर्मशास्त्र दोनों के ही सिद्धान्तों को ग्रहण करके एक नये राष्ट्रधर्म का प्रतिपादन किया गया है। भारतीय राजनीतिशास्त्र के विकास में धर्मशास्त्रीय तथा अर्थशास्त्रीय विचारधाराओं का यह अद्‌भुत समन्वय महाभारत का महानतम योगदान है।

卐

स्वतंत्रता दिवस के अवसर पर सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत करते विद्यार्थी

ऋग्वेदीय अद्वैतवाद

डॉ. स्वेजा त्रिपाठी*

इन्द्र मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिष्ठवानमाहुः।।[1]

मानव जाति की यह दिव्य वाणी अपने अभिप्राय को प्रकट करने में पूर्ण समर्थ है। परम सत्य का स्वरूप एकल एवं अभिधानबहुल है। उस परम सत्ता के अभिधान में नानात्व दिखलाई पड़ता है। उसे कोई इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण आदि नामों से भले पुकारे, परन्तु इससे उसमें कोई अन्तर नहीं आता है, कारण कि तत्तद् देवताओं के रूप में वह अवस्थित है। इस सृष्टि का मूल नियामक वही है। सब कुछ उसी से उत्पन्न हुआ है। इस भावना की पुष्टि पुरुषसूक्त[2] के द्वारा होती है। यह सृष्टि पुरुषमय है। पुरुष ने सबको उत्पन्न किया है। सबमें समाहित है। वह तीनों लोकों में व्याप्त होकर इनसे परे भी है। अमरता का स्वामी है। सबके द्वारा पुकारे जाने में सर्वहुत है। भेद दृष्टि से देखने पर अलग-अलग देवताओं का आह्वान प्रतीत होता है, परन्तु उनके माध्यम से वही पुकारा जाता है। वाजसनेयी शाखा के अनुयायी भी कहते हैं कि यह जो अलग-अलग देवताओं के लिए यजन करने की बात कही गयी है, इससे कोई अन्तर नहीं, क्योंकि उसी की विसृष्टि है[3], क्योंकि वही सब देवताओं के रूप में अवस्थित है। ऐसा होने पर भी वह अनिर्ज्ञात स्वरूप वाला, सबका स्वामी एवं स्रष्टा है। अमरता तथा मर्त्यु उसकी छायासदृश है। उसके अतिरिक्त कोई दूसरा देवता नहीं जो सभी पदार्थों के चारों ओर अवस्थित हो, जो सभी को उत्पन्न करता हो या सभी के अस्तित्व का कारण हो। इतना ही नहीं, वह सभी देवताओं के ऊपर परमेष्ठवर है। दशम मण्डल का प्रजापतिसूक्त[4] स्पष्ट कहता है-**हिरण्यगर्भः समवर्ततात्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।** तथा **यः प्राणतो निमिषतो महित्वेक इद्राजा जगतो बभूव। यो देवेष्वधि देव एक आसीत्।** एवं **प्रजापते न तवदेतान्यन्यो विश्ववा जातानि परि ता बभूव।**

यही वह मूल तत्त्व है जो नामरूपात्मक जगत् की उत्पत्ति से पहले अपनी स्वधा के सहारे साँस लेता है। ऋग्वेद के प्रख्यात नासदीयसूक्त[5] में इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है- **आनीदवातं स्वधया लदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चन आस।** तथा **तुच्छ्येनाभ्वपिहितं**

*प्रवक्ता - संस्कृत, राजीव गाँधी पी.जी. कॉलेज, नौतनवा (महराजगंज)

यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्। ध्यानार्ह है कि 'तुच्छ्य आभु' अज्ञान या माया ही है जिससे वह परम तत्त्व अपिहित रहता है।

आचार्य यास्क के मत में इस जगत् के मूल में एक ही चेतन ष्टाक्ति विद्यमान है जो ईष्टवर पदाभिधेय है, अद्वितीय एवं महान् ऐष्टवर्य-सम्पन्न है-

'महाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।

एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।'[6]

इस प्रकार सभी देवगण उस एक परमात्म ष्टाक्ति के भिन्न-भिन्न कार्य रूप ष्टाक्तियों के प्रतीक हैं। यास्क के उपर्युक्त कथन का समर्थन आचार्य ष्टौनक भी बष्टदेवता में करते हैं।

भवद्भूतस्य भव्यस्य जङ्गमस्थावरस्य च।

अस्यैक सूर्यमेवैके प्रभवं प्रलयं विदुः।।

असतष्टच सतष्टचैव योनिरेषा प्रजापतिः।

यदक्षरं च वाच्यं च तथैतद् ब्रह्म ष्टाष्टवतम्।।

कष्टत्स्नेष हि त्रिधात्मानं एषु लोकेषु तिष्ठति।

देवान्यथायथं सर्वान् निवेष्टय स्वेषु रष्ठिमषु।।[7]

भूत, भविष्य एवं वर्तमान कालों में जो जङ्गम एवं स्थावरात्मक जगत् रहता है, उसकी उत्पत्ति एवं विनाष्टा का कारण यही है। सत्, असत् द्विविध प्रकष्टि वाले पदार्थों का यही मूल स्रोत है तथा यह ष्टाष्टवत ब्रह्म अनष्टवर एवं वाणी का विषय है। यद्यपि यह स्वभावतः निर्वचनीय एवं अचिन्त्य है अर्थात् मन तथा वाणी की पहुँच से परे है, तथापि वेदान्त वाक्यों के द्वारा इसका ही निरूपण किया जाता है। वह जागतिक कर्मसंचालन के लिए अपने को त्रिधा विभक्त कर तथा समस्त देवताओं को अपने में समेटे हुए तीनों लोकों में स्थित है।

पाष्टचात्य विद्वानों ने वेदों में देवतासम्बन्धी विचारधारा के कई विकासक्रम गिनाये हैं। उनका पहला मत है कि वेदों में बहुदेववाद (पॉलिथीज्म) का वर्णन है। उनके मत में वैदिक ऋषि प्राकष्टिक पदार्थों एवं दष्टयों को देखकर भय के कारण उन सब की देवताओं के रूप में स्तुति करता है। कालान्तर में अपने मानसिक विकास के पष्टचात् इन बहुदेवताओं के अधिपति के रूप में एक प्रधान देवता की कल्पना की जो एकेष्टवरवाद (मोनोथीज्म) कहलाया। इस विकासक्रम का अगला सोपान सर्वेष्टवरवाद (पैन्थीज्म) है जिसमें सब कुछ ईष्टवरमय है, ऐसा माना गया। इस विचारधारा का उन्मेष दष्टम मण्डल में वर्णित पुरुषसूक्त के आधार पर माना गया जिसे पाष्टचात्य विद्वान्

अर्वाचीन मानते हैं। इसके एक अगले रूप की कल्पना प्रो. मैक्समूलर ने की है। इनके अनुसार वैदिक ऋषि किसी विष्ठिाष्ट देवता के वर्णन काल में उसे ही सर्वव्यापक, सष्टा एवं संसार का परम हितकारी मानता है। ऐसा वर्णन इन्द्र तथा वरुण आदि सभी देवताओं के बारे में मिलता है। मैक्समूलर ने इस भावना को हेनोथीज्म, कथेनोथीज्म नाम दिया है।[8]

परन्तु भारतीय धारणा के अनुसार पाष्ठचात्यों की यह देवता तथा धर्मसम्बन्धी विकासक्रम की योजना नितान्त भ्रामक एवं निराधार है। तात्त्विक चिन्तन करने वाले ऋषियों को मानसिक दष्टि से अविकसित कहने से पाष्ठचात्य विद्वानों की कुण्ठा दष्टिगत होती है। हमारे यहाँ प्राकष्तिक अचेतन पदार्थों में चेतनाभिमानी देवता विद्यमान है इसकी कल्पना कर ही उसमें देवत्व की भावना की गयी है। 'अभिमानिव्यपदेष्ठास्तु...'[9] सूत्र में भगवान् बादरायण ने इसकी उद्भावना की है।

ऋग्वेद सर्वव्यापी, सर्वात्मक ब्रह्म तत्त्व का ही निरूपण करता है। यही कारण सत्ता कार्य वर्गों में अनुप्रविष्ट होकर भिन्न-भिन्न आकारों में परिलक्षित होती है। इस व्यक्त एवं अव्यक्त जगत् के मूल में एक ही सत्ता, एक ही नियन्ता एवं केवल एक ही देवता है। अन्य सभी देवता उसके रूपमात्र हैं इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन ऋषियों ने भिन्न-भिन्न प्रकारों से किया है। एक ही महान् सत्ता की उपासना ऋग्वेदी उक्थ के रूप में, यजुर्वेदीय याज्ञिक अग्नि एवं सामवेदी महाव्रत के रूप में करते हैं।[10]

इस विषय में ऋग्वेद का कथन द्रष्टव्य है। ऋग्वेद में देवताओं को 'असुर'[11] भी कहा गया है। असुर का अर्थ है- असुविष्ठिाष्ट अथवा प्राणष्ठाक्तिसम्पन्न। इन्द्र, वरुण, सविता आदि देवता असुर हैं। देवगण अविनष्ठवर ष्ठाक्तिमात्र हैं। वे 'आतस्थिवांसः' (स्थिर रहने वाले), अनन्तासः (अनन्त), अजिरासः, उरवः तथा विष्ठवतस्परि कहे गये हैं।[12] वे विष्ठव के सभी प्राणियों को व्याप्त कर स्थित रहते हैं। उनके लिए सत्य, ध्रुव तथा नित्य प्रभष्ति ष्ठाब्दों का प्रयोग किया गया है। इतना ही नहीं, एक सूक्त में देवताओं का असुरत्व एक ही माना गया है। असुरत्व का अर्थ है- बल या सामर्थ्य। देवताओं के भीतर विद्यमान सामर्थ्य एक ही है, भिन्न-भिन्न तथा स्वतंत्र नहीं। इस सूक्त के प्रत्येक मंत्र के अन्त में यही पद बार-बार आता है- 'महद् देवानामसुरत्वमेकम्।'[13] एक ही ष्ठाक्ति के विकसित रूप होने से उनमें विद्यमान ष्ठाक्ति एक ही है।

ऋग्वेद में ही एक अविनाष्ठी एवं सत्य सत्ता का उल्लेख ऋत के रूप में हुआ है। इसके कारण ही सष्टि की उत्पत्ति होती है।[14] सष्टि के प्रारम्भ में ऋत ही उत्पन्न हुआ था।[15] विष्ठव में सुव्यवस्था प्रतिष्ठा तथा नियमन का कारणभूत तत्त्व यही है। इसके कारण ही विषमता के स्थान पर समता, अष्ठान्ति के स्थान पर ष्ठान्ति का प्रसार होता है।[16] इस जागतिक सुव्यवस्था का कारण ऋत अर्थात् सत्यभूत ब्रह्म ही है। देवगण इस ऋत के रूप हैं अथवा इससे उत्पन्न हैं। सोम ऋतजात

तथा उसी से वर्धित होता है। सूर्य ऋत का ही विस्तार करता है तथा नदियाँ इसी ऋत को वहन करती हैं।[17] सभी देवताओं, पदार्थों एवं कार्यों में यही ऋत अथवा कारणसत्ता अनुप्रविष्ट है। इसके आधार पर ही कार्यवर्ग स्थित है।

ऋग्वेद में देवता दो रूपों में वर्णित हैं- प्रथम स्थूल दृष्टयमान रूप तथा द्वितीय सूक्ष्म गूढ़ रूप। उनका जो रूप हमारी आँखों के सामने है वह उनका स्थूल अथवा आधिभौतिक रूप है। परन्तु जो हमारी इन्द्रियों से अतीत है, जिसे ग्रहण करने का सामर्थ्य इन्द्रियों में नहीं है वह उनका गूढ़ अथवा आधिदैविक रूप है। इसके अतिरिक्त देवताओं के एक तीसरे रूप का ज्ञान भी मंत्रों से होता है, जिसे आध्यात्मिक रूप कहा जाता है। उदाहरण के रूप में विष्णु, सूर्य एवं अग्नि के द्विविध रूपों को देखा जा सकता है। विष्णु ने अपने एक रूप द्वारा पार्थिव लोकों का निर्माण किया, अन्तरिक्ष को स्थिर किया तथा तीन कदमों से लोकों को नाप डाला।[18] परन्तु इसके अतिरिक्त उसका एक परम पद है जहाँ उनका सूक्ष्मरूप निवास करता है। उस लोक में उसके अनुयायी अमृत पान करते हैं। वहाँ अमृत कूप हैं।[19] इस लोक को ज्ञानसम्पन्न लोग ही जानते हैं।[20] विष्णु हमारा सच्चा हितैषी है।[21] विष्णु के परम पद की प्राप्ति ब्रह्म की ही उपलब्धि है।

इसी प्रकार उत्, उत्तर एवं उत्तम द्वारा सूर्य के त्रिविध रूपों का कथन किया गया है। पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक के कार्य निष्पादन के लिए इसके तीनों रूप क्रमशः महत्त्वपूर्ण हैं। पृथिवी एवं अन्तरिक्ष लोक में विद्यमान सूर्य की ज्योति से बढ़कर एक अति विशिष्ट ज्योति द्युलोक में है जिसे उत्तम कहा गया है। इस प्रकार सूर्य के रूपों के लिए प्रयुक्त शब्द क्रमशः उसकी कार्यात्मक, कारणात्मक एवं कार्य-कारण से अतीत अवस्था के द्योतक हैं। इसे हम सूर्य का आधिभौतिक, आधिदैविक एवम् आध्यात्मिक स्वरूप मान सकते हैं।[22] 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'[23] इस जंगम एवं स्थावर संसार का आत्मा सूर्य है, इस मंत्र का लक्ष्य आधिभौतिक सूर्य नहीं है। आत्मा शब्द स्पष्टतः परमात्म तत्त्व के लिए प्रयुक्त किया गया है।

ऐसा ही स्थूल एवं सूक्ष्म रूपों का वर्णन अग्नि के विषय में भी मिलता है। ऐतरेय आरण्यक अग्नि के दो रूपों का वर्णन करता है- 1. तिरोहित अग्नि, , 2. पुरोहित अग्नि। तिरोहित रूप अग्नि के सूक्ष्म एवं गूढ़ रूप का परिचायक है। पुरोहित रूप उसके व्यक्त एवं पार्थिव रूप को प्रकट करता है। 'अग्निमीळे पुरोहितम्'[24] मंत्र में अग्नि के पुरोहित रूप का ही वर्णन हुआ है।

इन प्रमाणों के आधार पर निःसन्देह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद इस विश्व के अनुपम शक्तिशाली नियन्ता से पूर्ण परिचित है, तथा वह विविध देवताओं को उसी की नाना शक्तियों का प्रतिनिधि बतलाता है। अतः वैदिक धर्म अद्वैततत्त्व के ऊपर अवलम्बित है। नानात्व में एकत्व की भावना, भिन्नता में अभिन्नता की कल्पना दार्शनिक जगत् में मौलिक तत्त्व हैं। इस निगूढ़तम तत्त्व को उद्घाटित करने का श्रेय हमारे प्राचीन महर्षियों को ही प्राप्त है। अवान्तरकालीन उपनिषत्साहित्य

एवं वेदान्तादि दर्शन उस संहितागत कथ्य की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार बीज रूप में विद्यमान उस परमात्म तत्त्व का चिन्तन एवं मनन भारतीय मेधा अपने दार्शनिक धरातल पर सृष्टिकाल से करती आयी है।

सन्दर्भ :

1. ऋग्वेदसंहिता 1.164.46
2. तदैव, 10.90
3. ते यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमेवस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह एव सर्वे देवाः। बृहदारण्यकोपनिषद् 1.4.6
4. प्रजापतिसूक्त, 10.121
5. नासदीयसूक्त, 10.129.2
6. निरुक्त, 7.4
7. बृहद्देवता, 1.61-63
8. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, पृ 473-74 तथा द्रष्टव्य- 'ए हिस्ट्री ऑफ एंशिएण्ट संस्कृत लिटरेचर', मैक्समूलर
9. ब्रह्मसूत्र, 2.1.5
10. ऐतरेयारण्यक, 3.2.34.12 'एतं ह्येव बह्वृचा महत्यक्थे मीमांसन्त एतमग्वध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः।'
11. ऋग्वेद, 4.53.1 तद् देवस्य सवितुः असुरस्य प्रचेतसः।
    ऋग्वेद, 5.83.6 (पर्जन्यः) असुरः पिता नः। ऋग्वेद, 3.18.4 महद् विष्णोः असुरस्य नाम।
12. ऋग्वेदसंहिता, 5.47.2
13. तदैव, 3.55
14. तदैव, 3.55.5
15. तदैव, 10.190.1 ऋतं च सत्यं चामीद्धात् तपसोऽध्यजायत।
16. तदैव, 9.108.8
17. तदैव, 1.105.15 ऋतमर्षन्ति सिन्धवः।
18. तदैव, 1.154.1
19. ऋग्वेद, 1.154.5 विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः।
20. तदैव, तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत् परमं पदम्।
21. ऋग्वेद, 1.154 स हि बन्धुरित्था।
22. तदैव, 1.20.10
    उद् वयं तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरम्।
    देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्।।
23. ऋग्वेद, 1.115.1
24. तदैव, 1.1.1

卐

बुद्ध की वर्ण तथा जाति सम्बन्धी दृष्टि

डॉ. अजय कुमार मिश्र* डॉ. राखी रावत**

बौद्धकालीन समाज में वर्ण एवं जाति व्यवस्था का स्वरूप विकृत हो चला था। वर्णों का विभाजन जो कर्म के आधार पर हुआ था वह टूट रहा था एवं जातियों का स्वरूप ग्रहण कर रहा था। समाज में द्विज वर्णों की स्थिति सामान्यतः ठीक थी। परन्तु अन्य वर्णों एवं जातियों की स्थिति दयनीय थी। उनकी आधारभूत मूल आवश्यकताओं की पूर्ति कठिनता से हो पाती थी। उनके पास न तो रहने के लिए मकान थे, न खाने के लिए भोजन, न पहनने के लिए वस्त्र थे, न आने-जाने के लिए यान (सवारी) थी और न प्रकाश के लिए तैल ही था। यों उनका जीवन निराशामय जीवन था।[1] वे समाज में अस्पृश्य (अछूत) समझे जाते थे। उनको देखना भी 'पाप' समझा जाता था। उनके लिए शिक्षा की व्यवस्था नहीं थी। एक तरफ यह स्थिति थी तो दूसरी तरफ ब्राह्मणों का कर्मकाण्ड इतना अधिक प्रबलतया व्याप्त था कि समाज में अन्य वर्णों के लिए यह अभिशाप बन गया था। समाज में धार्मिक रूढ़िवादिता (पोंगापन्थी) व्याप्त थी, जो समाज के अन्य वर्णों एवं जातियों के लिए भारस्वरूप हो चली थी। उनसे बलपूर्वक यज्ञ आदि कर्म कराये जाते थे, यज्ञों में पशुओं की बलि दी जाती थी। हिंसा को महत्त्व दे दिया गया। वर्णों में एक वर्ण ब्राह्मण ही राजनीति एवं समाज का एकमात्र उत्तरदायी (ठेकेदार) बन गया था। यों, समाज में असमानता एवं अव्यवस्था बढ़ती जा रही थी। समाज के लिए यह स्थिति भयंकर एवं अहितकर थी जिसे देखकर किसी की भी आत्मा द्रवित हो सकती थी। इस स्थिति का दृढ़ता से (बलपूर्वक) विरोध करने के लिए ये महामानव शाक्यपुत्र गौतम बुद्ध आगे आये।

उन्होंने वर्णहीन एवं वर्गविहीन समाज की स्थापना के लिए एक आन्दोलन छेड़ा जिसका मुख्य मन्तव्य वर्ण एवं जाति व्यवस्था का तथा कर्मकाण्डों का विरोध एवं समाज में एक जाति (मानव जाति) का सर्जन करना था। इसके सन्दर्भ में संघ की भी उन्होंने स्थापना की। बौद्ध साहित्य इनके आन्दोलन का पूर्णतः प्रतिनिधित्व करता है।

बौद्ध साहित्य का अवलोकन करने पर उनकी जाति सम्बन्धी अवधारणा स्पष्ट हो जाती है। वर्ण-जाति-व्यवस्था के सम्बन्ध में मज्झिनिकाय के वासेट्ठसुत में इस प्रकार कहा गया है-

*एसोसिएट्स प्रोफेसर, प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, पी.जी. कॉलेज, आश्रम बरहज, देवरिया; **प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास, रंजू सिंह महाविद्यालय, सोनाड़ी, देवरिया

(भगवान् कहते हैं-)

"वाष्ठिष्ठ! तुम्हें मैं क्रमष्ठा: यथार्थता कहता हूँ। प्राणियों की जातियों में एक दूसरे से जाति का भेद है। तष्टा और वष्ठा में भी जानते हो (इसके लिए) वह प्रतिज्ञा नहीं करते, जाति का लिंग है उनमें जातियाँ एक दूसरे से भिन्न हैं। फिर कीट-पतंग से चींटी तक जाति का लिंग है, उनमें छोटे-बड़े चौपायों में भी तुम जानते हो, जाति का लिंग है उनमें।...

जैसा इन जातियों में जाति का भिन्न-भिन्न लिंग है, इस प्रकार का जाति-लिंग मनुष्यों में पष्ठक नहीं है न केष्ठों में, न सिर में, न कान में, न आँख में, न मुख में, न नासिका में, न होठ में और न भौंहों में।... मनुष्यों में भेद केवल संज्ञा में है। मनुष्यों में जो गोरक्षा से जीविका करता है ऐसे को 'कष्ठक' जानो, ब्राह्मण नहीं। मनुष्यों में जो ग्राम या राष्ट्र का उपभोग करता है, वाष्ठिष्ठ! ऐसे को 'राजा' जानो, ब्राह्मण नहीं।[2]

उपर्युक्त उद्धरण से भगवान् बुद्ध की धारणा स्पष्ट होती है कि मानवमात्र एक है। उसमें कोई प्रकष्ठिप्रदत्त जाति या वर्ण का अन्तर नहीं है। कर्म मुख्य है। कर्म के आधार पर ही मनुष्य के वर्ण की पहचान हो सकती है। भगवान् बुद्ध जातिवाद को समाप्त करके मानववाद की स्थापना करना चाहते थे। समाज में जो जातिगत भेद है वे उसे मिटाना चाहते थे। संयुक्तनिकाय में वे सुन्दरिक भारद्वाज से कहते हैं, "जाति मत पूछो, कर्म पूछो।"[3] इससे भी स्पष्ट होता है कि वे जाति-भेद को मिटाना चाहते थे। वे एक मानव जाति की कल्पना करते थे।[4] मानवों में उनको परस्पर कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था। उनके अनुसार सभी वर्णों के लोगों के ष्ठारीर के अंग एक समान हैं।[5] उस समय समाज में ऐसी धारणा थी कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैष्ठय, ष्ठूद्र क्रमष्ठा: श्रेष्ठता के अनुसार परिचर्या करे। बुद्ध ने इसका विरोध करते हुए मज्झिनिकाय के एसुकारिसुत्त में इस प्रकार कहा है-

"ब्राह्मण! न मैं सबको परिचरणीय (सेवनीय) कहता हूँ और न मैं सबको अपरिचरणीय (असेवनीय) कहता हूँ।[6] ब्राह्मण! जिसका परिचरण करने से (परिचर्या के हेतु) श्रद्धा बढ़ती है, ष्ठील बढ़ता है, श्रुत बढ़ता है, ज्ञान बढ़ता है उसे मैं परिचरणीय (सेवितक) कहता हूँ।"

इसी सुत्त में भगवान् बुद्ध आर्य धर्म को पुरुष को स्वधन प्रज्ञापन करते हैं।[7] उन्होंने इन प्रसंगों से समाज में व्याप्त जातिगत श्रेष्ठता का विरोध किया है। साथ ही प्राचीन धर्म एवं संस्कष्ठि को सम्मान भी दिया है। भगवान् बुद्ध स्पष्ट रूप से समाज में व्याप्त कर्मकाण्डों के भी विरोधी थे। संयुक्तनिकाय के सुन्दरिक सुत्त में इस प्रकार आया है-

"हे ब्राह्मण! लकड़ियाँ जला-जलाकर अपनी ष्ठुद्धि होना मत समझो, यह बाहरी आडम्बर (ढोंग) मात्र है।..... "हे ब्राह्मण! अभियान तुम्हारे लिए अनाज है।[8] इससे परिलक्षित होता है कि भगवान् बुद्ध के मत में यज्ञ आदि करके ष्ठुद्धि नहीं की जा सकती। यह सब बाह्याडम्बर है।

अध्यात्म की ज्योति से ही पवित्रता आ सकती है। वे समाज को उचित पत्र निर्दिष्ट करना चाहते थे। उनका दृष्टिकोण स्पष्ट है कि न केवल ब्राह्मण ही सत्तापूर्ण पिण्ड ले नदी पर जाकर मैल ध ो सकता है अपितु क्षत्रिय, वैष्ठय एवं ष्ठूद्र भी इस प्रकार मैल धो सकते हैं।[9] अर्थात् स्वच्छता एक वर्ण ही नहीं, अपितु सभी वर्णों के लिए आवष्ठयक है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि छुआछूत के भी वे विरोधी थे।

भगवान् बुद्ध सुत्तनिपात के पराभवसुत्त में कहते हैं- "जो नर जाति, धन और गोत्र का गर्व करता है और जो अपने बन्धुओं का अपमान करता है वह अपनी अवनति का कारण बनता है।[10] इस उद्धरण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गोत्र जाति एवं धन पर मनुष्य को गर्व नहीं करना चाहिए। सुत्तनिपात में ही उन्होंने यह कहा कि न कोई जाति से वष्ठल होता है न कोई जाति से ब्राह्मण। मनुष्य कर्म से वष्ठल होता है और कर्म से ही ब्राह्मण।[11]

इसी सम्बन्ध में उन्होंने सोपाक नामक चाण्डालपुत्र मातंग का उल्लेख किया है और उसके यष्ठास्वी कर्मों का वर्णन करते हुए यह बताया कि उसके बहुत से ष्ठिष्य क्षत्रिय तथा ब्राह्मण थे। वह काम और राग का दमन कर ष्ठुद्ध महापथ में दिव्य यान पर आरूढ़ (सवार) होकर ब्रह्मलोक गया।[12] उनका यह दृष्टिकोण है कि जाति के कारण उसे ब्रह्मलोक में जाने से रोका नहीं गया। इसी सम्बन्ध में उन्होंने एक अन्य उदाहरण दिया है कि धनुर्विद्या, बल और वीर्य जिस युवक में है उसी को राजा युद्ध के लिए नियुक्त करता है, जाति के कारण नहीं।[13] उनके विचारों से जाति, वर्ण आदि का कोई महत्त्व नहीं है, वे मानवमात्र की एक ही जाति मानते थे। उन्होंने प्राणिमात्र के प्रति असीम प्रेमभाव बढ़ाने के लिए अथक प्रयास किया। उनका कहना था कि-

"माता यथा नियं पुत्तं आयुसा एकपुत्तमनुरक्खे।

एवं पि सब्बभूतेसु, मानसं भावये अपरिमाणं।"[14]

जिस प्रकार माता अपनी जान की परवाह न कर अपने इकलौते पुत्र की रक्षा करती है उसी प्रकार हमें सभी प्राणिमात्र की रक्षा करनी चाहिए। उन्होंने धन-संग्रह से ज्यादा दान देने पर बल दिया था। उन्होंने माघ माणवक से कहा है-"माणवक! जो धर्म से धन लाभ कर, धर्म से धन प्राप्त कर एक को भी देता है, दो को भी देता है... सौ को भी देता है, बहुतों को भी देता है वह बहुत पुण्य कमाता है।"[15] इस उद्धरण से यह परिलक्षित होता है कि भगवान् बुद्ध धर्म से धन संग्रह को ही महत्त्व देते हैं और दान देने के लिए लोगों को प्रोत्साहित भी करते हैं।

संयुक्तनिकाय के साधुसुत्त में बुद्ध द्वारा दान की महत्ता का प्रतिपादन किया गया। इस सुत्त में देवताओं द्वारा कहा जाता है- "भगवन! दान कर्म बहुत उत्तम है। धर्म से कमाये गये का भी दान उत्तम है।"[16] देवताओं के इस कथन को भगवान् द्वारा समर्थन प्राप्त होता है।

वे समाज में धन का उपयोग दान देने में मानते हैं। धन मनुष्य के लिए मुख्य नहीं, अपितु उसका उचित उपयोग ही मुख्य है। कंजूसी करने वाला सदैव भयभीत रहता है वह जीवन में सफल नहीं होता।[17]

उपर्युक्त विस्तृत विवेचन से स्पष्ट है कि गौतम बुद्ध के समय में भारतीय समाज विभिन्न वर्णों और जातियों में विभक्त था, जिनमें ब्राह्मणों का वर्ण सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। ब्राह्मणों को इस बात का बहुत अभिमान था कि वे श्रेष्ठ वर्ण में उत्पन्न हुए हैं, इस कारण वे अन्य वर्णों के लोगों को हेय समझते थे। इस प्रकार शूद्र वर्ण के लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्वारा हेय दृष्टि से देखे जाते थे। किन्तु वर्ण-सम्बद्ध यह मान्यता सनातन नहीं थी। गौतम बुद्ध ने स्वयं स्पष्ट किया था कि वर्णों का आधार कर्म है, जन्म नहीं। अर्थात् ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता, अपितु वह जिस प्रकार का कर्म करेगा उसका वही वर्ण माना जायेगा।

गौतम बुद्ध की यह धारणा वस्तुतः वैदिककालीन धारणा थी। वैदिकयुगीन भारतीय समाज कर्मों के अनुसार वर्णों में विभक्त था। ब्राह्मणों का कर्म आध्यात्मिक साधना तथा ज्ञान का प्रसार करना था। क्षत्रिय का कार्य पौरुष सम्पन्न होकर शत्रुओं से युद्ध करना, समाज का संरक्षण तथा शासन करना था। वैश्य का कार्य वाणिज्य द्वारा धनोपार्जन करना एवं दान करना था। शूद्र का कर्म शारीरिक श्रम द्वारा उत्पादन करना एवं सेवा कार्य करना था। किन्तु ये सभी कर्म वैकल्पिक थे। कोई व्यक्ति जन्म से ही विशेष वर्ण का नहीं हो जाता था। जो जिस वर्ण का कर्म करता था उसी वर्ण में उसकी गणना की जाती थी। इन वर्णों के अन्तर्गत अनेक व्यवसाय प्रचलित थे जिनके कारण पश्चात्-पश्चात् जातियों का विभाजन हो गया। ये जातियाँ भी जन्मना नहीं थीं।

किन्तु यह स्थिति कालान्तर में परिवर्तित होती ही गयी। गौतम बुद्ध के समय तक वर्ण एवं जाति सम्बन्धी मान्यता में आमूल परिवर्तन हो गया। अब वर्ण एवं जाति को जन्मना माना जाने लगा था, इस कारण सामाजिक विघटन का विकृत रूप दिखायी पड़ने लगा। गौतम बुद्ध को इन्हीं विघटनकारी शक्तियों का विरोध करना पड़ा। ब्राह्मणों की 'जन्मना श्रेष्ठता' की अवधारणा नष्ट करने के लिए गौतम बुद्ध ने सतत प्रयास किया। उन्होंने 'ब्राह्मण' की वास्तविक परिभाषा बताते हुए ब्राह्मणों के मिथ्या भ्रम को दूर करने का भी प्रयास किया।

भगवान् द्वारा क्षत्रिय की श्रेष्ठता मानने का कारण

यही नहीं, उन्होंने विभिन्न वर्णों की परिगणना करते समय पहला स्थान क्षत्रिय को दिया। इसका कारण यह था कि गौतम बुद्ध के समय में ब्रह्मज्ञान की विद्या ब्राह्मणों के हाथ से निकल कर क्षत्रियों के हाथ में आ गयी थी। इस काल में क्षत्रिय शासन के साथ-साथ समाज के संरक्षण का भी काम करता था। वह याज्ञिक कर्मकाण्डों के स्थान पर शुद्ध चिन्तनमूलक ब्रह्मज्ञान का

उपदेष्टाक बन गया था। फलतः गौतम बुद्ध ने समाज में क्षत्रिय वर्ण को प्रथम स्थान दिया है। उन्होंने अनेक स्थलों पर विभिन्न वर्णों के कर्मों का निरूपण करते हुए अपने समकालीन समाज की वर्ण एवं जाति व्यवस्था के प्रति गहरा असन्तोष व्यक्त किया है।

उनके जीवनव्यापी समाज-सुधार सम्बन्धी आन्दोलन का यह परिणाम हुआ था कि ब्राह्मणों द्वारा स्थापित इस कृत्रिम वर्णव्यवस्था की नींव हिल गयी। गौतम बुद्ध ने अपने संघ में सभी वर्णों और जातियों के लोगों को सम्मिलित किया। संघ के नियमों के अनुसार संघ के सभी सदस्यों को समान अधिकार प्राप्त थे। बुद्ध के उपदेष्टों के प्रभाव से अनेक विद्वान् ब्राह्मण भी न केवल संघ में सम्मिलित हुए, अपितु उनके निकटतम अन्तेवासी शिष्य बन गये। ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य वर्णों एवं जातियों के लोग संघ में दीक्षित होते थे, जिसका प्रमाण अंगुत्तरनिकाय में है।

गौतम बुद्ध अपने संघ के साथ जिस मार्ग से यात्रा करते थे उस मार्ग पर पड़ने वाले जनपदों, नगरों और ग्रामों के मनुष्य एकत्र होकर उनका उपदेश सुनते थे तथा उनसे उनके धर्म में सामूहिक रूप से प्रव्रज्या ग्रहण करते थे। इनमें सभी वर्णों के लोग हुआ करते थे। लगभग आधी शताब्दी तक गौतम बुद्ध का यह आन्दोलन अनवरत क्रम से चलता रहा। उनके महापरिनिब्बान के बाद तो बौद्ध धर्म और भी तीव्र गति से विकास करने लगा और अशोक का शासनकाल आते-आते समस्त भारत का प्रधान धर्म बन गया। इसका परिणाम यह हुआ कि वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप पूर्णतः उलझा हुआ और अस्पष्ट ही बना रहा।

भगवान् बुद्ध ने कहा है कि मानव मात्र में विभेद तो बाह्य एवं कृत्रिम है। इसकी पुष्टि के लिए उन्होंने तर्क किया कि क्या उच्च वर्ग में जन्म पाने से किसी व्यक्ति विशेष के लिए मृत्यु का द्वार बन्द हो जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र कोई भी अजर-अमर नहीं है।[18] सभी का अन्त एक ही है। फिर हम क्यों किसी को जन्मना श्रेष्ठ मानें और दूसरे को हेय दृष्टि से देखें? क्या किसी वर्ण या जाति विशेष में जन्म पाने से ही भौतिक ऐश्वर्य की उपलब्धि तथा मरणोपरान्त स्वर्ग-सुख निश्चित रहता है? क्या जाति के बल पर ही मनुष्य पाप के लिए दोषी नहीं अथवा अपराध के लिए दण्ड का भागी नहीं होता? इसी प्रकार विभिन्न तर्कों द्वारा भगवान् बुद्ध तथा उनके अनुयायियों ने वर्ण और जाति व्यवस्था को व्यर्थ बताने की चेष्टा की है। उन्होंने समाज में ब्राह्मणों के प्रभुत्व को चुनौती दी। उनका तर्क रहा कि यदि ब्राह्मणों ने यह व्यवस्था की है कि वेदों का अध्ययन, अध्यापन ब्राह्मणों का कर्म है, राजत्व क्षत्रिय का, कृषि वाणिज्य वैश्यों का और सेवा कार्य शूद्रों का है तो इसे हम ब्रह्मवाक्य क्यों मान लें।[19] बौद्ध दृष्टिकोण से ऐसी व्यवस्था ब्राह्मणों द्वारा अपने स्वार्थ साधन तथा जीविका के लिए समाज पर लाद दी गयी है। बौद्ध साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि जातिवाद के खण्डन में तथागत को केवल भिक्षु संघों में ही सफलता मिली। यह निर्विवाद सत्य है कि बौद्ध संघ में जातिवाद की कोई वस्तु नहीं थी। बुद्ध ने भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा

कि जिस प्रकार महानदियाँ सागर में मिलकर एकाकार हो जाती हैं उसी प्रकार चारों वर्णों के सदस्य तथागत द्वारा प्रतिपादित धर्म के नियमानुसार प्रव्रजित होकर यह भूल जाते हैं कि हमारा अमुक वर्ण अथवा वंष्ठा था। उनकी एकमात्र संज्ञा रह जाती है- 'श्रमण'[20]। जातिवाद के खण्डन सम्बन्धी बुद्ध के उपदेष्ठा भिक्षु संघ के बाहर समाज में प्रभावष्ठाली सिद्ध न हो सके। उनके द्वारा प्रतिपादित नवीन सामाजिक विचारधारा का कोई व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा। यदि उन्होंने यह नियम बना दिया होता कि बौद्ध वही व्यक्ति हो सकता है जो अपने को किसी वर्ण अथवा जाति का सदस्य न माने तो बौद्ध धर्म इतना लोकप्रिय नहीं होता। तत्कालीन समाज में जातिवाद की भावना इतनी प्रबल थी कि सभी भिक्षुओं के मस्तिष्क से निकाला नहीं जा सका। अंगुत्तरनिकाय[21] तथा उदान[22] से ज्ञात होता है कि कुछ भिक्षु अपने को ब्राह्मण भिक्षु, उच्चकुलोद्भव भिक्षु आदि संज्ञाओं से सम्बोधित करते हैं। वस्तुतः बुद्ध जन्मना वर्ण के सिद्धान्त के विरोधी जान पड़ते हैं।

ब्राह्मणत्व सम्पन्न ब्राह्मण की निन्दा करते हुए हम उन्हें नहीं पाते बल्कि अब्राह्मणोचित कर्मों में लिप्त गुणहीन ब्राह्मणों का वे अवष्ठय विरोध करते थे। वस्तुतः तथागत ऊँच-नीच की भावना के विरोधी थे क्योंकि ऐसी भावना की प्रबलता समाज के लिए घातक होती है। इसलिए समाज-सुधारक के रूप में उन्होंने इसका विरोध किया। वे परम्परागत समाज के विरोधी नहीं थे वरन् उसकी त्रुटियों को दूर कर उस दुरवस्था का उन्मूलन करना चाहते थे जिसमें किसी जाति विष्ठोष में जन्म ग्रहण करने के कारण ही मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास और उसकी सफलता का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। व्यावहारिक रूप में तत्कालीन सामाजिक संगठन में उनके द्वारा जातिवाद का खण्डन यहीं तक था। बुद्ध द्वारा यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों का स्थान समाज में सर्वोपरि है। जन्मना श्रेष्ठता की भावना को बुद्ध ने निरर्थक कहा है किन्तु बौद्ध साहित्य में उन्हें ही मातष्टतथा पितष्टपक्ष में सात पीढ़ियों तक निष्कलंक बतलाया गया है।[23] बुद्ध के प्रति जनसाधारण की श्रद्धा का एक कारण यह भी था कि जिस कुल में उनका जन्म हुआ था वह अत्यन्त श्रेष्ठ माना जाता था। पालि बौद्ध साहित्य में बुद्ध के समकालीन प्रायः सभी श्रेष्ठ ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों का वर्णन अपने-अपने कुल की श्रेष्ठता प्रदर्ष्ठित करते हुए किया गया है। सात पीढ़ियों तक निष्कलंक कुल के आधार पर ही ब्राह्मण सोणदण्ड को उनके सहयोगियों ने कहा कि आप भगवान् बुद्ध के दर्ष्ठनार्थ न जायं।[24] जब यही बात ब्राह्मण कूटदन्त से कही गयी तो उन्होंने उत्तर दिया - "भगवान् बुद्ध का कुल भी तो सात पीढ़ियों तक पवित्र एवं निष्कलंक है फिर मैं क्यों उनके दर्ष्ठनार्थ न जाऊँ।"[25]

यद्यपि वर्ण-व्यवस्था बौद्ध धर्म के व्यापक प्रभाव के बाद भी पूर्णतः समाप्त नहीं हो सकी, किन्तु उसका वह कठोर रूप, जो गौतम बुद्ध के पहले था, बाद में नहीं रह गया। बौद्ध प्रभाव के कारण ही किसी-न-किसी वर्ण में सम्मिलित हो गये। इस तरह हमें मानना पड़ता है कि गौतम बुद्ध

की मान्यताओं का वर्ण-व्यवस्था पर भी व्यापक प्रभाव पड़ा है।

सन्दर्भ ग्रन्थः

1. अंगुत्तरनिकाय, तीसरा निपात, अनु. भदन्त आनन्द कौष्ठाल्यायन; प्रकाष्ठाक- महाबोधि सभा, कलकत्ता 1963, पष्ठ- 110
2. मज्झिमनिकाय, अनुवादक- त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकष्त्यायन, महाबोधि सभा सारनाथ वाराणसी 1964, वासेट्ठ सुत्त,पष्ट413-14
3. संयुत्तनिकाय, अनुवादक- भिक्षु जगदीष्ठा काष्ठयप, महाबोधि सभा सारनाथ वाराणसी, 7/1/9, पष्ट134, 135
4. दिव्यावदान, सम्पा. एल. वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा 323/14
5. दिव्यावदान, वही, 324/3-6, 327/17-20
6. मज्झिमनिकाय, अनुवादक- त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकष्त्यायन, महाबोधि सभा सारनाथ वाराणसी 1964, एसुकारि सुत्त, पष्ट404
7. मज्झिमनिकाय, अनुवादक- त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकष्त्यायन, महाबोधि सभा सारनाथ वाराणसी 1964, पष्ट405
8. संयुत्तनिकाय, वही, सुन्दरिकसुत्त, पष्ट139
9. मज्झिमनिकाय, वही, पष्ट405
10. सुत्तनिपात, अनुवादक- भिक्षु धर्म रक्षित, महाबोधि सभा वाराणसी, पराभवसुत्त, गाथा 14, पष्ट23
11. सुत्तनिपात, वही, वसलसुत्त, पष्ट27, 21
12. सुत्तनिपात, वही, वसलसुत्त, पष्ट28, 29
13. संयुत्तनिकाय, वही, तीसरा परिच्छेद, तष्ठीय वर्ग, पष्ट86
14. सुत्तनिपात, वही, मेत्तसुत्त, पष्ट31
15. सुत्तनिपात, वही, माघसुत्त, पष्ट99
16. संयुत्तनिकाय, वही, साधुसुत्त, पष्ट22
17. संयुत्तनिकाय, वही, मच्छरिसुत्त, पष्ट20
18. विमानवत्थु 5/13/15, पेतवत्थु 2/6/12
19. जातक 6, पष्ट208
20. चुल्लबग्ग 9/1/4
21. अंगुत्तरनिकाय 1, पष्ट19
22. उदान 1/5
23. दीघनिकाय 1, पष्ट131, मज्झिमनिकाय 2, पष्ट166
24. दीघनिकाय 1, पष्ट113
25. दीघनिकाय, कूटदन्तसुत्त

卐

स्वास्थ्य ष्ठिाक्षा में विद्यालयों की भूमिका

डॉ. सुषमा श्रीवास्तव*

"स्वास्थ्य जीवन का वह गुण है जो व्यक्ति को अधिक समय तक जीवित रहने तथा सर्वोत्तम प्रकार से सेवा करने के योग्य बनाता है।" *-जे.एफ. विलियम्स*

स्वास्थ्य केवल बीमारी या अंगविहीनता की अनुपस्थिति ही नहीं है वरन् ष्ठारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक कल्याण की पूर्ण दष्ठा है। जिस देष्ठा के नवयुवक ष्ठारीरिक, मानसिक एवं नैतिक रूप से स्वस्थ होंगे वह राष्ट्र सदैव उन्नति के पथ पर अग्रसर रहेगा। स्वास्थ्य व्यक्तिगत जीवन के लिए ही आवष्ठयक नहीं है वरन् राष्ट्रीय जीवन के लिए भी आवष्ठयक है। इसके अभाव में व्यक्ति का जीवन स्वयं अपने तथा समाज दोनों के लिए भारस्वरूप बन जाता है।

स्वास्थ्य

स्वास्थ्य का अर्थ उस स्वस्थ दष्ठा से लगाया जाता है जिसके द्वारा ष्ठारीर तथा मस्तिष्क के समस्त कार्य सुचारु रूप से सक्रियतापूर्वक सम्पन्न किये जाते हैं। जे.एफ. विलियम्स ने लिखा है- "स्वास्थ्य जीवन का वह गुण है जो व्यक्ति को अधिक समय तक जीवित रहने तथा सर्वोत्तम प्रकार से सेवा करने के योग्य बनाता है।" विष्ठव स्वास्थ्य संगठन ने कहा है- "स्वास्थ्य रोग या निर्बलता का मात्र अभाव नहीं है वरन् ष्ठारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक कल्याण की पूर्ण अवस्था है।" बेब्सटर के ष्ठाब्दकोष्ठा में कहा गया है- "स्वास्थ्य ष्ठारीर, मन या आत्मा में स्वस्थता तथा नीरोगता की अवस्था है। मुख्यत: यह ष्ठारीरिक रोग या दु:ख का अभाव है।"

ष्ठारीर और मस्तिष्क की सामान्य एवं प्राकष्तिक स्थिति स्वास्थ्य का सर्वप्रथम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लक्षण है, जब व्यक्ति अपने स्वास्थ्य को बनाये रखने में असमर्थ होता है तभी रुग्णावस्था का प्रारम्भ हो जाता है। दूसरे ष्ठाब्दों में, स्वास्थ्य की अनुपस्थिति का ही नाम रोग है। स्वास्थ्य जीवन की वह विष्ठेषता है जो व्यक्ति को सर्वोत्तम ढंग से जीवन जीने एवं सेवा करने के लिए तैयार करती है। अत: स्वास्थ्य में पर्याप्त मात्रा में ष्ठारीरिक ष्ठाक्ति, सक्रियता या चुस्ती एवं सहनष्ठीलता को सम्मिलित किया जा सकता है। साथ ही साथ मानसिक रूप से व्यक्ति का स्वस्थ होना आवष्ठयक

*असिस्टेण्ट प्रोफेसर, ष्ठिाक्षाष्ठास्त्र विभाग, महाराणा प्रताप महिला पी.जी. कॉलेज, रामदत्तपुर, गोरखपुर

है जिससे कि वह दैनिक जीवन की माँगों की पूर्ति कर सके।

स्वास्थ्य शिक्षा

स्वास्थ्य शिक्षा ज्ञान का वह भाग है जो व्यक्ति, समुदाय और जाति की स्वास्थ्य सम्बन्धी आदतों एवं दृष्टिकोणों को अच्छा बनाने में सहायक होता है। स्वास्थ्य शिक्षा के द्वारा जनसाधारण को यह समझाने का प्रयास किया जाता है कि उसके लिए क्या स्वास्थ्यप्रद और क्या हानिप्रद है तथा इनसे साधारणतया बचाव कैसे किया जाय। संक्रामक रोगों, जैसे- चेचक, क्षय और विसूचिका (हैजा) इत्यादि के टीके लगवाकर हम कैसे अपनी सुरक्षा कर सकते हैं। स्वास्थ्य शिक्षक ही आम जन से सम्पर्क स्थापित कर स्वास्थ्य शिक्षा द्वारा स्वास्थ्य सम्बन्धी आवश्यक नियमों का उन्हें ज्ञान कराता है। इस योजना से लोग यथाशीघ्र स्वास्थ्य रक्षा सम्बन्धी नियमों से परिचित हो जाते हैं। स्वास्थ्य शिक्षा से तत्काल लाभ पाना कठिन होता है क्योंकि इसमें स्वास्थ्य शिक्षक का अधिकतर समय लोगों का विश्वास प्राप्त करने में लग जाता है।

चिकित्सा क्षेत्र में कार्य करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को रोगोपचार के अतिरिक्त किसी-न-किसी रूप में स्वास्थ्य शिक्षक के रूप में भी कार्य करने की क्षमता रखनी पड़ती है। स्वास्थ्य शिक्षा का कार्य कभी भी स्वतंत्र रूप से नहीं चल सकता। यह हमेशा 'शिक्षा विभाग' एवं 'स्वास्थ्य विभाग' के संयुक्त उत्तरदायित्व पर ही चलता है। इसका सफलतापूर्वक प्रसार स्वयंसेवकों द्वारा होता है। स्वास्थ्य स्वयंसेवकों के लिए यह आवश्यक है कि वे आधुनिकतम स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सम्बन्धी ज्ञान से अपनी योग्यता को बढ़ाते रहें जिससे उस ज्ञान का सही स्थान पर उचित रूप से स्वास्थ्य शिक्षा के अन्तर्गत जनता के लाभार्थ प्रसार एवं उपयोग कर सकें।

स्वास्थ्य शिक्षा का हमारे जीवन में एक अहम स्थान है। बालकों को उत्तम स्वास्थ्य, सुरक्षा सम्बन्धी क्रियाओं का प्रचलन, स्वास्थ्य संगठनों, विभिन्न बीमारियों और दुर्घटनाओं के कारण एवं निवारण के विषय में अवगत कराना हमारी जिम्मेदारी बनती है।

स्वस्थ रहना सबसे बड़ा सुख है। कहावत भी है- 'पहला सुख नीरोगी काया।' कोई भी व्यक्ति तभी अपने जीवन का पूरा आनन्द उठा सकता है जब वह शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ रहे। 'स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क निवास करता है।' इसलिए मानसिक स्वास्थ्य के लिए भी शारीरिक स्वास्थ्य अनिवार्य है। ऋषियों ने कहा है- "शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्।" अर्थात् यह शरीर ही धर्म का श्रेष्ठ साधन है। यदि हम धर्म में विश्वास रखते हैं और स्वयं को धार्मिक कहते हैं तो अपने शरीर को स्वस्थ रखना हमारा पहला कर्तव्य है। यदि शरीर स्वस्थ नहीं है तो जीवन भारस्वरूप हो जाता है। वेदों में ईश्वर से प्रार्थना की गयी है-

'पश्येम् शरद! शतम्, जीवेम् शरद! शतम्

श्रुणुयाम् शरद! शतम्, प्रब्रूयाम् शरद! शतम्

स्याम् शरद! शतम्, भूयश्चच शरद! शतात्'

अर्थात् "हम सौ वर्ष तक देखें, जिएँ, सुनें, बोलें और आत्मनिर्भर रहें। (ईश्वर की कृपा से) हम सौ वर्ष से अधिक भी वैसे ही रहें।"

एक विदेशी डॉ. वेनेडिक्ट जस्ट ने कहा है- "उत्तम स्वास्थ्य वह अनमोल रत्न है जिसका मूल्य तब ज्ञात होता है, जब वह खो जाता है।" वास्तव में स्वास्थ्य का सीधा सम्बन्ध क्रियाशीलता से है। जो व्यक्ति शारीर और मन से पूरी तरह क्रियाशील है, उसे ही पूर्ण स्वस्थ कहा जा सकता है। कोई रोग हो जाने पर क्रियाशीलता में कमी आती है, इसलिए स्वास्थ्य भी प्रभावित होता है।

विद्यालय स्वास्थ्य-शिक्षा कार्यक्रम

इसके अन्तर्गत स्वास्थ्य-शिक्षा कार्यक्रम को तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है-

(1) स्वास्थ्य सेवा- इसका उद्देश्य बालक के स्वास्थ्य का मूल्यांकन करना, स्वास्थ्य की सुरक्षा करना, स्वास्थ्य सम्बन्धी दोषों एवं रोगों से माता-पिता को परिचित कराना, रोगों का उपचार कराना आदि है।

(2) स्वस्थ जीवनयापन- विद्यालय में स्वास्थ्य-शिक्षा के कार्यक्रम का दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग स्वस्थ जीवनयापन है। विद्यालय का महत्त्वपूर्ण दायित्व है कि वह एक स्वस्थ एवं स्वच्छ भौतिक वातावरण प्रदान करे जो पूर्णतः स्वास्थ्यप्रद हो।

(3) स्वास्थ्य सम्बन्धी शिक्षा- प्रत्येक बालक को उत्तम स्वास्थ्य स्थापित करने की आवश्यकता से अवगत कराया जाना आवश्यक है। उत्तम स्वास्थ्य क्या है, इसे किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, बीमारियों से किस प्रकार बचा जा सकता है, आदि के विषय में बालकों का अवगत होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त उन्हें पौष्टिक भोजन तथा सफाई के महत्त्व और मानसिक एवं संवेगात्मक विषयों से भी अवगत होना परमावश्यक है। इन समस्त बातों का ज्ञान स्वयं बालक के लिए ही नहीं, वरन् समस्त समुदाय एवं राष्ट्र के लिए भी लाभप्रद है। यह ज्ञान स्वास्थ्य-शिक्षा के व्यवस्थित कार्यक्रमों द्वारा प्रदान किया जा सकता है। यद्यपि बालक-बालिकाओं के स्वास्थ्य का प्रारम्भिक उत्तरदायित्व परिवार पर है परन्तु विद्यालय भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकता है।

बालक में स्वास्थ्यपूर्ण आदतें पड़ें, यह कार्य विद्यार्थी जीवन में ही हो सकता है। समाज के सभी व्यक्ति 11-12 वर्ष विद्यालय में रहते हैं, इसलिए स्वास्थ्यपूर्ण रहन-सहन वहीं पर अच्छी प्रकार से सीखा जा सकता है। स्वास्थ्य शिक्षा के पाठ विद्यालयों में ठीक ढंग से सीखे जा सकते

हैं। वैज्ञानिक प्रगति के कारण स्वास्थ्य-शिक्षा सम्बन्धी नियमों में गहनता आती जा रही है, जिसका सरलीकरण विद्यालय में ही सम्भव हो सकता है।

स्वास्थ्य-शिक्षा प्रायः व्याख्यान या भाषण देकर एवं विभिन्न प्रकार की मुद्रित सामग्री का प्रयोग करके प्रदान की जाती है। परन्तु रेडियो कार्यक्रम का उपयोग एवं नाटकों का आयोजन तथा फिल्म दिखाकर, नुमाइश लगाकर एवं स्वास्थ्य-सप्ताह मनाकर स्वास्थ्य-शिक्षा को अधिक रुचिकर बनाया जा सकता है। स्वास्थ्य-शिक्षा प्रदान करने के लिए महत्त्वपूर्ण साधनों के उपयोग के साथ ही स्वस्थ वातावरण का निर्माण किया जाय तो उद्देश्य की प्राप्ति सरल हो सकती है।

स्वास्थ्य-शिक्षा में भारत सरकार की चार योजनाएँ

1. राज्य सरकारों को माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में कम्प्यूटर शिक्षा एवं कम्प्यूटर की मदद से शिक्षा देने के लिए विद्यालयों में सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT)
2. राज्य सरकारों तथा गैर सरकारी संस्थाओं (NGOs) द्वारा असमर्थ बच्चों को मुख्य धारा में लाने के लिए असमर्थ बच्चों की एकीकृत शिक्षा (IEDC)
3. गैर सरकारी संस्थाओं (NGOs) को ग्रामीण क्षेत्रों में लड़कियों के छात्रावास चलाने में सहायता देने के लिए माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों की बालिकाओं के लिए खानपान एवं छात्रावास सुविधाओं का सुदृढ़ीकरण (पहुँच एवं न्याय)
4. अन्तर्राष्ट्रीय विज्ञान ओलिम्पियाड को सहायता के साथ-साथ विद्यालयों में गुणवत्ता में वृद्धि जिसमें योग की शुरुआत, विद्यालयों में विज्ञान की शिक्षा, पर्यावरण शिक्षा एवं जनसंख्या शिक्षा के लिए राज्य सरकारों को सहायता देने का प्रावधान शामिल है। वर्तमान रूप या संशोधित रूप में ये सभी योजनाएँ नयी योजना के साथ मिल जाएँगी। वित्तीय रूप से कमजोर बच्चों को स्वयं के रोजगार या अंशकालीन रोजगार के लिए तैयार कर सीखने के दौरान आय अर्जित करने का प्रावधान करने के साथ-साथ राज्य/केन्द्रशासित प्रदेश प्रखण्ड व जिला स्तर पर व्यावसायिक (वोकेशनल) प्रशिक्षण केन्द्र एवं संस्थाएँ स्थापित कर सकते हैं।

स्वास्थ्य-शिक्षा के लिए यह आवश्यक है कि हम इसे किस विधि या माध्यम से दें। प्रथम तो स्कूलों एवं कॉलेजों के पाठ्यक्रमों में स्वास्थ्य-शिक्षा का समावेश हो जिसमें व्यक्तिगत स्वास्थ्य तथा व्यक्ति एवं पारिवारिक स्वास्थ्य की रक्षा तथा लोगों को स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों की जानकारी कराना; संक्रामक रोगों की घातकता तथा रोग निरोधन के मूल तत्त्वों का लोगों को बोध कराना; स्वास्थ्य रक्षा के सामूहिक उत्तरदायित्व को वहन करने की शिक्षा देना शामिल है।

इस प्रकार से स्कूलों में स्वास्थ्य-शिक्षा प्राप्त कर रहा छात्र आगे चलकर सामुदायिक स्वास्थ्य

सम्बन्धी सेवाओं में निपुणता से कार्य कर सकता है तथा अपने परिवार के लोगों की स्वास्थ्य रक्षा हेतु उचित उपायों का प्रयोग कर सकता है। अनुभव द्वारा यह देखा भी गया है कि इस प्रकार की स्कूल में स्वास्थ्य शिक्षा से सम्पूर्ण देष्ठा की स्वास्थ्य रक्षा में प्रगति हुई है।

सामान्य जनता को स्वास्थ्य सम्बन्धी सूचना देना

यह कार्य मुख्य रूप से स्वास्थ्य विभाग का है परन्तु अनेक ऐच्छिक स्वास्थ्य संस्थाएँ एवं अन्य संस्थाएँ जो इस कार्य में रुचि रखती हैं, सहायक रूप से कार्य कर सकती हैं। इस प्रकार स्वास्थ्य-शिक्षा प्रदान करने का कार्य आजकल रेडियो, समाचारपत्र, भाषण, सिनेमा, प्रदर्शनी तथा पुस्तिकाओं की सहायता से यथाशीघ्र सम्पन्न हो रहा है। इसके अतिरिक्त अन्य उपकरणों का भी प्रयोग करना चाहिए जिससे जनता का अधिक-से-अधिक ध्यान स्वास्थ्य-शिक्षा की ओर आकर्षित हो सके। इसके लिए विशेष प्रकार के व्यवहारकुशल और शिक्षित स्वास्थ्य शिक्षकों की नियुक्ति करना श्रेयस्कर है।

रोगियों की सेवा सुश्रूषा तथा अन्य स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों में निपुण लोगों से स्वास्थ्य-शिक्षा दिलाना

यह कार्य स्वास्थ्यचर बड़ी कुशलता से कर सकता है। प्रत्येक रोगी तथा प्रत्येक घर जहाँ चिकित्सक जाता है, वहाँ किसी-न-किसी रूप में उसे स्वास्थ्य-शिक्षा देने की सदा आवश्यकता पड़ती है। अतः प्रत्येक चिकित्सक के स्वास्थ्य शिक्षा चिकित्सक के प्रमुख अंग के रूप में ग्रहण करना चाहिए। इस तरह से कोई भी स्वास्थ्यचर स्वास्थ्य शिक्षक तथा चिकित्सक जनता की सेवा कर सकता है। रोग पर असर करने वाले स्वयंसेवकों की कार्य सीमा कितनी है, इसका लोगों को बोध कराना अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रकार से दी गयी शिक्षा ही सही स्वास्थ्य-शिक्षा कही जा सकती है और उसका जनता जनार्दन के लिए सही और प्रभावशाली असर हो सकता है।

सन्दर्भ-सूचीः

1. शैक्षिक प्रशासन, प्रबन्धन एवं स्वास्थ्य शिक्षा - रामबाबू गुप्ता; आलोक प्रकाशन, लखनऊ, इलाहाबाद
2. विद्यालय प्रशासन संगठन एवं स्वास्थ्य शिक्षा - एस.पी. सुखिया एवं गुरसरनदास त्यागी; अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा
3. राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान - विकिपीडिया (इण्टरनेट)
4. स्वास्थ्य शिक्षा - विकिपीडिया (इण्टरनेट)
5. Government of India, Ministry of Human Resource Development - (Internet)

卐

संचार : सिद्धान्त, व्यावहारिक उपयोग एवं महत्त्व

डॉ. अरविन्द कुमार सिंह*

संचार करना मानव का एक बहुत ही सहज एवं स्वाभाविक गुण है। व्यक्ति जिस किसी भी भाषा, संस्कृति एवं परिवेश में पला-बढ़ा होता है, वह उसमें रहते हुए अपने ढंग से संचार प्रक्रिया को स्वतः ही सीखता रहता है। मनुष्य संचार प्रक्रिया को उम्र के उस दौर से सीखना आरम्भ करता है, जिस समय उसे बहुत सी अन्य प्रकार की बातों की जानकारी एवं समझ नहीं होती है। संचार प्रक्रिया को सीखने के लिए किसी प्रकार की औपचारिक शिक्षा एवं प्रशिक्षण नहीं दिया जाता है। एक बच्चा अपने परिवार में पलते-बढ़ते हुए संचार के लिए प्रयुक्त भाषा एवं इससे सम्बन्धित अन्य प्रकार के गुण स्वतः ही सीखता रहता है। यह प्रवृत्ति व्यक्ति में बाद के उम्र में भी बनी रहती है। संचार के सन्दर्भ में विविध प्रकार की सैद्धान्तिक बातें भी कही गयी हैं। ये सभी बातें संचार के मनोविज्ञान एवं समाजविज्ञान के अन्तर्गत अध्ययन से ज्ञात किये गये हैं। यहाँ पर संचार के विविध महत्त्वपूर्ण पहलुओं एवं संचार प्रक्रिया के कुछ मुख्य सिद्धान्तों के बारे में चर्चा की गयी है।

व्यक्ति संचार के विविध प्रकार के तरीकों को अपने निरीक्षण के आधार पर ही सीखता है। अनुभव एवं ज्ञान के आधार पर भी इसमें निखार आता है। संचार कला सीखने की प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न स्तर की होती है। कुछ व्यक्ति संचार कला को बहुत सतही स्तर पर ही सीख पाते हैं, वहीं पर बहुत से व्यक्ति संचार की इस कुशलता में काफी अधिक माहिर हो जाते हैं। उनकी सीखने की जबरदस्त प्रवृत्ति होती है। इसलिए वे संचार कार्य अन्य की तुलना में कहीं ज्यादा सफल एवं प्रभावी ढंग से करते हैं। संचार कला का विकसित होना काफी हद तक व्यक्ति के अभ्यास एवं उसकी इच्छा शक्ति पर निर्भर करता है।

संचार की आवश्यकता

संचार करना मानव का एक बहुत ही आधारभूत गुण एवं आवश्यकता है। संचार जीवन के सभी प्रकार के कार्यों की पृष्ठभूमि में शामिल होता है। यह किसी भी कार्य को करने के लिए

*पत्रकारिता एवं जनसंचार संस्थान, छत्रपतिशाहूजी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर

मौखिक, लिखित या फिर अन्य प्रकार से इस्तेमाल किया जाता है। इसी प्रकार, किसी कार्य को करने एवं उसे आगे बढ़ाने के लिए भी संचार का उपयोग किया जाता है। यह किसी भी मानवीय क्रिया-कलाप का एक अभिन्न अंग है और किसी प्रकार के कार्य के आरम्भ से ले करके उसके समापन के दौरान विविध रूप एवं तरीके से इसका इस्तेमाल किया जाता है। संचार मानव अस्तित्व के लिए बहुत ही आवष्ठयक है। एक बच्चा जन्म लेने के साथ ही रोने, चिल्लाने एवं अन्य प्रकार के गैर-ष्ठाब्दिक (नानवर्बल) क्रिया-कलापों के माध्यम से अपनी भावनाओं को व्यक्त करता है। मनुष्य विविध प्रकार के प्रतीक चिह्नों से ले करके वर्तमान में अत्याधुनिक संचार के साधनों जैसे मेल, फैक्स, ई-मेल, फोन के माध्यम से व्यक्ति एक दूसरे से संचार करता आ रहा है। सही ढंग से किये जाने वाले संचार जीवन में सफलता प्राप्त होती है। कुष्ठाल संचार से जीवन की विभिन्न प्रकार की समस्याओं को आसानी से हल किया जा सकता है। संचार कला का व्यावसायिक दुनिया में भी बहुत महत्त्व रखता है। विज्ञापन, जनसम्पर्क, मार्केटिंग जैसे क्षेत्र में कुष्ठाल संचार का अपना अलग ही महत्त्व है। पत्रकारिता एवं जनसंचार जैसे विषय की पूरी ष्ठिाक्षा विविध प्रकार के जनमाध्यमों के द्वारा बेहतर संचार करने के तरीके बताने के लिए मूल रूप से दी जाती है। मनुष्य के आम जीवन में तो इसकी काफी आवष्ठयकता पड़ती है। दैनिक जीवन के विविध प्रकार के कार्यों को पूर्ण करने में कुष्ठाल संचार आवष्ठयक है। दूसरी तरफ, संचार प्रक्रिया के स्वरूप में विकष्ठि होने के कारण सामाजिक, पारिवारिक वातावरण खराब होता है। किसी प्रकार के सम्बन्ध के बिगड़ने में गलत ढंग से किये जाने वाले संचार की काफी महत्त्वपूर्ण भूमिका हो जाती है। इस प्रकार से किये जाने वाले संचार न केवल व्यक्तियों वरन् समूहों एवं देष्ठाों के बीच भी सम्बन्ध ों को खराब कर सकते हैं।

जीवन में प्रभावी संचार का महत्त्व हमेष्ठा रहा है। किसी भी स्तर पर किये जाने वाले संचार को प्रभावी ढंग से करने की अपनी उपयोगिता है। संचार लोगों के बीच सम्बन्धों को बेहतर कर सकता है। यह घर, परिवार एवं विविध प्रकार के समाज एवं अन्य जगहों के सन्दर्भों में लागू होता है। सही ढंग से किया जाने वाला संचार लोगों के सम्बन्धों में गहराई लाता है और उसे बनाये रखने में मददगार होता है। यह टीम वर्क को भी मजबूत करता है। प्रभावी संचार एक सीखने की प्रक्रिया होती है।

संचार व्यक्तित्व की एक पहचान

संचार द्वारा लोगों को सूचना, ज्ञान, मनोरंजन देने के अतिरिक्त अन्य प्रकार की बातों की भी जानकारियाँ प्राप्त होती हैं। यह किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं उसकी जीवन-संस्कष्ठि के बारे में विस्तार से जानकारी प्रदान करता है। कोई व्यक्ति जिस प्रकार से संचार कर रहा होता है, उससे

उसकी भाषा, ज्ञान एवं समझ के बारे में भी जानकारी मिलती है। संचार के दौरान इस्तेमाल में लाये जाने वाले शब्दों एवं उसे प्रस्तुत किये जाने के ढंग से व्यक्ति के भौगोलिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की भी झलक मिलती है। यदि किसी व्यक्ति को संचार के बारे में मनोवैज्ञानिक स्तर पर बारीकी के साथ समझ है, तो फिर वह सामने वाले व्यक्ति के संचार में कही गयी बातों के आधार पर उसके बारे में बहुत प्रकार की जानकारियों को प्राप्त कर सकता है।

संचार एक कला

संचार एक कला है और इसे लगातार बेहतर बनाने की आवश्यकता होती है। यह जीवन में किसी प्रकार की सफलता पाने के लिए आवश्यक है। संचार विभिन्न जगहों पर होने वाले विविध प्रकार के क्रिया-कलापों को सही ढंग से प्रस्तुत करने के लिए भी यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण साधन है। कुशल संचार में प्रस्तुत शब्द एक जादू की तरह से होते हैं जो कि जटिल प्रकार की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हैं। संचार कला में स्पष्टता, प्रभाव एवं आत्मविश्वास का काफी महत्त्व होता है। सभी प्रकार के कार्य एवं क्रिया-कलाप को सही प्रकार से होने के लिए यह आवश्यक है कि हर व्यक्ति स्पष्ट तौर पर बातचीत करे। उसे सही प्रकार की भाषा एवं शब्द के उपयोग के सन्दर्भ में जानकारी होनी चाहिए। इसी के साथ एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि यह अर्थात् संचार सिर्फ शब्द ही नहीं, वरन् व्यक्ति के बॉडी लैंग्वेज के माध्यम से भी सन्देश दिया जाता है। इस प्रकार के संचार गैर-शाब्दिक (नानवर्बल) संचार के अन्तर्गत आता है। नानवर्बल संचार के अन्तर्गत बातचीत, कहने के ढंग, चेहरे की भाव-भंगिमा, हाथ आदि की स्थिति आदि संचार के प्रभाव के निर्धारण में काफी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जब हम कुशल संचार की बात करते हैं तो इसका आशय सही परिप्रेक्ष्य में बात करना, सुनना और उसे सही समय पर एवं सही प्रकार से समझना रहता है। किसी व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह परिस्थितियों को सही प्रकार से समझे और उनको ध्यान में रख करके बातचीत करे।

संचार का बढ़ता दायरा

हमारे दैनिक जीवन में संचार प्रक्रिया का दायरा भी लगातार बढ़ता जा रहा है। पहले व्यक्ति एक निश्चित भू-भाग में रहता था, उसका आवागमन भी काफी कम होता था। जीवन में सीमित क्रिया-कलाप होते थे। इसलिए संचार का स्वरूप भी एक सीमित दायरे में ही किया जाता था। किन्तु, अब स्थिति काफी बदल चुकी है। जीवन की व्यस्तता बढ़ने के साथ ही उसके अनुरूप हमें अपने कार्यों को निपटाने के लिए संचार कार्य को अधिक-से-अधिक करने की आवश्यकता हो रही है। व्यक्ति विविध प्रकार के क्रिया-कलापों में पहले की तुलना में अब काफी अधिक शामिल हो रहा है। इस कारण उसे भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्तियों से विविध स्तरों पर संचार करने

की आवष्ठयकता होती है।

मोबाइल एवं अन्य प्रकार के कई ऐसे संचार तकनीक भी विकसित हुए हैं, जिनसे वाचिक एवं लिखित दोनों प्रकार के संचार के स्वरूप में काफी बढ़ोत्तरी हुई है। अब व्यक्ति को हर प्रकार की स्थिति में संचार के लिए तैयार रहना पड़ता है। मोबाइल एवं अन्य संचार तकनीक के मनोवैज्ञानिक पक्षों से अभी भी हम काफी हद तक अनजान रहते हैं। इस कारण इन माध्यमों से संचार करने के दौरान कई प्रकार की समस्याओं का भी सामना करना पड़ता है। पहले जहाँ बातचीत के लिए कुछ खास स्थितियाँ एवं स्थान होते थे, वहीं पर समय के साथ स्थिति में धीरे-ध ीरे काफी बदलाव भी होते गये हैं। अब तकनीक हर स्थिति एवं किसी भी समय पर बातचीत करने का अवसर प्रदान करते हैं। कई बार यह भी होता है कि हम बातचीत की स्थिति में नहीं होते हैं किन्तु बात करने के लिए मजबूर होते हैं। इसी प्रकार, सँभल करके संचार करने की आवष्ठयकता अब पहले से कहीं अधिक हो गयी है।

संचार में विष्ठवसनीयता

किसी भी प्रकार के संचार में व्यक्ति की विष्ठवसनीयता उसके प्रभाव डालने में काफी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। व्यक्ति की विष्ठवसनीयता कई प्रकार के कारकों पर निर्भर करती है। इसमें व्यक्ति का चरित्र, व्यक्तित्व, स्वभाव, संचार के दौरान उसके द्वारा दिखने वाला मंतव्य तथा किसी प्रकार के विषय के बारे में उसका ज्ञान जैसे पक्ष सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि कुछ संचार विष्ठोषज्ञ कुछ अन्य प्रकार के पक्षों पर भी जोर देते हैं। किन्तु, ये छः पक्ष सबसे महत्त्वपूर्ण हैं।

संचार करने वाले व्यक्ति की विष्ठवसनीयता कई स्तरों पर बनती है। उदाहरण के लिए, जब कोई वक्ता कहीं पर बातचीत आरम्भ करता है तो फिर उसके बारे में श्रोता आरम्भ में ही एक विचार बनाये रहते हैं। यह विचार श्रोता को वक्ता के बारे में पहले से प्राप्त जानकारी के आधार पर होती है। इसे आरम्भिक विष्ठवसनीयता कहा जा सकता है। संचार के दौरान वक्ता की बातों को सुन करके वे उसके बारे में उसके प्रति अपने मन में विष्ठलेषण करते रहते हैं। इस दौरान उसकी विष्ठवसनीयता कम ज्यादा होती रहती है। यह विष्ठवसनीयता मूल स्वरूप से हट करके होती है। फिर आखिर में श्रोता वक्ता की बात समाप्त होने के बाद सभी प्रकार की बातों के विष्ठलेषण के आधार पर अन्तिम तौर पर उसके बारे में अपना निष्कर्ष निकालता है। इस स्तर पर बनी विष्ठवसनीयता अन्तिम रूप से बनती है।

संचार में निरीक्षण

किसी प्रकार की घटना, वस्तु आदि के बारे में व्यक्ति अपनी इन्द्रियों की मदद से जानकारी प्राप्त करता है। संचार में किये जाने वाले निरीक्षण को व्यक्ति विविध प्रकार से करता

है। इस प्रकार के निरीक्षण के अपने कई चरण होते हैं। इस प्रकार यह एक सक्रिय प्रक्रिया है। निरीक्षण में किसी प्रकार के विषय वस्तु आदि के बारे में कोई व्यक्ति अपने अनुभव की मदद लेता है। इसके अतिरिक्त वह उसकी तुलना इससे मिलती-जुलती वस्तु, घटना से करके भी ज्ञात करता है। किसी प्रकार के संचार निरीक्षण में व्यक्ति कितना सफल हो पायेगा, इसमें उसकी उम्र, सेक्स बुद्धिमत्ता, व्यक्तित्व आदि की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। यही नहीं, यदि व्यक्ति को प्रशिक्षित कर दिया गया है, तो फिर वह संचार के दौरान कहीं अधिक बेहतर ढंग से निरीक्षण कर सकता है।

संचार के विविध स्तर

व्यक्ति विविध स्तरों पर संचार करता है। इसका वर्गीकरण कई प्रकार से किया गया है। किन्तु संचार कार्य में कितने व्यक्ति शामिल हैं, यह संचार के वर्गीकरण का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण आधार है। जब व्यक्ति अपने आप से संचार करता है, तो उसे आत्मकेन्द्रित संचार कहते हैं। जब वह किसी अन्य व्यक्ति से बातचीत करता है तो इस प्रकार के संचार को अन्तर्व्यक्ति संचार कहते हैं। इसी प्रकार, समूह में किये जाने वाले संचार को समूह संचार तथा बड़ी संख्या में लोगों से किया जाता है तो उसे पब्लिक या लोक संचार कहते हैं। इसी तरह से जब माध्यमों का इस्तेमाल करके दूर-दूर स्थित व्यक्तियों तक बातों को पहुँचाया जाता है तो उस समय इसे जन संचार या मास कम्युनिकेशन कहा जाता है।

संचार के उक्त वर्णित सभी प्रकार के स्तरों में जन संचार के स्वरूप काफी विस्तृत हैं। एक साथ बहुत ही विस्तृत क्षेत्र में फैले आडियन्स तक अपने सन्देश प्रसारित करता है। पारम्परिक तौर पर समाचार-पत्र, रेडियो, टीवी, फिल्म आदि जन संचार के बहुत ही सुपरिचित एवं प्रभावी माध्यम रहे हैं। इस प्रकार के संचार की मुख्य विशेषता विस्तृत क्षेत्र में रहने वाले विविध प्रकार के श्रोताओं के साथ एक साथ संचार किया जाना होता है। इसका स्वरूप काफी हद तक एक पक्षीय होता है तथा इसमें देर से फीडबैक प्राप्त होता है।

संचार में श्रवणशीलता

संचार एक पक्षीय प्रक्रिया नहीं है। इसमें दूसरे व्यक्ति की बात को सुनना एवं सही प्रकार से उसे समझने तथा उस पर समय से फीडबैक दिये जाने जैसे कार्य भी शामिल हैं। संचार प्रक्रिया सुचारु रूप से करने के लिए इसमें भाग लेने वालों में सुनने का गुण होना आवश्यक है। अधिकतर लोग अपनी बातों को तो कहना चाहते हैं, किन्तु दूसरे की बात को धैर्य के साथ सुनने के लिए वे अपने आपको तैयार नहीं कर पाते हैं; जबकि जरूरत इस बात की होती है कि यदि एक व्यक्ति दूसरे की किसी प्रकार की बातों को सुना है या सुन रहा है तो फिर वह भी उस व्यक्ति की बातों

की तरफ ध्यान दे। प्रभावी संचार दो तरफा होता है। बातचीत के दौरान श्रोता द्वारा सामने वाले व्यक्ति को यदि सीधे नहीं देखा जा रहा है तो फिर इसका आष्ठाय यही है कि उसके नानवर्बल संचार को नहीं देख रहा है। दूसरी तरफ, अपनी तरफ ध्यान न देने की स्थिति में व्यक्ति स्वयं को उपेक्षित महसूस करता है। अपनी बात को सुना करके व्यक्ति को दूसरे से जुड़ाव भी महसूस होता है। किसी भी प्रकार की स्थिति में यदि लोगों की बातों को नहीं सुना जा रहा है, तो उस समय वे अपने मन में एक प्रकार से असन्तोष रखते हैं और वे अपनी बात न सुनने वाले के प्रति एक प्रकार की दुर्भावना भी रखते हैं। सुनने के दौरान किसी प्रकार के व्यवधान को भी सामने नहीं आने देना चाहिए।

सभी प्रकार की स्थिति में स्पष्ट तौर पर बातचीत करना काफी महत्त्वपूर्ण बात होती है। किन्तु इसका आष्ठाय यह नहीं है कि बहुत ही कठिन अथवा सजावटी ष्ठाब्दों का इस्तेमाल किया जाये। इसका अर्थ यही है कि किसी भी स्थिति के अनुसार सही ष्ठाब्द का चयन उसका सही गति, पिच अर्थात् आवाज के उतार-चढ़ाव तथा टोन के साथ प्रस्तुत करना होता है। प्रभावी संचार के लिए व्यक्ति का सही प्रकार से भौतिक उपस्थिति का काफी महत्त्व होता है। जब किसी व्यक्ति से आमने-सामने हो करके बातचीत किया जा रहा होता है, इसका मतलब यही है कि कोई व्यक्ति किस प्रकार से खड़ा है और उसके चेहरे की भाव-भंगिमा कैसी है और उसके हाथ किस प्रकार से कार्य कर रहे हैं।

संचार के दौरान कुछ खास स्थिति

संचार करने के दौरान विविध प्रकार की स्थिति भी उत्पन्न होती है। कुछ स्थितियाँ सकारात्मक होती हैं, वहीं कुछ स्थितियाँ ऐसी भी होती हैं जिसमें कि संचार बाधित होता है। अत: संचार करने के दौरान इस बात की पहचान की जानी चाहिए कि जिसमें कि व्यक्ति को यह जानकारी मिल सके कि बातचीत में तनावपूर्ण स्थिति आ रही है। संचार में तनावपूर्ण स्थिति आने पर साँस आदि तेज गति से चलने लगते हैं। ऐसी स्थिति में तत्काल निपट लेना ही ठीक होता है। बातचीत में जब किसी प्रकार के संचार में अनावष्ठयक गम्भीर स्थिति उत्पन्न होती है, उस समय हँसी-मजाक करना जरूरी हो जाता है। इसी प्रकार, संचार के दौरान कई बार बहुत ही भावपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार की स्थिति के बारे में समय से पहचान कर लेना ठीक होता है, तभी समय से वक्ता द्वारा सबसे उबर पाना सम्भव हो पाता है। विविध प्रकार के भाव के अन्तर्गत क्रोध, दु:ख, भय, घष्ठा, आष्ठचर्य एवं खुष्ठी जैसे भाव आते हैं। वे कौन से कारक हैं जिनसे कि व्यक्ति किसी भाव विष्ठोष की स्थिति में जाता है, इस प्रकार की स्थिति से परिचित होने के बाद वह उसके प्रति सावधान हो सकता है। इस प्रकार के भाव के प्रति जागरूकता के माध्यम से इस बात के प्रति भी जानकारी मिलती है कि लोगों को किस प्रकार की बात परेष्ठान कर रही

है और उसके बारे में किस प्रकार से बातें कहनी हैं।

गैर-शाब्दिक (नानवर्बल) संचार

वे सभी प्रकार के सन्देश जिन्हें कि कहने के बजाय किसी अन्य प्रकार से दिया जाता है, वे सब नानवर्बल संचार के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार के संचार का उपयोग स्वतंत्र एवं वर्बल संचार का एक अंग बनाकर दोनों तरह से किया जाता है। यदि विविध प्रकार के व्यक्तियों को बातचीत के दौरान ध्यान से देखा जाये तो कुछ नानवर्बल संचार सार्वभौमिक रूप में दिखते हैं और कुछ नानवर्बल संचार किसी खास संस्कृति से जुड़ करके अपना अर्थ देते हैं। संचार के दौरान नानवर्बल व्यवहार पर ध्यान देने से कई प्रकार की वे बातें पता चलती हैं, जिन्हें कि वह बातचीत के माध्यम से या तो नहीं कहता है अथवा उसे कहने की तरफ ध्यान नहीं देता है। ऐसे सन्देश नानवर्बल ढंग से ही व्यक्त होते हैं। कई बार बात के हिसाब से नानवर्बल व्यवहार मैच नहीं करता है, उस स्थिति में जो जानकारी नानवर्बल व्यवहार से निकल करके सामने आती है, वही सत्य के रूप में लिया जाता है। बातचीत के दौरान बातों के कहने का उतार-चढ़ाव एवं शब्दों पर डाला जाने वाला जोर बात के भाव को बतलाता है।

नानवर्बल संचार किसी स्थिति विशेष के सन्दर्भ में ही अर्थ देता है। इसलिए उस स्थिति के अनुसार एक ही प्रकार का नानवर्बल संकेत भिन्न-भिन्न प्रकार की जानकारी देता है। इस बात के प्रति सावधान रहने की आवश्यकता होती है कि कोई नानवर्बल संकेत किस सन्दर्भ में कहा जा रहा है। बॉडी लैंग्वेज नानवर्बल संचार का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण रूप शरीर द्वारा दिये जाने वाले विविध प्रकार के संकेत होते हैं। इसमें मुस्कुराहट, आँखों से किये जाने वाले संकेत, चेहरे के विविध प्रकार के भाव, हाथों के संकेत से सन्देश की जानकारी मिलती है।

संचार प्रक्रिया के नये स्वरूप

लोगों के बीच अन्तर्व्यक्ति संचार बातचीत के माध्यम से ही होती रही है। अभी तक उपलब्ध संचार के तकनीकों में भी बातचीत के लिए आवाज एवं बॉडी लैंग्वेज का ही इस्तेमाल किया जाता रहा है। किन्तु संचार के नवीनतम साधन ने एक दूसरे से टेक्स्ट एवं ग्रैफिक का इस्तेमाल करके भी संचार की सुविधा उपलब्ध करा दी है। इस प्रकार, संचार प्रक्रिया के नये-नये स्वरूप भी विकसित होते जा रहे हैं। टेलीकॉन्फ्रेन्सिंग, ई-मेल, लाइव चैट आदि कुछ इस प्रकार के संचार के तरीके हैं, जिनके बारे में पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। ये संचार के परम्परागत स्वरूप में इस प्रकार से बदलाव ला दिये हैं जिससे कि आगे नये-नये फॉर्मेट में संचार करने की भी सम्भावना बनती दिख रही है। वर्तमान में सोशल साइट पर चैट करने के दौरान विविध प्रकार के इमोटिकान का भी इस्तेमाल किया जाने लगा है। ये एक प्रकार के ग्रैफिक हैं जो

कि बातचीत के दौरान चेहरे से व्यक्त किये जाने वाले मनोभावों को व्यक्त करते हैं।

संचार के विविध सिद्धान्त

संचार के सन्दर्भ में विविध प्रकार के सिद्धान्त विकसित किये गये हैं। इसमें कई सिद्धान्त मूल रूप से मनोविज्ञान एवं सामाजिक विज्ञान जैसे विषयों से लिये गये हैं। मानव के बीच होने वाले संचार के सन्दर्भ में विविध प्रकार के सिद्धान्त विकसित किये गये हैं। ये सिद्धान्त विविध स्तरों पर किये जाने वाले संचार के सन्दर्भ में भी उपयोगी हैं।

बुलेट थियरी

इस सिद्धान्त को हेरोल्ड डि लासवेल ने सबसे पहले प्रतिपादित किया जो कि जन माध्यम के प्रभाव के सन्दर्भ में दिया गया। यह सिद्धान्त उसकी प्रभावी क्षमता की बात करता है। इसके अनुसार जनमाध्यम लोगों पर प्रत्यक्ष तौर पर तत्काल एक समान प्रभाव डालता है। जनमाध्यम लोगों के बीच एक समान विचार को निर्मित करता है। इसके माध्यम से लोगों के बीच वांछित विचार भी निर्मित किया जा सकता है। इस प्रकार, लोगों के बीच यह एक समान सोच एवं विचार पैदा करता है और किसी प्रकार के वांछित विचार पैदा कर सकता है। किन्तु यह सिद्धान्त सभी स्थितियों में एक समान तौर पर प्रभावी नहीं होता है। उस समय, जबकि बहुत ही कम संख्या में जनमाध्यम रहे होंगे, और ऐसे माध्यमों पर लोगों की निर्भरता काफी अधिक रही होगी, तब उस पर प्रसारित किये जाने वाले कार्यक्रम को सुनने वाले उस पर अधिक विष्ठवास करते थे। किन्तु वर्तमान में बहुत बड़ी संख्या जनसंचार माध्यमों के आ जाने के कारण बुलेट थियरी कुछ खास स्थितियों में ही कारगर साबित हो पाती है।

लिमिटेड इफैक्ट थियरी ऑफ मास मीडिया

इस सिद्धान्त को सर्वप्रथम जोसेफ टी. क्लैपर ने 1960 में प्रस्तुत किया था। इसे मीडिया का सीमित या न्यूनतम प्रभाव कहते हैं। इसके अनुसार जनमाध्यम का प्रभाव बहुत ही सीमित ढंग से होता है। किसी प्रकार की घटना के सन्दर्भ में जनमाध्यमों की भूमिका के सापेक्ष जब अन्य प्रकार के मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक कारकों के बारे में विचार किया जाता है तो यही ज्ञात होता है कि वे कहीं अधिक प्रभावी रूप में कार्य करते हैं। व्यक्ति द्वारा धारण किया गया विचार, जिस किसी भी समूह से जुड़े हुए होते हैं, वे सब कहीं अधिक प्रभावी तौर पर कार्य करते हैं। किसी प्रकार के बदलाव लाने में विविध प्रकार के अवरोध आते हैं। अत: यह मान लेना कि संचार माध्यमों के द्वारा तत्काल तौर पर वांछित बदलाव लाये जा सकते हैं, एक प्रकार से गलत धारणा है। जनमाध्यम यथास्थिति बनाये रखने में कहीं अधिक योगदान करते हैं। वे पहले से प्रचलित ध ारणाओं को बनाये रखने में सहयोग करते हैं।

अनसरटेण्टी थियरी ऑफ कम्युनिकेशन

इस सिद्धान्त को सर्वप्रथम चार्ल्स बर्गर एवं रिचर्ड कैलेब्रिज ने 1975 में प्रस्तुत किया। इसे मीडिया का अनसरटेण्टी थियरी कहते हैं। संचार का यह सिद्धान्त दो व्यक्तियों या अन्तर्व्यक्ति संचार के सन्दर्भ में विशेष रूप से लागू होता है। जब दो व्यक्ति आपस में मिलते हैं, तो उनकी मुख्य चिन्ता एक दूसरे के बारे में ज्यादा से ज्यादा जानकारी प्राप्त कर लेनी होती है, जिससे कि वे एक दूसरे से बातचीत सहजता एवं सुगमता के साथ कर सकें। संचार के दौरान लोग अपने बारे में जितना ही अधिक बातें बतलाते हैं और संचार एवं उससे जुड़ी प्रक्रिया को जितना ही अधिक करते हैं, उसी के अनुसार संचार करने वालों के बीच अनिश्चितता भी कम होती है।

स्पायरल ऑफ साइलेंस थियरी

इस सिद्धान्त को एलिजाबेथ नोएला न्यूमैन ने दिया था। इसके अनुसार किसी भी प्रकार के समाज में जो विचार बहुसंख्यक लोगों का होता है, वही जनमाध्यमों में प्रभावी तौर से दिखाया जाता है। ये वे विचार हैं जो कि अल्पसंख्यक या कम संख्या में लोगों द्वारा धारण किया जाता हे, वे सामने नहीं आ पाते हैं। इस प्रकार के विचार धारण करने वाले लोग उसे व्यक्त करने में संकोच करते हैं। यह सिद्धान्त उस स्थिति के लिए विशेष उपयोगी है, जिसमें कि लोग अपने विचार बल देकर प्रस्तुत करते हैं। जब कुछ लोग यह महसूस करते हैं कि वे जिस विचार को रख रहे हैं, वह अल्पसंख्यक में है, उस समय वे अपने विचार बदल करके उस विचार दृष्टिकोण को ग्रहण कर लेते हैं जो कि बहुसंख्यक लोगों द्वारा धारण किया गया रहता है।

पर्सनल इन्फ्ल्यूएंस थियरी या व्यक्तिगत प्रभाव का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त को सर्वप्रथम पॉल लेजरफेल्ड एवं उनके साथियों के द्वारा 1944 में दिया गया था। यह विचार प्रभाव के सन्दर्भ में दिया गया एक सिद्धान्त है। इसके अनुसार, जनमाध्यमों में दिया गया सन्देशा लोगों पर सीधा प्रभाव नहीं डालता है, वरन् वह उनके बीच रहने वाले ओपिनियन लीडर द्वारा इन सन्देशों के किये गये व्याख्या के अनुसार लोग अपने ढंग से अर्थ निकालते हैं। इस प्रकार, सन्देशों के प्रभाव एवं विश्लेषण में ओपिनियन लीडर मुख्य भूमिका निभाता है। वह सन्देशा को जिस प्रकार से व्याख्यायित करता है, उसी के अनुसार लोग समझते हैं। यह सिद्धान्त उन जगहों पर विशेष रूप से लागू होता है, जहाँ पर कि पब्लिक में ओपिनियन लीडर की भूमिका अपेक्षाकृत अधिक प्रभावी होती है। इस प्रकार, यह सिद्धान्त बुलेट सिद्धान्त के विपरीत है जो कि सन्देशा के प्रत्यक्ष प्रभाव की बात कहता है।

मीडिया इकोलॉजी थियरी

इस सिद्धान्त को मार्शल मैकलूहान ने दिया था। किसी भी प्रकार के माध्यम को उसके

परिवेष्ठा के सन्दर्भ में ही समझना चाहिए। माध्यम के संचार तकनीक में बदलाव के कारण संचार के परिवेष्ठा भी बदल जाते हैं, जिससे कि उसके प्रति लोगों का नजरिया भी भिन्न-भिन्न होता है। इस सन्दर्भ में 'मीडियम इज दि मैसेज' मार्ष्ठाल मैकलूहान की एक बहुत ही प्रसिद्ध अवधारणा है। इस प्रकार, एक ही सन्देष्ठा को रेडियो, टीवी, समाचार-पत्र एवं इण्टरनेट आदि माध्यमों से दिये जाने पर लोग उससे भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रभावित होते हैं।

एजेण्डा सेटिंग थियरी

मैक्सवेल मैकम्ब एवं डोनाल्ड ष्ठॉ ने इस सिद्धान्त को 1972 में प्रस्तुत किया। इसके अनुसार जनमाध्यम हमारे बीच उन विषयों मुद्दों की एक सूची प्रस्तुत कर देते हैं, जिन पर हम अपने-अपने ढंग से विचार व्यक्त करते हैं या फिर उस पर चर्चा करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार मीडिया की भूमिका लोगों के सोचने के विषय निर्धारण में मुख्य रूप से होती है। वह समाज में लोगों को यह जानकारी प्रदान करता है कि वर्तमान में कौन सा विषय महत्त्वपूर्ण है, जिस पर कि विचार व्यक्त किया जाना है। उससे प्रभावित हो करके लोग उन विषयों को छोड़ भी देते हैं जो कि महत्त्वपूर्ण तो होते हैं किन्तु मीडिया में उचित जगह नहीं पाते हैं।

गेट कीपिंग थियरी

गेट कीपिंग सिद्धान्त को जर्मन विष्ठोषज्ञ के.जेड. लूइन ने दिया। यह सिद्धान्त किसी प्रकार की संचार प्रक्रिया में ष्ठामिल व्यक्तियों की भूमिका के बारे में जानकारी देता है। यह जन माध्यमों के सन्दर्भ में विष्ठोष तौर पर प्रस्तुत किया जाता है। इसके अन्तर्गत किसी प्रकार के समाचार सन्देष्ठा आदि को प्रकाष्ठान, प्रसारण या इण्टरनेट पर डालने से पहले उसे फिल्टर किया जाता है, या उसमें से ऐसे सन्देष्ठा या उसके उस अंष्ठा को हटा दिया जाता है, जिसे कि वह किसी कारणवष्ठा नहीं देना चाहता है। यह कार्य समाचार-पत्रों में तो रिपोर्टर के स्तर से ही लागू हो जाता है। फिर उसके बाद समाचार सम्पादक एवं अन्य व्यक्ति गेट कीपिंग प्रक्रिया में भाग लेते हैं। व्यावहारिक जीवन में भी व्यक्ति जब भी कहीं एक जगह पर किसी प्रकार की बात को सुनता है तो फिर उसे दूसरे स्थल पर अपने ढंग से इस प्रकार से प्रस्तुत करता है कि उसमें तमाम बातें फिल्टर हो जाती हैं।

कग्नोटिव डिजोनेंस थियरी

इस सिद्धान्त को लियान फेस्टिंगर ने दिया था। यह बातचीत के दौरान उत्पन्न वह स्थिति है जिसके अनुसार जब दो प्रकार के विचार, विष्ठवास, मूल्य आदि एक साथ मस्तिष्क में उत्पन्न हुए होते हैं। यह किसी प्रकार के विचार आइडिया प्रतिक्रिया आदि के सन्दर्भ में लागू होता है। उस समय व्यक्ति एक प्रकार से असन्तुलन महसूस करता है और उसे दूर करने के लिए प्रयास

करता है। इस प्रकार के तनाव को कम करने के लिए या तो अपने मूल विचार को बल देते हैं या फिर विरोधी विचार को मजबूती से बना लेते हैं।

कल्टीवेष्ठान थियरी

इस सिद्धान्त को जॉर्ज गर्बनर ने 1976 में दिया। इस सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान में टीवी लोगों के बीच स्टोरी कहने का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्रोत बन गया है। लोगों द्वारा एक लम्बे समय तक लगातार टीवी को देखने के कारण वह उनमें दुनिया के बारे में विचार बनाने में काफी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। लोग इसी के आधार पर दुनिया के बारे में अपनी अवधारणा विकसित करते हैं। जो व्यक्ति जितना ही अधिक समय टीवी के सामने व्यतीत करता है, वह उसी के अनुसार उसमें दिखाये गये सामाजिक आदि विषयों के बारे में उसी ढंग से प्रभावित होता है। टीवी के दर्ष्टाकों को कई वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। इसमें ऐसे दर्ष्टाक जो कि हैवी व्यूवर होते हैं, वे टीवी में दिखाये जाने वाली सामग्री से अधिक प्रभावित होते हैं।

मीडिया डिपेन्डेंसी थियरी

यह सिद्धान्त मेल्विन डि. फ्ल्योर एवं सान्द्रा बाल ने 1975 में दिया। इस सिद्धान्त के अनुसार लोग जन माध्यमों पर जितना ही अधिक निर्भर होते हैं उनके लिए जनमाध्यम उतना ही अधिक महत्त्वपूर्ण होता है और मीडिया का उतना ही अधिक प्रभाव भी होता है। सामाजिक संस्थाएँ तथा मीडिया एवं ऑडियन्स एक प्रकार से इण्टरैक्ट करती हैं जिससे कि उनकी रुचि आवष्ठयकता आदि में वष्ठद्धि होती है। इसलिए विविध प्रकार के माध्यम अपने कार्यक्रमों के विषयवस्तु इस प्रकार से बनाते हैं जिससे कि लोग उसे अधिक से अधिक देखने के लिए बाध्य हों।

डिफ्यूजन ऑफ इन्नोवेष्ठान थियरी

इस सिद्धान्त को ई.एम. रोजर ने प्रतिपादित किया था। इसे डिफ्यूजन ऑफ इन्नोवेष्ठान के नाम से जाना जाता है। यहाँ पर इन्नोवेष्ठान किसी प्रकार का नया आइडिया विचार या व्यवहार आदि को कहा जाता है। इसी प्रकार डिफ्यूजन वह प्रक्रिया है, जिसके अन्तर्गत किसी प्रकार के नये आइडिया को किसी चैनल के माध्यम से एक समयान्तराल में समाज के विविध सदस्यों के बीच संचारित किया जाता है। यह सिद्धान्त इस अवधारणा पर आधारित है कि कोई भी नये प्रकार का समाजोपयोगी कार्य जब लोगों के बीच दिखाया जायेगा तो फिर उसे देख करके उस प्रकार के कार्य करने के लिए अन्य लोग भी प्रेरित होंगे।

यूज एण्ड ग्रेटिफिकेष्ठान थियरी

इस सिद्धान्त को 1959 में जे.गी. ब्लूम्लर एवं ई. काज द्वारा दिया गया। यहाँ पर यूज का

आष्ठाय उपयोग करने से है। इसी प्रकार से ग्रेटिफिकेष्ठान को आष्ठाय किसी प्रकार की उस सन्तुष्टि से है जो कि लोग मीडिया के उपयोग के पष्ठचात महसूस करते हैं। मीडिया के इस्तेमाल करने वाले उसके उपयोग एवं चयन में काफी सक्रिय भूमिका निभाते हैं और अपने इस कार्य में अपना इस प्रकार से लक्ष्य बना करके चलते हैं जिससे कि मीडिया उसे पूरा करने में समर्थ हो सके। विष्ठोषज्ञों के अनुसार इस प्रकार के विचार की पष्ठठभूमि बीसवीं सदी के चालीस के दष्ठाक में ही आरम्भ हो गयी थी। उस समय लोग रेडियो से उन्हीं कार्यक्रमों को सुनते थे जो कि उनके लिए उपयोगी एवं सन्तुष्टि प्रदान करने वाला हो। बाद में बात टीवी से प्रसारित किये जाने वाले कार्यक्रमों के सन्दर्भ में भी लागू किया जाने लगा।

प्ले थियरी

इस सिद्धान्त को विलियम स्टिफेंसन ने 1967 में विकसित किया था। इसके अनुसार जनमाध्यमों का उपयोग न तो किसी प्रकार से लोगों के बीच उनके विचलन के लिए होता है और न ही यह उनको सन्तुष्ट करने के लिए होता है। यह एक प्रकार से एण्टिएंजाइटी पैदा करने वाला होता है जिसे कि कम्युनिकेष्ठान प्लेजर के रूप में देखा जाता है। इसके कार्यक्रमों को देख करके लोग एक प्रकार के आनन्द का भाव महसूस करते हैं। इस प्रकार मीडिया को लोग एक मनोरंजन के साधन के रूप में देखते हैं।

मॉडलिंग विहैवियर थियरी

इसे सोष्ठाल लर्निंग सिद्धान्त भी कहते हैं। इसे अल्बर्ट बान्दुरा ने 1977 में प्रतिपादित किया। इसके अनुसार किसी प्रकार के व्यवहार को लोग अपने परिवेष्ठा के आस-पास सब कुछ देख करके सीखते हैं। बच्चे अपने चारों तरफ हो रहे क्रिया-कलापों के माध्यम से विभिन्न प्रकार के ढंग सीखते हैं। वे व्यवहार जो कि मीडिया के माध्यम से प्रस्तुत किये जाते हैं, यदि वे उपयोगी हैं तो फिर वे अपने कार्य व्यवहार में स्थायी रूप में एक आदत के रूप में बन जाते हैं। किन्तु इस प्रकार की बातें किसी प्रकार की नकारात्मक बातों के सन्दर्भ में लागू नहीं होती हैं।

जनमाध्यम इस प्रकार के विविध आदत स्वभाव विकसित करने में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। उसमें प्रस्तुत किये गये दष्ठश्य कैरेक्टर को देख करके वे उसी अनुसार स्वयं को भी विविध प्रकार से व्यक्त करना चाहते हैं। अपनी अभिव्यक्ति के तरीके में उसके अनुसार बदलाव लाते हैं।

फोर थियरी ऑफ प्रेस

इस सिद्धान्त को टी. पैटर्सन, विल्बर श्रैम एवं एफ. साइबर्ट ने दिया था। बाद में डेनिस मैक्वल ने इसमें अपने सिद्धान्त को भी जोड़ दिया। इसे मीडिया का नार्मेटिव सिद्धान्त भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत प्रेस का अथारिटेरियन, लिबरटेरियन, सोष्ठाल रिस्पांसिबिलिटी, सोवियत रिस्पांसिबिलिटी सिद्धान्तों को पहले दिया गया एवं बाद में डेनिस मैक्वल ने उसमें डेमोक्रेटिक पार्टिसिपेष्ठान एवं

मीडिया डेवलपमेण्ट सिद्धान्तों को जोड़ दिया। ये सभी सिद्धान्त अपने-अपने ढंग से मीडिया व्यवहार के बारे में बतलाते हैं।

न्यू मीडिया थियरी

न्यू मीडिया सिद्धान्त के अन्तर्गत मीडिया एवं नये मीडिया दोनों के बारे में अध्ययन किया जाता है। इन दोनों मीडिया का आपस में संलयन करके एक भूमण्डलीय परिवेष्ठा तैयार करते हैं। इसने लोगों के हमारे सभी प्रकार के कार्य एवं करने के ढंग को प्रभावित किया है।

उपर्युक्त वर्णित संचार सिद्धान्तों के अतिरिक्त संचार के क्षेत्र में अन्य सिद्धान्त भी दिये गये हैं। उदाहरण के लिए नारकोसिस सिद्धान्त के अनुसार माध्यम लोगों के लिए एक प्रकार के नष्ठा के समान है। जिस प्रकार से व्यक्ति पर ड्रग का असर होता है और वह बहुत ही निष्क्रिय अवस्था में चला जाता है, उसी प्रकार से मीडिया भी लोगों को वास्तविक स्थिति से दूर ले जाता है। सामूहिक सोच की अवधारणा (ग्रुप थिंक कॉन्सेप्ट) के अनुसार एक समूह में रहने वाले लोग एक ही प्रकार के सोच एवं प्रवष्ति रखने लगते हैं। मैनीपुलेटिव अवधारणा के अनुसार मीडिया किसी प्रकार की घटना को काफी हद तक बदल करके प्रस्तुत करने की क्षमता रखती है। उक्त वर्णित सभी सिद्धान्तों की अपनी-अपनी सीमाएँ हैं। मानव संचार व्यवहार के इतने आयाम हैं कि संचार के सन्दर्भ उन सबको किसी एक ही सिद्धान्त के अन्दर नहीं व्यक्त किया जा सकता है। इसे इस प्रकार से भी कह सकते हैं कि संचार तकनीक एवं मानव सभ्यता में बदलाव के कारण मानव संचार व्यवहार के बारे में नये-नये प्रकार के सिद्धान्तों का भी निर्माण होता जा रहा है। वह नये-नये अन्दाज में संचार व्यवहार करता है। इसलिए समय के साथ संचार सिद्धान्तों के नये-नये रूप भी सामने आते रहेंगे।

सन्दर्भः

1. John Vivian; The Media of Mass Communication, 10th edition 2011, PHI Learning Private Limited.
2. Joseph A. Devito; An Introduction to the Study of Communicology; Harper and Row publisher, USA, 1978.
3. Robert L. Heath; Jennings Bryant, Human Communication Theory and Research : Concepts, Contexts, and Challenges; Lawrence Erlbaum Associates, 2000 (2nd edition).
4. John O. Greene; Message Production : Advances in Communication Theory; Lawrence Erlbaum Associates, 1997.
5. Lynda Lee Kaid; Handbook of Political Communication Research; Lawrence Erlbaum Associates, 2004
6. Mass Media and National Development; W. Schramm.

卐

प्राचीन बौद्ध विहारों का प्रबन्धात्मक स्वरूप
(नालन्दा महाविहार के विष्ठोष सन्दर्भ में)

सुबोध कुमार मिश्र*

एक ष्ठिाक्षा केन्द्र के रूप में नालन्दा पर अब तक अनेकानेक कार्य हो चुके हैं। परन्तु इस महाविहार की प्रबन्ध व्यवस्था पर पर्याप्त प्रकाष्ठा नहीं पड़ा है और जो पड़ा भी है, वह सूचनाओं की दष्टि से पर्याप्त नहीं है। वस्तुतः नालन्दा महाविहार के इसी उपेक्षित पक्ष पर यहाँ यथासम्भव प्रकाष्ठा डालने का प्रयास किया गया है, जो इस आलेख का उद्देष्ठय भी है।

चीनी यात्रियों के विवरण एवं आभिलेखिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि नालन्दा महाविहार को उसके निर्वाह के लिए धार्मिक ष्ठासकों से अनेकानेक अनुदान प्राप्त हुए। ह्वेनसांग[1] एवं इत्सिंग[2] इन अनुदानों से प्राप्त ग्रामों की संख्या क्रमष्ठः 100 एवं 200 बताते हैं। यदि चीन यात्रियों द्वारा प्रदत्त ग्रामों की संख्या को हम अतिष्ठायोक्तिपूर्ण मानें तो भी हमें यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इन यात्रियों के आगमन के समय (7वीं ष्ठाती ई.) नालन्दा महाविहार के अधिकार में अनेकानेक ग्राम थे। यद्यपि नालन्दा महाविहार को अनुदान में प्राप्त ग्रामों की पहचान सम्भव नहीं है तथापि ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि आस-पास के अधिकांष्ठा ग्राम इसमें सम्मिलित रहे होंगे। हो सकता है कि दूरस्थ प्रदेष्ठों के भी कुछ ग्राम इसमें सम्मिलित हों।

हम जानते हैं कि प्राचीन काल के जिन ग्रामों को दान में दिया जाता था, उन्हें विषयों से अलग करने की प्रथा थी **(विषया (दु)द्धष्ठ पिण्ड; हर्ष का बांसखेड़ा लेख)**[3]। ऐसी परिस्थिति में दानग्रहीता को ही अनुदान से प्राप्त ग्रामों का ष्ठासन संचालन करना होता था। अतः नालन्दा महाविहार पर भी अपने अधीनस्थ ग्रामों के ष्ठासन संचालन का दायित्व था। अब प्रष्ठन यह उठता है कि नालन्दा के अधीनस्थ ग्रामों का ष्ठासन संचालन कैसे होता था। क्या वास्तव में महाविहार एक ष्ठासकीय इकाई के रूप में कार्य कर रही थी?

उपलब्ध आभिलेखिक साक्ष्य से सिद्ध होता है कि नालन्दा के आस-पास के कुछ ग्राम प्रष्ठासनिक संरचना से जुड़े थे, मात्र उनके राजस्व संसाधन का ही हस्तान्तरण महाविहार के पक्ष में हुआ था। राजगष्ठ विषय के अन्तर्गत **पुरिका** ग्राम का उदाहरण लिया जा सकता है, जिसके 'जानपद' नामांकित मुहरें नालन्दा से प्राप्त हुई हैं।[4] नालन्दा से ही प्राप्त एक अन्य मुहर भी

*प्रभारी, प्राचीन इतिहास पुरातत्त्व एवं संस्कष्ति विभाग, महाराणा प्रताप पी.जी. कॉलेज, जंगल धूसड़, गोरखपुर

उल्लेखनीय है, जिस पर **'जक्कुरका-(स्थान) सुजा-ग्राम-म जानपदस्य'** लेख अंकित है।[5] इससे स्पष्ट है कि सुजा ग्राम जक्कुरका थाने के अन्तर्गत आता था। नालन्दा को अनुदान में प्राप्त वे ग्राम जो सम्भवतः दूरस्थ प्रदेशों में स्थित थे, उनके सम्बन्ध में यह बात अधिक लागू होती है।

उपलब्ध साक्ष्य से सिद्ध होता है कि नालन्दा महाविहार को कुछ ऐसे ग्राम भी प्राप्त थे जिनके सम्पूर्ण स्वामित्व का हस्तान्तरण उनके पक्ष में हुआ था। यह साक्ष्य है नालन्दा से प्राप्त पाल नरेश देवपाल का अभिलेख जिसमें उनके द्वारा नालन्दा के एक विहार को पाँच ग्राम दिये जाने का उल्लेख है। इन ग्रामों के नाम इस प्रकार हैं-

1. बनाक
2. मणिवाटक } राजगृह विषय
3. नाटिक
4. हस्ति } गया विषय
5. पालामक

इन ग्रामों को उपजाऊ ऊसर भूमि, व्रजभूमि, जल, वृक्ष, दण्डापराध, उपरिकर इत्यादि समस्त अधिकार समेत दान दिया गया था। अतः स्पष्ट होता है कि नालन्दा के उक्त विहार को इन ग्रामों का पूर्ण स्वामित्व प्रदान किया गया था। इन ग्रामों की भाँति और भी अन्य ग्राम रहे होंगे। ऐसी परिस्थिति में देखना यह है कि क्या वास्तव में ऐसे ग्राम प्रत्यक्ष रूप से नालन्दा महाविहार द्वारा शासित थे?

इस दृष्टि से नालन्दा से प्राप्त 13 मुहरें अति महत्त्वपूर्ण हैं। ये मुहरें तेरह अलग-अलग ग्रामों के जानपदों द्वारा जारी की गयी थीं। यहाँ पर जानपद शब्द का अर्थ ग्रामसभा से है। इन तेरह ग्रामों में से दो नालन्दा से स्पष्ट रूप से सम्बद्ध थे, जिनकी मुहरों पर लेख इस प्रकार हैं-

1. **श्री-नालन्दा-प्रतिबद्ध मानायिका-ग्राम जानपदस्य**[7]

2. **श्री-नालन्दा-प्रतिबद्ध-आङ्गामि-ग्राम विहारस्य-जानपदस्य**[8]

इनके अतिरिक्त जिन 11 अन्य ग्रामों के जानपदों की मुहरें यहाँ से प्राप्त हुई हैं उनमें **उद्रद्वारस्थान, दण्ठा, चान्दे (कय), अलीक पष्ठ, नवकों** इत्यादि प्रमुख थे।

इन मुहरों से ज्ञात होता है कि इनमें उल्लिखित ग्रामों का शासन संचालन उनके जानपदों अर्थात् ग्रामसभाओं द्वारा होता था। यद्यपि ये सारे गाँव नालन्दा महाविहार को दानस्वरूप प्राप्त थे, ऐसा कहने का हमारे पास कोई स्पष्ट आधार नहीं है तथापि वे दो ग्राम जिन्हें नालन्दा से सम्बद्ध

बताया गया है वहाँ भी जानपदों के होने की सूचना मिलती है। ऐसी परिस्थिति में नालन्दा का इन ग्रामों के दैनिक प्रष्ठासकीय कार्यों से कोई सम्बन्ध नहीं रहा होगा।

यह व्यवस्था महाविहार में रहने वाले भिक्षुओं के लिए भी अधिक लाभप्रद रही होगी। क्योंकि इससे जहाँ एक ओर उनके निर्वाह सम्बन्धी समस्या का समाधान हो गया वहीं दूसरी ओर उन्हें इन ग्रामों के जटिल प्रष्ठासनिक उत्तरदायित्व से भी मुक्ति मिल गयी जिस कारण वे अपना सारा समय अध्ययन, अध्यापन, चिन्तन, मनन में लगा पाए। लेकिन अब स्वाभाविक रूप से उभरता प्रष्ठन यह है कि नालन्दा महाविहार द्वारा अधीनस्थ ग्रामों से राजस्व संग्रहण के लिए क्या व्यवस्था की गयी होगी? यदि प्रत्यक्ष रूप से महाविहार को ही इन ग्रामों से कर संग्रह करना था तो अवष्ठय ही उनके द्वारा इस कार्य के लिए किसी अधिकारी की नियुक्ति की गयी होगी। परन्तु प्राप्त स्रोतों से ऐसी कोई सूचना हमें नहीं मिलती है। इस प्रसंग में ह्वेनसांग का विवरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसके अनुसार नालन्दा महाविहार को जो 100 ग्राम अनुदान स्वरूप दिये गये थे, उन ग्रामों के 200 गष्ठस्वामियों द्वारा प्रतिदिन नियमित रूप से कई सौ **पिक्लस** (मापक पैमाना) साधारण चावल एवं कई सौ **कॉटिस** (मापक पैमाना) मक्खन एवं दूध संघ को पहुँचाया जाता था।[9]

बहुत सम्भव है कि ह्वेनसांग द्वारा वर्णित ये 200 गष्ठपति ग्राम जानपदों के सदस्य रहे होंगे क्योंकि 100 ग्रामों में मात्र 200 परिवार ही रहते हों यह बात कुछ युक्तिसंगत नहीं लगती, अतः उन्हें ग्रामवासियों का प्रतिनिधि स्वीकार करना ही उचित प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि वार्षिक कर का षष्टांष्ठा प्रतिदिन इन ग्राम प्रमुखों द्वारा विहार तक पहुँचाया जाता था। चूँकि उपलब्ध स्रोतों से नालन्दा द्वारा इन ग्रामों से कर संग्रह करने के लिए किसी अधिकारी को नियुक्त करने की कोई सूचना नहीं मिलती, अतः ऐसी परिस्थिति में ग्राम प्रमुखों के माध्यम से ग्रामवासियों से कर संग्रह करने तथा उन्हें विहार तक पहुँचाने की बात अधिक युक्तिसंगत लगती है। सम्भवतः विहार तक पहुँचाने के उपरान्त इसके प्रमाण के तौर पर वे अपने जानपदों की मुहरों को वहाँ छोड़ते थे।

यह व्यवस्था महाविहार एवं ग्राम प्रतिनिधि दोनों के लिए ही अधिक लाभदायक रही होगी। क्योंकि इससे महाविहार की दैनिक आवष्ठयकताओं की पूर्ति भी हो जाती थी और साथ ही ग्राम प्रतिनिधि भी कर संग्रहण से अपने लाभ को सुरक्षित कर लेते रहे होंगे। उत्खनन के दौरान नालन्दा संघाराम स्थल 6 एवं 9 से कई तन्दूरों के अवष्ठोष मिले हैं।[10] इससे स्पष्ट होता है कि यहाँ दैनिक रूप से भोजन पकाने की व्यवस्था थी। अतः प्रतिदिन विहार प्रबन्धकों को खाद्यान्नों की आवष्ठयकता पड़ती थी, जिसकी पूर्ति ग्रामीणों द्वारा ही की जाती थी।

उपर्युक्त विवरण से यद्यपि ऐसा लगता है कि नालन्दा महाविहार का अपने अधीनस्थ ग्रामों के प्रबन्धन में कोई विष्ठोष भूमिका नहीं थी तथापि इस सम्भावना से कदापि इनकार नहीं किया जा सकता है कि समीपस्थ ग्रामों के कुछ भू-खण्डों की देख-रेख प्रत्यक्ष रूप से महाविहार द्वारा

ही होती थी। इत्सिंग के अनुसार भारत के कई विहारों में अधीनस्थ भू-क्षेत्रों पर भिक्षुगण स्वयं अपने निरीक्षण में दास-दासियों से कष्ठि कार्य करवाते थे।[11] बहुत सम्भव है कि यह स्थिति नालन्दा महाविहार के सन्दर्भ में भी लागू रही हो।

नालन्दा महाविहार का आन्तरिक प्रबन्ध

नालन्दा महाविहार के आन्तरिक प्रबन्ध के विषय में आगे चर्चा करने से पूर्व यह जान लेना आवष्ठयक होगा कि यह महाविहार कई विहारों का समूह था। ह्वेनसांग के नालन्दा सम्बन्धी वर्णन में उक्त विषय पर महत्त्वपूर्ण प्रकाष्ठा पड़ता है। ह्वेनसांग के वर्णन से ज्ञात होता है कि यहाँ छः राजाओं द्वारा विभिन्न दिष्ठाओं में छः संघारामों का निर्माण करवाया गया था। इन भवनों को एक प्रवेष्ठा-द्वार युक्त ऊँचे प्राचीर से घेरा गया था।[12] ह्वेनसांग के इस कथन का समर्थन यहाँ किये गये उत्खनन से भी होता है। यहाँ की खुदाई से कुल 11 विहार भवनों के अवष्ठोष मिले हैं।[13]

इन अलग-अलग विहारों को अपने आन्तरिक मामलों की देखरेख स्वयं ही करनी पड़ती थी। इनकी अपनी प्रबन्ध समितियाँ थीं, जिनके सदस्य यहाँ के निवासी भिक्षु ही थे। नालन्दा से अलग-अलग विहारों के भिक्षु संघ की अनेक मुहरें मिली हैं जिनमें से कुछ पर उत्कीर्ण लेख इस प्रकार हैं-

1. **श्री कर (ज्ञ)-महावि (हा)-रे-भिक्षुसंघस्य।**
2. **(न्दा) याम श्री-ष्ठाक्रादित्य-कारित**
   (वि) हारे चातुर्द्दिष्ठ्यार्य-मा (म) हा
   भिक्षु संघस्य।
3. **श्री हरिवर्म्म-महावि**
   हारीय-आर्य भिक्षू स-
   ङ्घस्य।[14]

इन मुहरों के अतिरिक्त नालन्दा से बड़ी मात्रा में ऐसी मुहरें प्राप्त हुई हैं, जिन पर **'श्री-नालन्दा-महाविहारकार्य भिक्षु संघस्य'** लेख उत्कीर्ण है।[15] ऐसा लगता है कि यह नालन्दा के भिक्षुओं के सर्वोच्च संगठन की मुहरें थीं। संगठन में इन्हीं के द्वारा अन्यों पर नियंत्रण रखा जाता होगा।

नालन्दा से प्राप्त मुहरों से यहाँ अलग-अलग कार्यों के सम्पादन के लिए अलग-अलग विभागों के होने की भी सूचना मिलती है; जैसे-

1. **श्री नालन्दा - मूल - नव**
   कमर्मवारिक - भिखूणाम्[16]

नवकार्मिक भिक्षुओं का उल्लेख **विनय पिटक**[17] में भी है। इन पर नवीन भवनों के निर्माण एवं पुरातन भवनों की मरम्मत की जिम्मेदारी होती थी।

2. **श्री नालन्दा चीवरक आ (ज्य) (पान-आ) र्य भिक्षुसंघस्य।**[18]

अवष्ठय ही इन भिक्षुओं पर कर से अथवा दान से प्राप्त चीवर, घी इत्यादि के प्रबन्ध का दायित्व था। इनकी तुलना विनय पिटक में वर्णित भण्डागारिक से की जा सकती है।

यष्ठोवर्मा देव के नालन्दा लेख से ज्ञात होता है कि मालद नामक एक व्यक्ति ने नालन्दा के एक मन्दिर के पक्ष में कई वस्तुओं का दान दिया जिनमें घी, दही, दीपक तथा पूजा सम्बन्धी विविध वस्तु की व्यवस्था के लिए एक अक्षयनीवी भी सम्मिलित थी।[19] ऐसे में इस अक्षयनीवी के प्रबन्ध की आष्ठा भी भिक्षुसंघ से ही की जाती रही होगी। बहुत सम्भव है कि भिक्षु इस धनराष्ठि को बढ़ाने तथा इसे ब्याज अर्जित करने के लिए किसी आर्थिक क्रिया-कलाप में भी सम्मिलित रहे होंगे। यदि ऐसा था तो नालन्दा के विहार निष्ठिचत तौर पर बैंक की भाँति भी कार्य कर रहे थे।

नालन्दा से प्राप्त मुहरों से यहाँ के कर्मचारियों के मध्य एक प्रकार के स्तरीकरण के भी दर्ष्ठान होते हैं। उदाहरण के लिए हम इन मुहरों पर अंकित लेखों को देख सकते हैं-

1. **श्री-नालन्दा चातु**
   दिर्दष्ठिक-समवारिक
   भिक्षु-संघस्य।[20]
2. **श्री नालन्दा-च (या व) क्रा**
   रे वारिक भिक्षूणाम्।[21]

इन लेखों में उल्लिखित 'वारिक' का ष्ठाब्दिक अर्थ चूँकि 'विभागीय अध्यक्ष' से है अत: ऐसा लगता है कि इन वारिक उपाधियुक्त भिक्षुओं के अधीन समवारिक भिक्षु कार्य कर रहे थे।

नालन्दा महाविहार की आन्तरिक प्रबन्ध व्यवस्था विषयक चर्चा में नालन्दा महाविहार के 'अध्यक्ष' का उल्लेख परम आवष्ठयक है क्योंकि इनका नालन्दा महाविहार के सदस्यों में ष्ठीर्ष स्थान था। संघ से सम्बन्धित किसी भी विषय पर उनका निर्णय अन्तिम होता था। अत: इस पद पर ऐसे ही व्यक्ति को प्रतिष्ठित किया जाता था जो अप्रतिम प्रतिभा का धनी हो। नालन्दा महाविहार के अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित ष्ठीलभद्र[22] एवं वीरदेव[23] जैसे विद्वान् इस बात के साक्षी हैं। जहाँ तक इस पद पर नियुक्ति की प्रक्रिया का प्रष्ठन है तो घोस्रवण लेख[24] से ज्ञात होता है कि संघ की सहमति से ही किसी भिक्षु को इस पद पर प्रतिष्ठित किया जाता था। ह्वेनसांग के विवरण से ज्ञात होता है कि नवागन्तुकों के स्वागत से लेकर संघ से सम्बन्धित सभी महत्त्वपूर्ण फैसले इन्हीं के द्वारा लिए

जाते थे। साथ ही यहाँ के क्रिया-कलापों में भी उनकी अगुवाई अपेक्षित थी। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि नालन्दा महाविहार का अध्यक्ष यहाँ के प्रधान की भूमिका निभाता था।

नालन्दा महाविहार के आन्तरिक प्रबन्ध में उपर्युक्त संघीय कर्मचारियों के साथ यहाँ रहने वाले अनेक दास-दासियों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही होगी। इत्सिंग नालन्दा विषयक अपने वर्णन में यहाँ रहने वाले अनेक नौकर-चाकरों का उल्लेख करता है।[25] अवष्ठय ही ये दास-दासी भिक्षुओं की विविध आवष्ठयकताओं के लिए प्रयोग में लाये जाते रहे होंगे। सम्भवत: इन्हें अपने मानवीय श्रम के बदले संघ से भोजन आदि प्राप्त होता था।

अन्तत: निष्कर्षस्वरूप ऐसा कहा जा सकता है कि यद्यपि नालन्दा महाविहार धार्मिक एवं ष्टौक्षणिक गतिविधियों का केन्द्र रहा तथापि इसने अपने अधीनस्थ ग्रामों तथा अन्य सम्पत्तियों के प्रबन्धन के लिए एक व्यवस्था को भी जन्म दिया। विविध कार्यों के सम्पादन के लिए यहाँ अलग-अलग विभाग थे। ये सभी विभाग एक सर्वोच्च समिति के अधीन कार्य कर रहे थे। इस सर्वोच्च समिति द्वारा तीर्थयात्रियों की सुख-सुविधा का भी पूर्ण ध्यान रखा जाता था। यात्रीगण महाविहार परिसर के अन्दर लगी दुकानों से पूजा के लिए विविध सामग्रियों को क्रय भी कर सकते थे। यष्ठोवर्मा देव के नालन्दा लेख से ज्ञात होता है कि मालद ने ऐसी दुकानों (संघान्तिका) से विविध सामग्रियों को क्रय कर यहाँ के भिक्षुओं को दान दिया था।[26]

सन्दर्भ:

1. बील.एस. : लाइफ ऑफ ह्वेनसांग, दिल्ली (प्रथम संस्करण) 1911, पष्ट112
2. तकाकुसु, जे. : रिकार्ड ऑफ दि बुद्धिस्ट रिलीजन एज प्रेक्टिस्ड इन इण्डिया एण्ड दि मलाया आर्किपलगो, बाई इत्सिंग, दिल्ली 1966, पष्ट65
3. सरकार, डी.सी. : सेलेक्ट इंस्क्रिप्ष्यान्स, दिल्ली, 1983, भाग-II, पष्ट221-223
4. ष्ठास्त्री, हीरानन्द : नालन्दा एण्ड इट्स एपिग्रॉफिक मेटेरियल्स, दिल्ली, 1942, पष्ट33
5. पूर्वोक्त
6. ऐपिग्रॉफिक इण्डिया, जिल्द XVII, पष्ट310-327
7. ष्ठास्त्री, हीरानन्द : नालन्दा एण्ड इट्स एपिग्रॉफिक मेटेरियल्स, दिल्ली, 1942, पष्ट32
8. पूर्वोक्त
9. बील.एस. : लाइफ ऑफ ह्वेनसांग, दिल्ली (प्रथम संस्करण) 1911, पष्ट110-111
10. घोष, ए. : नालन्दा, दिल्ली, 1986, पष्ट25, 27
11. तकाकुसु, जे. : रिकार्ड ऑफ दि बुद्धिस्ट रिलीजन एज प्रेक्टिस्ड इन इण्डिया एण्ड दि मलाया आर्किपलगो, बाई इत्सिंग, दिल्ली 1966, पष्ट61
12. बील.एस. : लाइफ ऑफ ह्वेनसांग, दिल्ली (प्रथम संस्करण) 1911, पष्ट110-111
13. घोष, ए. : नालन्दा, दिल्ली, 1986, पष्ट20-28

14. ष्ठास्त्री, हीरानन्द : नालन्दा एण्ड इट्स एपिग्रॉफिक मेटेरियल्स, दिल्ली, 1942, पष्ट37, 38, 40
15. पूर्वोक्त, पष्ट36, 39, 40, 41
16. पूर्वोक्त, पष्ट37
17. सांकष्ट्यायन, राहुल (अनु.): विनय पिटक, वाराणसी, 1984, पष्ट462
18. ष्ठास्त्री, हीरानन्द : नालन्दा एण्ड इट्स एपिग्रॉफिक मेटेरियल्स, दिल्ली, 1942, पष्ट40
19. सरकार, डी.सी. : सेलेक्ट इंस्क्रिप्ष्ठान्स, दिल्ली, 1983, भाग-II, पष्ट229-231; ऐपिग्रॉफिक इण्डिया, जिल्द XX, पष्ट37
20. ष्ठास्त्री, हीरानन्द : नालन्दा एण्ड इट्स एपिग्रॉफिक मेटेरियल्स, दिल्ली, 1942, पष्ट37
21. पूर्वोक्त, पष्ट39
22. बील.एस. : लाइफ ऑफ ह्वेनसांग, दिल्ली (प्रथम संस्करण) 1911, पष्ट105
23. ष्ठास्त्री, हीरानन्द : नालन्दा एण्ड इट्स एपिग्रॉफिक मेटेरियल्स, दिल्ली, 1942, पष्ट81-91
24. पूर्वोक्त
25. तकाकुसु, जे. : रिकार्ड ऑफ दि बुद्धिस्ट रिलीजन एज प्रेक्टिस्ड इन इण्डिया एण्ड दि मलाया आर्किपलगो, बाई इत्सिंग, दिल्ली 1966, पष्ट156
26. सरकार, डी.सी. : सेलेक्ट इंस्क्रिप्ष्ठान्स, दिल्ली, 1983, भाग-II, पष्ट229-231; ऐपिग्रॉफिक इण्डिया, जिल्द XX, पष्ट37

卐

योगिराज बाबा गम्भीरनाथ पुण्यतिथि ष्ठाताब्दी वर्ष के अन्तर्गत बी.एड. विभाग द्वारा आयोजित सप्तदिवसीय कार्यष्ठाला के उद्घाटन अवसर पर प्रतिष्ठित साहित्यकार डा. वेद प्रकाष्ठा पाण्डेय एवं डा. राजष्ठारण ष्ठाही

पूर्वोत्तर रेलवे गोरखपुर मुख्यालय के कर्मियों की कार्यदष्ठाओं के सापेक्ष उनकी कार्यसंतुष्टि : एक विष्ठलेषण

सुभाष कुमार गुप्ता*

प्रस्तावना

कार्मिक जिन परिस्थितियों में कार्य करता है, उनका उसके स्वास्थ्य, कार्यकुष्ठालता, मनोवष्त्ति तथा कार्य के गुणों पर विष्ठोष प्रभाव पड़ता है। लोगों का मत है कि वातावरण मनुष्य का निर्माण करता है, यदि वातावरण में सुधार कर दिया जाय तो मनुष्य स्वयं ही सुधर जायेगा। अस्वस्थ्य दष्ठाओं में अधिक काम करना सम्भव नहीं है। यदि सर्वविदित तथ्य है कि गन्दे, उदास और अस्वस्थकर वातावरण की अपेक्षा स्वस्थ, उज्ज्वल और प्रेरणात्मक वातावरण में मनुष्य अधिक और अच्छे कार्य कर सकता है।

यदि वातावरण में गन्दगी और ष्ठोरगुल है तो कार्मिक का ध्यान बँट जायेगा। कार्य में एकाग्रता का होना आवष्यक है और यह तभी सम्भव है जब बाह्य विघ्नों से कार्मिक का ध्यान न बँटे। दीवारों के रंग और मष्ठीनों की दष्ठाएँ तक कर्मियों की मनोवष्त्ति पर प्रभाव डालती हैं। व्यक्ति इन भौतिक तथा मनोवैज्ञानिक दष्ठाओं से घिरा रहता है। जीवन में मानसिक दष्ठाओं का उतना ही महत्त्व है जितना कि भौतिक दष्ठाओं का। पूर्वोत्तर रेलवे गोरखपुर मुख्यालय में कार्मिक जिन परिस्थितियों में कार्य करता है, उसका प्रभाव उसके स्वास्थ्य, कार्यकुष्ठालता तथा उसकी मनोवष्त्ति पर तो पड़ती ही है, साथ ही साथ कार्य के गुणवत्ता भी प्रभावित होते हैं।[1] मनुष्य भौतिक, जैविक तथा मानसिक घटनाओं से युक्त एक ऐसा जटिल प्राणी है, जो अपने वातावरण की भौतिक, जैविक तथा मानसिक घटनाओं से अक्सर प्रभावित होता रहता है, तथा अपनी प्रतिक्रियाओं से इन पर प्रभाव भी डालता है।[2] अत: कार्य करने की दष्ठाएँ यदि सन्तोषप्रद हैं तो कार्मिक स्वयं कार्य करेगा –किन्तु कार्य करने की दष्ठाएँ सन्तोषप्रद नहीं हैं तब कार्मिक को अधिक कार्य करना सम्भव नहीं होगा। ज्ञातव्य है कि सन्तोषप्रद कार्य करने की दष्ठाएँ केवल कार्मिक की कार्यकुष्ठालता को ही प्रभावित नहीं करतीं अपितु उनके वेतन, प्रवासिता और अधिकारी–कर्मचारी सम्बन्धों पर भी प्रभाव डालती हैं।[3] प्रत्येक कार्मिक की कार्यकुष्ठालता प्रत्यक्ष रूप से उसके स्वास्थ्य तथा उसकी कार्य करने की इच्छा पर निर्भर करती है, यदि कार्य की दष्ठाएँ संतोषजनक हैं, तो कार्मिक के ष्ठारीर व मस्तिष्क पर स्वास्थ्यप्रद प्रभाव पड़ेगा, कार्मिक प्रसन्न रहेगा और कार्य कुष्ठालता बढ़ जाने से कार्य भी अधिक

*ष्ठोध छात्र, वाणिज्य विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विष्ठवविद्यालय, गोरखपुर

एवं अच्छे प्रकार का होगा, इसके विपरीत यदि कार्य करने की दष्ठाएँ असन्तोषजनक हैं तो कार्मिक अपने कार्य को करने में कठिनाई महसूस करेगा, कार्य धीरे-धीरे करेगा और उसके लिए समय बिताना भी कठिन हो जायेगा। सन्तोषजनक कार्य की दष्ठाएँ प्रदान कर नकद वेतन व वास्तविक वेतन की खाई को बहुत कम किया जा सकता है। जहाँ पर कार्य का वातावरण स्वस्थ है और अधिकारियों ने कार्मिक के कल्याण व सुख-सुविधा के लिए प्रबन्ध किया है तो वहाँ पर कार्मिक कम वेतन पर भी कार्य करने को तत्पर हो जाते हैं। इन सब बातों के अतिरिक्त कार्मिक की प्रवासिता का एक मुख्य कारण यह है कि जो कार्मिक गाँव के खुले वातावरण से आता है वह कार्यस्थल से ष्ठीघ्रताष्ठीघ्र अपने गाँव वापस लौट जाने का प्रयास करता है।

सन्तोषजनक एवं स्वास्थ्यप्रद कार्य की दष्ठाएँ कार्मिकों की अस्थिरता के इस मुख्य कारण को दूर कर सकती हैं और उनकी अनुपस्थिति को भी बहुत सीमा तक कम कर सकती हैं। यदि कार्य के लिए उज्ज्वल व स्वच्छ वातावरण प्रदान किया जाता है, तब ऐसा वातावरण अधिकारी व कर्मचारी के बीच अच्छा सम्बन्ध स्थापित करने में सहायक होगा। सन्तोषजनक वातावरण से कार्मिक में थकान व उदासी भी नहीं आ पाती है और वह अपना समय स्वयंसेवी संगठन, परिवार व कल्याण के कार्यों में व्यतीत कर सकता है। कार्य करने की दष्ठाओं के अन्तर्गत अनेक विषय आते हैं; यथा- धूल और गन्दगी, तापक्रम, कार्यस्थल पर उचित स्थान व सुरक्षा, तथा अन्य कल्याणकारी सुविधाएँ जैसे कैन्टीन, स्नानगष्ठ, पीने के पानी की व्यवस्था, जलपान, कार्य के घण्टे इत्यादि।

उपर्युक्त विषयों में अनेक कल्याणकारी सुविधाएँ प्रदान की जाती है। यह भी इस बात पर निर्भर करता है कि अधिकारी इस तथ्य का अनुभव कर लें कि अच्छा वातावरण कार्मिकों के स्वास्थ्य और कार्यकुष्ठालता के लिए बहुत महत्त्व रखता है। कार्मिकों का स्वास्थ्य एवं उनकी कार्यकुष्ठालता अधिकांष्ठात: इस बात पर निर्भर करती है कि उन्हें कितने घण्टे काम करना है, अधिक घण्टों तक काम करने में स्वभावत: कार्मिक को थकान हो जाती है तथा वह अपने कार्य के प्रति ष्ठिथिल भी हो जाता है। थकान के कारण प्राय: कार्मिक का स्वास्थ्य गिर जाता है, इससे भी उसकी कार्यकुष्ठालता पर प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त यदि कार्य के घण्टे अधिक है तब कार्मिक में इधर-उधर घूमने और अनेक बहानों से समय नष्ट करने की प्रवष्ठि उत्पन्न हो जाती है। भारत में अधिकारियों एवं मालिकों को बहुधा यह ष्ठिकायत रहती है कि भारतीय कार्मिक स्थिरचित्त होकर निरन्तर कार्य करने में असमर्थ होते हैं। कार्मिक अधिकतर अपने कार्य स्थल से अनुपस्थित पाये जाते हैं तथा उनके स्थान पर अतिरिक्त कर्मियों को लगाना पड़ता है। अधिक घण्टों से न केवल ष्ठारीरिक थकान होती है, वरन् कार्मिक का अधिक समय तक अपने घर से बाहर भी रहना पड़ता है। फलत: कार्मिक घरेलू काम-काज तथा अपने परिवार की ओर विष्ठोष ध्यान नहीं दे पाता, और न ही अपने मानसिक, ष्ठारीरिक, मनोरंजन और समाजिक कल्याण के लिए समय निकाल पाता है। कार्य स्थल पर, स्वास्थ्यकर कार्य दष्ठाएँ, कार्य के समान्य घण्टे और बीच में विश्राम के लिए मध्यान्तर हो तब कार्मिक अपने कर्तव्यों का कुष्ठालतापूर्वक पालन कर सकता है।

रेलवे में कार्य करने के घंटे 1890 के अधिनियम द्वारा निर्धारित होते थे, 1930 में इस अधिनियम में संशोधन किया गया। इसके अनुसार रोजगार के घंटों के भी नियम बनाये गये। इनके अनुसार लगातार कार्य करने वाले कर्मचारियों के लिए कार्य घण्टों की संख्या 84 है। अपातकाल को छोड़कर सप्ताह में एक दिन छुट्टी करना अनिवार्य कर दिया गया है। रोजगार के घंटों का यह नियम सभी मुख्य रेलों में लागू होता है। परन्तु यह रेलवे वर्कशाप में कार्य करने वाले कर्मचारियों पर लागू नहीं होता क्योंकि वह भारतीय कारखाना अधिनियम के अन्तर्गत आते हैं। अन्य रेलवे कर्मचारी भी अब 48 घंटे प्रति सप्ताह की तथा उन सभी सुविधाओं की मांग करने लगे हैं।

*1951 में सरकार ने कार्य के घण्टों के सम्बन्ध में न्यायाधीष्ठा राजाध्यक्ष के पंचाट को कार्यान्वित कर दिया और इसी उद्देष्ठय से 1956 में रेलवे अधिनियम में भी संशोधन कर दिया इसके बाद 1961 में सरकार ने संशोधन किया। इस सन्दर्भ में रेल कर्मचारियों ने सन् 1974 में काम के घण्टों में कमी कराने के लिए आन्दोलन एवं हड़ताल किये और सरकार ने काम के प्रतिदिन के घण्टों में कमी की मांग स्वीकार भी कर ली। इस प्रकार कार्य के घण्टों को नियंत्रित करने के लिए अनेक वैधानिक व्यवस्थाएँ की गयीं।

अध्ययन के इसी क्रम में **डेविस** ने मानव सम्बन्ध की अवधारणा का निरूपण करते हुए कहा है कि मानव सम्बन्ध का उद्देष्ठय व्यक्तियों को संगठनात्मक परिवेष्ठा में तीन वर्ग के विकास हेतु अभिप्रेरित करता है जिसके माध्यम से व्यक्तिगत एवं संगठनात्मक लक्ष्यों की प्रभावपूर्ण ढंग से प्राप्ति होती है।[4]

अध्ययन का उद्देष्ठय- कर्मियों का कार्य की दष्ठाओं के सापेक्ष कार्य संतुष्टि का अध्ययन करना।

अध्ययन की परिकल्पना- पूर्वोत्तर रेलवे गोरखपुर मुख्यालय के कार्मिक वर्तमान कार्य दष्ठाओं से संतुष्ट नहीं हैं।

अध्ययन की विधि- इस अध्ययन में प्राथमिक एवं द्वितीयक दोनों प्रकार के समंकों का प्रयोग किया गया हैं। द्वितीयक समंकों के लिए विभिन्न पत्रिकाओं, जर्नल पुस्तकों, विभिन्न संघों की रिपोर्टों, भारतीय रेलवे के क्षेत्रीय संगठनों, पूर्वोत्तर रेलवे के मुख्यालय तथा व्यक्तिगत अध्ययन की सहायता ली गयी है।

प्राथमिक समंकों को एकत्रित करने हेतु न्यादर्ष्ठा विधि के आधार पर गोरखपुर मुख्यालय में कार्यरत कर्मियों के बारे में **प्रेक्षण विधि, प्रष्ठनावली, अनुसूची, रेटिंग मापनी एवं साक्षात्कार विधियों** का प्रयोग करते हुए सूचनाएँ प्राप्त की गई हैं।

प्रस्तुत अध्ययन के अन्तर्गत पूर्वोत्तर रेलवे गोरखपुर मुख्यालय के कर्मियों की कार्य-दष्ठाओं के सापेक्ष उनकी कार्य संतुष्टि का अध्ययन किया गया है तथा विभिन्न तालिकाओं के माध्यम से प्रदर्ष्ठित किया गया है।

पूर्वोत्तर रेलवे गोरखपुर मुख्यालय के कर्मियों की वर्तमान कार्य दक्षाएँ
अध्ययन एवं विष्लेषण

तालिका 1

ग्रुप - I के लिए आवष्त्ति एवं प्रतिष्ात

क्रम सं0	कथन	कभी नहीं		कभी किंचित		कभी-कभी		अक्सर		हमेष्ाा	
		आवष्त्ति	%	आवष्त्ति	%	आवष्त्ति	%	आवष्त्ति	%	आवष्त्ति	%
01	मैं महसूस करता हूँ/करती हूँ कि इस नौकरी से व्यक्तिगत एव व्यवसायिक विकास के अवसर बहुत सीमित हैं।	105	23.33	102	22.67	96	21.33	99	22	48	10.67
02	मुझे लगता है कि इस नौकरी की भौतिक वातावरण (ष्ारीरिक श्रम, कार्य के घंटे एवं एकाग्रता) उपयुक्त नही है।	132	29.33	81	18	84	18.67	66	14.67	87	19.33
03	मुझे लगता है कि विभाग/कार्यालय का वातावरण भीड़ ष्ाोरगुल एवं नीरसतापूर्ण है।	186	41.33	66	14.67	87	19.33	72	16	39	8.67
04	मेरे कार्यभार का कोई अन्त नहीं है।	156	34.67	75	16.67	72	16	87	19.33	60	13.33
05	मुझे लगता है कि इस नौकरी में कार्य का दबाव ज्यादा है।	111	27.67	81	18	147	32.67	51	11.33	60	13.33
06	मुझे काफी पीने, लंच आदि के लिए कोई समय नही मिलता है।	111	24.67	90	20	144	32	39	8.66	66	14.67
07	इस नौकरी में जोखिमपूर्ण उत्तरदायित्व ज्यादा है?	111	24.67	66	14.67	96	21.33	96	21.33	81	18
08	कार्य स्थल पर भीतरी भागों का रंग-सज्जा का अभाव है।	126	28	111	24.67	51	11.33	78	17.33	84	18.67
09	मुझे लगता है कि कार्य-स्थल पर कार्यालय-विन्यास की योजन अव्यवस्थित है।	126	28	75	16.67	66	14.67	75	16.66	108	24
10	कार्य स्थल पर स्वच्छता का अभाव है।	126	28	87	19.33	51	11.33	81	18	105	23.34
11	कार्य स्थल पर गंदे पदार्थों के उत्सर्जन का अभाव है।	147	32.67	84	18.67	69	15.33	81	18	69	15.33
12	कार्य स्थल पर ताप नियन्त्रण का अभाव है।	96	21.33	96	21.33	60	13.34	108	24	90	20
13	कार्य स्थल पर वायु का आवागमन का अभाव है।	171	38	66	14.67	87	19.33	75	16.67	51	11.33
14	कार्यस्थल पर प्रकाष्ा की व्यवस्था प्रतिकूल है।	141	31.33	81	18	66	14.67	81	18	81	18
15	कार्यस्थल पर कार्य परिवर्तन से कर्मियों में समन्वय का अभाव है।	135	30	96	21.33	117	26	42	9.33	60	13.34
16	मैं महसूस करता/करती हूँ कि इस कार्य दक्षा के द्वारा मैं अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता/सकती है।	96	21.33	117	26	96	21.33	81	18	60	13.34
17	मैं कार्य करते-करते उब जाने पर अपना काम करना छोड़ देता/देती हूँ।	198	44	66	14.67	111	24.67	39	8.67	36	8
18	कार्यस्थल पर कार्य करने का स्थान उपयुक्त नहीं है।	180	40	54	12	66	14.67	84	18.67	66	14.66
19	कार्य स्थल पर कर्मियों की सुविधाओं का अभाव है।	111	24.66	66	14.67	66	14.67	81	18	126	28
20	कर्मियों की सुविधाओं की रिकार्ड/अभिलेख रखने की कोई व्यवस्था नहीं है।	129	28.67	90	20	51	11.33	93	20.67	87	19.33
21	कर्मियों के बीच सम्प्रेषण का अभाव है।	156	34.67	87	19.33	81	18	72	16	54	12
22	मुझे लगता है कि मेरे काम पर कई अधिकारियों का दबाव है।	153	34	84	18.67	96	21.33	72	16	45	10
23	कार्य की दक्षायें कार्य के अनकूल नहीं है।	144	32	84	18.67	72	16	102	22.67	48	10.66

तालिका- 2

सम्पूर्ण प्रतिदर्श की वर्तमान कार्य दृष्टाओं के सापेक्ष कार्य संतुष्टि का वर्णनात्मक सांख्यिकीय आँकड़ा-

N	न्यूनतम	अधिकतम	माध्य $(\bar{x})$	प्रमाप विचलन (S)
450	8.67	44	61.84	33.29

उपरोक्त तालिका 2 का मूल्यांकन करने से स्पष्ट होता है कि कर्मियों की वर्तमान कार्य दृष्टाओं का माध्य स्कोर 61.84 एवं प्रमाप विचलन 33.29 है।

परिकल्पना का परीक्षण-

उपरोक्त तथ्यों के अध्ययन से यह पता चलता है कि पूर्वोत्तर रेलवे गोरखपुर मुख्यालय के कर्मियों की वर्तमान कार्य दृष्टाओं से सर्वाधिक कार्मिक असंतुष्ट तथा कुछ कार्मिक संतुष्ट हैं। प्रष्ठनावली में दिये गये सभी प्रष्ठनों से उत्तरदाताओं को परिचित कराया गया और कर्मियों ने सभी प्रष्ठनों पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की। प्रष्ठनावली के प्रष्ठनों का दृष्टिकोण प्रदर्शित करने के लिए माध्य एवं प्रमाप विचलन निकाला गया। उत्तरदाताओं ने बहुत से प्रष्ठनों पर नकारात्मक उत्तर दिया और कुछ प्रष्ठनों पर सकारात्मक उत्तर दिया। सभी प्रष्ठन रेलकर्मियों के लिए चुने गये थे। उच्च निर्णय के लिए स्केल का माध्य (3)* का प्रयोग किया गया, परिणाम यह हुआ कि यदि इससे कम अनुक्रिया है तो परिणाम होगा कि वर्तमान कार्य दृष्टाएँ कर्मियों के लिए प्रासंगिक नहीं होंगी और यदि अनुक्रिया का परिणाम 3 से ज्यादा है तो परिणाम कर्मियों के लिए उचित होगा।

$$\text{*स्केल का माध्य} = \frac{1+2+3+4+5}{5} = 3$$

सर्वेक्षण से प्राप्त आँकड़ों का संकलन एवं सांख्यिकीय विष्ठलेषण आगे दी गयी तालिका सं.-3 में किया गया है। तालिका-3 में सामान्यत: यह पाया गया कि सर्वाधिक प्रष्ठनों के माध्य एवं उनके प्रमाप विचलन नकारात्मक मनोवष्ित्त प्रस्तुत कर रहे हैं। यदि उनके माध्य 3 से कम हैं तो पूर्वोत्तर रेलवे गोरखपुर मुख्यालय के कर्मियों की अनुक्रिया प्रासंगिक नहीं होगी, लेकिन यदि परिणाम 3 से ज्यादा होगा तो परिणाम उचित होगा।

ग्रुप -I ''पूर्वोत्तर रेलवे के कार्मिक वर्तमान कार्य दृष्टाओं से संतुष्ट नहीं हैं।'' तालिका 3 के मूल्यांकन से पता चलता है कि केवल एक प्रष्ठन पर उत्तरदाता से सकारात्मक मनोवष्ित्त प्राप्त होती है, क्योंकि माध्य स्कोर, माध्य स्केल (3) से ज्यादा है। इसके प्रमुख बिन्दु हैं- पूर्वोत्तर रेलवे के कार्मिक की वर्तमान कार्य दृष्टाओं के सम्बन्ध में विवरण के क्रम सं0 19 का माध्य सर्वाधिक (3.10) है जिसका आष्ठाय है कि अधिकांष्ठा उत्तरदाता कार्य दृष्टाओं से संतुष्ट हैं। इस प्रष्ठन का कथन था- "कार्य-स्थल पर कर्मियों की सुविधाओं का अभाव है।"

तालिका –3

ग्रुप–IV के अध्ययन के लिए जॉच एवं सांख्यिकी विष्ठलेषण करना

क्रम सं०	प्रष्ठन	माध्य (x)	प्रमाप विचलन (±)	प्रसरण ($\pm^2$)
ग्रुप–IV पूर्वोत्तर रेलवे गोरखपुर मुख्यालय से सम्बद्ध कर्मियों की वर्तमान कार्य दष्ठाओं के सापेक्ष कार्य संतुष्टि				
01	मैं महसूस करता/करती हूँ कि इस नौकरी से व्यक्तिगत एवं व्यावसायिक विकास के अवसर बहुत सीमित हैं।	2.74	1.32	1.74
02	मुझे लगता है कि इस नौकरी की भौतिक वातावरण (ष्ठारीरिक श्रम, कार्य के घंटे एवं एकाग्रता) उपयुक्त नहीं है।	2.77	1.49	2.22
03	मुझे लगता है कि विभाग/कार्यालय का वातावरण भीड़ ष्ठोरगुल एवं नीरसतापूर्ण है।	2.36	1.38	1.90
04	मेरे कार्यभार का कोई अन्त नहीं है।	2.60	1.46	2.12
05	मुझे लगता है कि इस नौकरी में कार्य का दबाव ज्यादा है।	2.71	1.31	1.73
06	इस नौकरी में जोखिमपूर्ण उत्तरदायित्व ज्यादा है।	2.69	1.33	1.76
07	मुझे काफी पीने, लंच आदि के लिए कोई समय नहीं मिलता है।	2.93	1.44	2.06
08	कार्य स्थल पर भीतरी भागों का रंग-सज्जा का अभाव है।	2.74	1.49	2.22
09	मुझे लगता है कि कार्य स्थल पर कार्यालय विन्यास की योजना अव्यवस्थित है।	2.92	1.55	2.41
10	कार्य स्थल पर स्वच्छता का अभाव है।	2.89	1.55	2.42
11	कार्य स्थल पर गंदे पदार्थों के उत्सर्जन का अभाव है।	2.65	1.47	2.16
12	कार्य स्थल पर ताप नियन्त्रण का अभाव है।	3	1.45	2.11
13	कार्य स्थल पर वायु का आवागमन (वेन्टीलेटेष्ठन) का अभाव है।	2.49	1.42	2.02
14	कार्य स्थल पर प्रकाष्ठा की व्यवस्था प्रतिकूल है।	2.73	1.50	2.26
15	कार्यस्थल पर कार्य परिवर्तन से कर्मियों में समन्वय का अभाव है।	2.54	1.35	1.83
16	मैं महसूस करता/करती हूँ कि इस कार्य दष्ठाा के द्वारा मैं अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता/सकती हूँ।	2.76	1.33	1.76
17	मैं कार्य करते-करते ऊब जाने पर अपना काम करना छोड़ देता/देती हूँ।	2.22	1.31	1.70
18	कार्यस्थल पर कार्य का स्थान उपयुक्त नहीं है।	2.56	1.52	2.30
19	कार्य स्थल पर कर्मियों की सुविधाओं का अभाव है।	3.10	1.56	2.42
20	कर्मियों की सुविधाओं की रिकार्ड/अभिलेख रखने की कोई व्यवस्था नहीं है।	2.82	1.51	2.29
21	कर्मचारियों एवं अधिकारियों के बीच सम्प्रेषण का अभाव है।	2.51	1.41	1.98
22	मुझे लगता है कि मेरे काम पर कई अधिकारियों का दबाव है।	2.49	1.36	1.84
23	कार्य की दष्ठाायें कार्य के अनुकूल नहीं है।	2.61	1.40	1.97

इसके अलावा विवरण में जितने भी प्रष्ठन हैं, उनका माध्य स्कोर, माध्य स्केल (3) से कम है। इसका तात्पर्य है कि कार्मिक पूर्वोत्तर रेलवे गोरखपुर मुख्यालय की कार्य दष्ठाओं से असंतुष्ट हैं।

परिकल्पना का परीक्षण

परिकल्पना - I

$H_{0:}$ पूर्वोत्तर रेलवे के कार्मिक वर्तमान कार्य दष्ठाओं से संतुष्ट हैं।

H_{01}: पूर्वोत्तर रेलवे के कार्मिक वर्तमान कार्य दष्ठाओं से संतुष्ट नहीं हैं।

Z–परीक्षण लागू होगा क्योंकि न्यादर्ष्ठा का आकार बड़ा है, और माध्य स्कोर, तटस्थ माध्य स्कोर (23X3) 69 से कम है।

तालिका 4

Z–परीक्षण के लिए वर्णनात्मक एकल न्यादर्ष्ठा सांख्यिकी

Z–परीक्षण के लिए एकल न्यादर्ष्ठा सांख्यिकी

	N	माप ($\bar{X}$)	प्रमाप विचलन ($\pm_x$)	माध्य के प्रमाप विभ्रम S.E of Mean*
वर्तमान कार्य दष्ठाओं से संतुष्टि	450	61.84	33.29	1.57

* माध्य के प्रमाप विभ्रम (S.E of Mean) $(\pm_x) = \frac{\pm}{\sqrt{i}}$

or

$$\pm_x = \frac{\pm}{\sqrt{i}} = \frac{33.29}{\sqrt{450}} = \frac{33.24}{21.21} = 1.57$$

$$Z = \frac{x - «}{s / \sqrt{n}} \sim N(0,1)$$

जहाँ (where) :

$\overline{X}$ = न्यादर्ष्ठा माध्य (Sample mean) (μ) समग्र माध्य (Population mean)

$$Z = \frac{61.84 \sim 69}{33.29} X \sqrt{450}$$

$$Z = \frac{7.16}{33.29} X 21.21$$

$$Z = \frac{151.86}{33.29} = 4.56$$

तालिका 5

Z– परीक्षण के लिए एकल न्यादर्ष्ठा सांख्यिकी

(समग्र का माध्य) परीक्षण मूल्य = 69						
	Z	स्वातंत्र्य मात्रा d.f.	द्विपार्ष्व साचिकता परीक्षण sig. (two tailed test)	माध्य अन्तर Mean difference	95% विष्ठवसनीय अन्तराल के अन्तर पर 95% Confidence interval of differance	
					न्यूनतम Lower*	अधिकतम Upper**
वर्तमान कार्य दष्ठाओं से संतुष्टि	4.56	449	0.001	7.16	4.08	10.24

* न्यूनतम विष्ठवसनीय अन्तराल (Lower confidence Interval)

$$\bar{x} - 1.96 \pm \bar{x} = 7.16 - 1.96 \ X \ 1.57$$
$$= 7.16 - 3.08$$
$$= 4.08$$

** अधिकतम विष्ठवसनीय अन्तराल (upper confidence interval)

$$\bar{x} - 1.96 \pm \bar{x}$$
$$= 7.16 - 1.96 \ X \ 1.57$$
$$= 7.16 + 3.08$$
$$= 10.24$$

उपर्युक्त आँकड़ों का सत्यापन करने के लिए अनुसन्धानकर्ता द्वारा 0.05 अर्थात् 5 प्रतिष्ठात सार्थकता स्तर पर परिकल्पना का परीक्षण किया गया। इस परीक्षण से स्पष्ट होता है कि द्विपाष्ठर्व परीक्षण 0.001 है जो सार्थकता के 0.05 स्तर से बहुत कम है। इस प्रकार 0.05 सार्थकता स्तर पर ष्ठून्य परिकल्पना (H_0) अस्वीकष्त हो गया। तालिका 5 के Z का तालिका मूल्य में 449 (d.f) के लिए 5 प्रतिष्ठात सार्थकता स्तर पर द्विपाष्ठर्व परीक्षण का मान 1.96 है। इस प्रकार गणना मूल्य, तालिका मूल्य से सार्थक रूप से ज्यादा है (Z = 4.56) इस परीक्षण से हमारी ष्ठोध परिकल्पना (H_{o1}) की पुष्टि होती है अर्थात् कार्मिक कार्य दष्ठाओं से सन्तुष्ट नहीं हैं।

निष्कर्ष - प्रस्तुत ष्ठोध के परिणाम यह प्रदर्ष्ठित करते हैं कि पूर्वोत्तर रेलवे गोरखपुर मुख्यालय के कर्मियों की कार्य संतुष्टि उनकी कार्य दष्ठाओं पर निर्भर करती है। परिणाम का उचित सांख्यिकीय विष्ठलेषण कर तालिका में प्रदर्ष्ठित किया गया है, जिनका विवरण निम्नानुसार है। कर्मियों की कार्य दष्ठा का मापन करने से प्राप्त हुआ कि यह कर्मियों के कार्य संतुष्टि के लिए पर्याप्त नहीं है। अर्थात् कार्य-दष्ठा जिस तरह की आवष्ठयक है, वह अनुकूलता के स्तर को प्राप्त नहीं करती है। कार्य दष्ठा सामान्यत: अनुकूलता के स्तर पर औसत तब मानी जाती है, जब माध्य 69 या अधिक प्राप्त होता पर प्रत्यर्थियों द्वारा दी गई अनुक्रिया का माध्य 61.84 है जो औसत से नीचे है। अत: स्पष्टतया कहा जा सकता है कि कर्मियों की कार्य दष्ठा उनके कार्य करने के अनुकूल नहीं है।

सुझाव -

(1) रेलवे में कर्मियों पर कार्य का दबाव ज्यादा है उसे कम किया जाए।

(2) यदि कार्मिक के द्वारा अतिरिक्त कार्य लिया जाए तो उन्हें अतिरिक्त पारिश्रमिक प्रदान किया जाए जिससे उनके मनोबल में वष्द्धि होगी।

(3) कार्मिक सुविधाओं को बढ़ाये जाने हेतु विष्ठोष प्रयास किये जाने चाहिए। इससे उनका मनोबल बढ़ेगा और रेलवे का कार्य त्वरित होगा।

(4) कर्मियों की पदोन्नति उनकी कार्य की गुणवत्ता एवं योग्यता के आधार पर होनी चाहिए।

(5) कर्मियों की ष्ठिकायतों का निवारण अधिकतम 3 माह में करने की व्यवस्था होनी चाहिए।

जैसे- कैरम, म्यूजिक, ष्ठातरंज, गेम इत्यादि।

(7) कर्मियों के लिए ष्ठौचालय एवं मूत्रालय की व्यवस्था बेहतर की जाए।

(8) गोरखपुर मुख्यालय के कारखानों में कर्मियों के लिए ष्ठुद्ध पेयजल, नहाने, कपड़े धोने एवं विश्राम की समुचित व्यवस्था की जाए।

(9) रेल कारखाना में कर्मियों के लिए प्राथमिक उपचार की समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए।

संदर्भ-ग्रन्थ सूची:

1- **अख्तर, एस०एस० एण्ड पेस्टनजी, डी०एम० :** ''इम्पलाइज एडजस्टमेन्ट विदीन एण्ड आउट साइट वर्क सिचुएसन''। इण्डिया सोसियोलाजिकल वर्क, 1963, पष्ट32।

2- **वैलसीन, वी :** सैटिस्फैक्ष्यान इन वर्क अकुपेष्ठानल साइकोलॉजी,'' 1947, पष्ट61।

3- **हाजेज इ०सी० :** ''मैन एण्ड देयर वर्क, ''ग्लेनको, पार्टडफ्रीप्रेस, 1958, पष्ट62-63।

4- **डेविस के :** "हामन एट वर्क" टाटा मैकग्राहिल पब्लिष्ठिंग कम्पनी टाटा 1975 पष्ट85-92।

5- **सहाय, आई.एम:** आधुनिक कार्यालय प्रबन्ध, साहित्य भवन पब्लिकेष्ठान्स, आगरा (2015), पष्ट404-405।

卐

महाविद्यालय में नि:ष्ठुल्क कम्प्यूटर प्रष्ठिक्षण प्राप्त ग्रामीण बच्चे

मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायों का विघटनः एक विवेचनात्मक अध्ययन

डॉ. प्रज्ञेष्ठा कुमार मिश्र*

उन्नीसवीं ष्ठाताब्दी के मध्य तक एक ओर बरतानवी अनुभववादियों ने ज्ञानेन्द्रियों के महत्त्व को पूरी तरह स्थापित कर दिया था तो दूसरी तरफ जर्मन वैज्ञानिकों ने प्रायोगिक अध्ययनों के आधार पर इस बात की पुष्टि कर दी थी कि ज्ञानेन्द्रियाँ किस प्रकार कार्य करती हैं। बेबर ने 1834 में अपनी पुस्तक 'Dc Tactu' में पहली बार ष्ठुद्ध मनोवैज्ञानिक विषय (संवेदना) के सन्दर्भ में परिमाणात्मक व्याख्या प्रस्तुत की। फेकनर की 1860 में प्रकाष्ठित 'Element of Psychophysics' मनोविज्ञान की पहली विजय सिद्ध हुई। फेकनर की दी हुई Methodology ही प्रयोगात्मक मनोविज्ञान का ष्ठिलाधार बनी परन्तु फेकनर का उद्देष्ठय मनोविज्ञान की स्थापना नहीं था। हाँ, इतना अवष्ठय था कि अब अनुभववाद और प्रयोगवाद एक दूसरे के निकट आ गये थे। विल्हेम मैक्सिमिनियन वुण्ट ने आगे बढ़कर अनुभववाद तथा प्रयोगवाद को स्थायी आलिंगन प्रदान किया। यहीं से प्रयोगात्मक मनोविज्ञान की औपचारिक ष्ठुरुआत मानी जाती है।

ऐसा नहीं था कि वुण्ट के पहले मनोविज्ञान नहीं था, लेकिन वह यत्र-तत्र बिखरा हुआ था। वुण्ट ने उसे व्यवस्थित रूप से परिमार्जित कर Systematic Psychology की स्थापना की। इन्होंने मनोविज्ञान में ष्ठुद्ध विज्ञान का दष्टिकोण अपनाया।[1] वुण्ट ने इस नये प्रयोगात्मक मनोविज्ञान की स्थापना योजना अपनी पुस्तक Beitrage (1862) में दी। वुण्ट ने जिस अखण्ड मनोविज्ञान की ष्ठुरुआत की, वह संवेदनवादी, परमाणुवादी, साहचर्यवादी, अन्तर्निरीक्षणवादी, विष्ठलेषणात्मक तथा प्रयोगात्मक था। वुण्टवादी मनोविज्ञान व्यवस्था में सामान्य वयस्क मानव व्यक्तियों के चेतन अनुभवों को अन्तर्निरीक्षणात्मक विष्ठलेषण करके उनके संवेदनजन्य परमाणविक अस्तित्वात्मक तथ्यों तथा उनके आपस में मिलने की खोज करता था। 1879 में वुण्ट ने लिपजिग विष्ठवविद्यालय में मनोविज्ञान की पहली प्रयोगष्ठाला स्थापित की। यद्यपि विलियम जेम्स ने 1875 में हार्वार्ड विष्ठवविद्यालय में प्रयोगष्ठाला स्थापित की थी और उससे पहले स्टम्फ ने भी श्रवण-संवेदनाओं के अध्ययन हेतु प्रयोगष्ठाला स्थापित की थी तथापि जेम्स और स्टम्फ की प्रयोगष्ठालाएँ परिस्थितिवष्ठा बन गयी थीं जबकि लिपजिग प्रयोगष्ठाला एक निष्ठिचत उद्देष्ठय से स्थापित की गयी थी ताकि वहीं से नवोदित प्रयोगात्मक मनोविज्ञान का प्रचार तथा प्रष्ठिाक्षण हो सके।[2]

*प्रवक्ता - मनोविज्ञान, महाराणा प्रताप पी.जी. कॉलेज, जंगल धूसड़, गोरखपुर

विद्यार्थियों का एक बहुत बड़ा दल लिपजिग में तैयार करके वुण्ट ने उन्हें प्रयोगात्मक मनोविज्ञान का दूत बनाकर यूरोप और अमेरिका के विष्ठवविद्यालयों में भेजा। Studien (वुण्ट द्वारा 1881 में ष्ठोध पत्रिका का प्रकाष्ठान आरम्भ किया गया) ने इस नये विज्ञान के प्रचार को और बल पहुँचाया।

विल्हेम वुण्ट के अखण्ड मनोविज्ञान को सबसे पहले विलियम जेम्स ने चुनौती दी। वुण्ट तथा जेम्स दोनों ही चेतन अनुभव को मनोविज्ञान की विषयवस्तु मानते थे किन्तु वुण्ट का चेतन अनुभव बहुत सारे टुकड़ों का योग था जबकि जेम्स का चेतन अनुभव एक अनवरत बहती हुई नदी के समान (Stream of Consciousness) था, जिसका कोई रचनात्मक तत्त्व नहीं होता। चेतन अनुभव की विष्ठोषता के वर्णन में जेम्स ने वुण्ट के प्रति खुला विद्रोह किया। 1887 ई. में जेम्स ने वुण्ट के सन्दर्भ में कहा था- "वुण्ट बौद्धिक जगत् के नेपोलियन बनना चाहते हैं परन्तु दुर्भाग्य से उनको कभी वाटरलू देखना नहीं होगा क्योंकि वे बिना प्रतिभा वाले नेपोलियन हैं और उनका कोई केन्द्रीय विचार भी नहीं है, जिसकी पराजय से कोई भवन ढह जाए।"[3] विलियम जेम्स अमेरिकी मनोविज्ञान को वुण्टियन मनोविज्ञान के प्रभाव से बचाना चाहते थे जिसमें उनको पर्याप्त सफलता भी मिली।

19वीं ष्ठाताब्दी का अन्तिम दष्ठाक वुण्टियन मनोविज्ञान के लिए किसी आपदा से कम नहीं था। 1880 के दष्ठाक में ही अमेरिका के लिपजिग प्रष्ठिाक्षित मनोविज्ञानी खुलकर वैयक्तिक भेदों के अध्ययन और मनोपरीक्षण की ओर झुकते गए। इन प्रवष्ठियों को विलियम जेम्स की पुस्तक 'Principles of Psychology' (1890) से बड़ा बल मिला। वुण्ट को जर्मनी में ही अपने ष्ठिाष्यों द्वारा चुनौती मिलने लगी। कुल्पे (Kulpe, 1862-1915) वुण्ट के विद्यार्थी थे। 1894 में वुजबर्ग विष्ठवविद्यालय (Wurzberg University) में प्रोफेसर पद पर नियुक्त हुए। कुल्पे, मेयर तथा ऑर्थ ने साहचर्य के गुणात्मक स्वरूप पर एक निबन्ध प्रकाष्ठित किया जिसमें यह दावा किया गया कि चिन्तन पूरी तरह अन्तर्दर्ष्ठान के घेरे में नहीं है क्योंकि लोग प्रायः सोचकर वर्णन करते हैं, सोच अथवा चिन्तन का वर्णन नहीं कर पाते। वुण्ट ने वुर्जबर्गियों की इस नयी खोज को मान्यता नहीं दी जिस कारण प्रयोगवादी और अन्तर्निरीक्षणवादी होते हुए भी कुल्पे और उनके सहयोगियों द्वारा वुण्ट के संवेदनवाद के विरुद्ध Wurzberg School की स्थापना हो गयी, जो वुण्ट के विरुद्ध जर्मनी का पहला School (सम्प्रदाय) बना।

वुण्ट जब इस नये विज्ञान का प्रारूप तैयार कर रहे थे तो कहीं से कोई विरोध नहीं था, इसलिए वे सहज ढंग से मनोविज्ञान के विभिन्न पक्षों पर अपने विचार देते गये। टिचनर जब उन्हीं विचारों को लेकर अमेरिका आए तो यहाँ विरोध का वातावरण पाया, फलस्वरूप विरोधियों पर आक्रमण करके अपनी रक्षा करने की योजना बनायी जिसके कारण उनके सोचने तथा समझने का ढंग बड़ा तीखा हो गया। टिचनर द्वारा स्थापित संरचनावाद मूलतः वुण्टवादी मनोविज्ञान का ही तीखा,

विस्तारित और परिष्कृत रूप है। एक आन्दोलन के रूप में संरचनावाद ने मन के अध्ययन में विज्ञान को लाकर मनोविज्ञान को विज्ञान के रूप में खड़ा किया।[4]

जो लोग पुराने विचारों से भावनात्मक स्तर पर सम्बन्धित होते हैं वे नयी खोजों तथा विचारों को समेटने और स्वागत करने में देर करते हैं, जिससे वैज्ञानिकों में फूट पड़ जाती है और नये सम्प्रदायों की नींव पड़ जाती है। मनोविज्ञान के लगभग दर्जन भर छोटे-बड़े सम्प्रदाय गिनवाये जा सकते हैं और लगभग सभी सम्प्रदाय वुण्टवादी मनोविज्ञान के किसी-न-किसी लक्षण के विरोध में विकसित हुए हैं। टिचनर द्वारा स्थापित 'संरचनावाद' इसका अपवाद है। टिचनर वुण्ट से भी अधिक वुण्टवादी थे, जिन्होंने वुण्टियन मनोविज्ञान को बचाने का असफल प्रयास किया।

1896 में जॉन डीवी (John Dewey) ने 'Psychological Review' में अपना एक निबन्ध छपवाया जिसका शीर्षक था 'THE REFLEX ARC CONCEPT IN PSYCHOLOGY', जिसमें जॉन डीवी ने दावा किया कि Reflex arc एक समग्र क्रिया है जिसके अलग-अलग स्वतंत्र टुकड़े नहीं हैं। डीवी ने विश्वासपूर्वक प्रचलित विचार को चुनौती दी कि Reflex arc से सम्बन्धित क्रिया के तीन स्वतंत्र खण्ड हैं- संवेदी, केन्द्रीय और गतिक। डीवी ने यह विश्वास जेम्स के प्रभाव से विकसित किया। डीवी के इस निबन्ध ने टिचनर को उत्तेजित कर दिया। 1897 में टिचनर ने एक जवाबी निबन्ध प्रकाशित किया जिसका शीर्षक था 'ON THE REFLEX ARC CONCEPT IN PSYCHOLOGY'। इस निबन्ध में टिचनर ने डीवी के निबन्ध की जमकर आलोचना की तथा डीवी के विचार को 'लाभवाद' तथा 'प्राकार्यवाद' तथा अपने विचारों को 'शुद्ध मनोविज्ञान' अथवा 'संरचनावाद' कहा। टिचनर ने अपने मनोविज्ञान को संरचनावाद इसलिए कहा ताकि अमेरिका में उभर रहे नये ढंग के मनोविज्ञान (प्राकार्यवाद) से अपने को भिन्न दिखा सकें। अमेरिका में प्राकार्यवाद मनोविज्ञान उन्हें छोड़कर आगे बढ़ गया। निस्सन्देह इसका श्रेय जॉन डीवी को जाता है। मनोविज्ञान के लिए डीवी का महत्त्व इस बात से है कि उन्होंने दूसरों को प्रेरणा दी और प्राकार्यवाद के लिए एक दार्शनिक ढाँचा विकसित किया।[5]

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में मनोचिकित्सा के क्षेत्र में हो रही प्रगति ने एक विचारवाद का रूप ले लिया जिसे मनोविश्लेषणवाद कहा गया। इसके नेता फ्रायड हुए तथा इसका मुख्यालय वियना बना। 1894 में जब फ्रायड ने ब्रुअर के साथ मिलकर 'Studies on Hysteria' नामक पुस्तक प्रकाशित की तभी मनोविश्लेषणवाद की शुरुआत परिलक्षित होने लगी किन्तु जब फ्रायड ने 'The Interpretation of Dreams' (1900) की रचना की तो मनोविश्लेषण व्यवस्थित रूप से एक सम्प्रदाय के रूप में स्थापित हो गया। फ्रायड ने वुण्ट के चेतन अनुभव की जगह सम्पूर्ण व्यक्तित्व और विशेष रूप से व्यक्ति के अचेतन मन के अध्ययन पर बल दिया तथा अन्तर्निरीक्षण की जगह स्वतंत्र साहचर्य तथा स्वप्न विश्लेषण विधि को मुख्य अध्ययन विधि माना। फ्रायड का

मनोविष्लेषणवाद ऐसे विचार के साथ पैदा हुआ, जो वुण्टवादी मनोविज्ञान से टकरा गया यद्यपि फ्रायड वुण्ट से टकराने की नीयत नहीं रखते थे।

जर्मनी के ही Frankfurt University में वर्दाइमर ने कोफ्का तथा कोहलर पर 1912 में दृष्टि सम्बन्धी एक अध्ययन कर वुण्ट के मनोविज्ञान पर सीधा प्रहार किया। Wertheimer ने दावा किया कि अनुभव एक संगठित पूर्ण (Organized whole) होता है, न कि साहचर्य द्वारा जोड़े गये अंष्ठों का योगफल।[6] स्पष्ट है कि वुण्ट के चेतन अनुभव और कुछ ढीले-ढाले अन्तर्दर्ष्टान को स्वीकारते हुए भी वुण्टवादी मनोविज्ञान के संवेदनावाद, परमाणुवाद, साहचर्यवाद तथा विष्लेषणवाद को जड़ से हिलाकर एक नये स्कूल की स्थापना की, जो गेस्टाल्ट स्कूल कहलाया।

प्राकार्यवाद, वुर्जबर्ग स्कूल तथा गेस्टाल्ट स्कूल नरमपंथी थी जिनमें वुण्ट के प्रति किसी विद्रोह की भावना नहीं थी। उग्र विद्रोह के रूप में एक ही सम्प्रदाय 1912 में विकसित हुआ। अमेरिका के जॉन्स हॉप्किन्स विष्वविद्यालय (Johns Hopkins University) के जे.बी. वाटसन ने व्यवहारवाद की स्थापना की तथा मनोविज्ञान को अन्य प्राकष्तिक विज्ञानों की पंक्ति में खड़ा करने का निष्चय किया। वाटसन के अनुसार, "मनोविज्ञान में ऐसे विषय का अध्ययन किया जाए, जो वस्तुगत हों, जिसे सभी लोग देख सकें और जिन्हें बार-बार दोहराया भी जा सके।" वुण्ट के चेतन अनुभव में ये सारे लक्षण अनुपस्थित थे। वाटसन ने वुण्ट के मनोवाद के विरुद्ध विद्रोह की घोषणा 1912 में कर दी और मनोविज्ञान की विषय-वस्तु के रूप में 'व्यवहार' को स्थान दिया। वाटसन ने प्रेक्षण विधि के साथ-साथ Conditional Reflex, Verbal Report तथा Testing Method को मनोविज्ञान की अध्ययन विधि बताया।

मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायों के विकास के साथ-साथ परमाणुवाद (Atomism) की जगह क्रमष्ठः समष्टिवाद (Wholism) आता गया। जब मनोवाद (Mentalism) की जगह वस्तुवादी मनोविज्ञान (Objective Psychology) की ष्ठुरुआत व्यवहारवाद से हुई तो फिर परमाणुवादी दृष्टिकोण प्रधान हो गया और वाटसन ने सभी मनोवैज्ञानिक क्रियाओं को छोटी इकाइयों में बाँटने की परम्परा आरम्भ की। वाटसन का व्यवहारवाद संकीर्ण था। जब व्यवहारवाद में भी परिपक्वता आयी तो आणविक व्यवहार (Molecular behaviour) की जगह टॉलमैन के समग्रवादी व्यवहार (Molar behaviour) को स्वीकारा गया।

टिचनर के देहावसान (1927) के बाद मनोविज्ञान में सम्प्रदायों के मध्य गहमा-गहमी बहुत कम हो गयी। टिचनर के साथ-साथ मानो सभी वाद भी मर गये और अमेरिकी मनोविज्ञान में एक प्रकार की ष्ठान्ति दिखायी देने लगी, परन्तु यह वास्तविक ष्ठान्ति नहीं थी। मनोविज्ञान में प्रयोगों की बढ़ती प्रधानता के कारण प्रयोगष्ठालाएँ महत्त्वहीन विषयों से भरने लगीं और मनुष्य, जिसका स्वरूप समझने के लिए मनोविज्ञान बना था, की जगह प्रयोगष्ठालाओं में सफेद चूहे दौड़ने लगे। ऐसी

परिस्थिति में सामान्य मनोवैज्ञानिकों के अतिरिक्त कुछ व्यवहारवादी भी ऊब गये। फ्रायडवादी मनोविकृतियों में उलझे हुए थे, व्यवहारवादी चूहों से खेल रहे थे और बेचारा मानव उपेक्षित होता जा रहा था। 1950 के दशक में वर्तमान स्थिति के प्रति असन्तोष व्याप्त होने लगा। अब युगचेतना इतनी प्रबल हो गयी कि एक दल मनुष्य को पशुओं से भिन्न, भद्र भावनाओं से पूर्ण, अपने समाज को अपनी सर्जनात्मक योग्यताओं से आगे बढ़ाने वाला सिद्ध करने के लिए तैयार हो गया जिसका नेतृत्व अब्राहम हेराल्ड मास्लॉ (Abraham Herald Maslow) ने किया। इसे मानवतावादी मनोविज्ञान कहा गया। मानवतावादियों का यह विश्वास था कि यह नया स्कूल (School) नहीं बल्कि उनका स्कूल 'स्कूलों को समाप्त करने के लिए है।' मानवतावादी मनोविज्ञान की विषय-वस्तु 'अनुभव करने वाला व्यक्ति' है।

उपर्युक्त विवेचना के आलोक में यह स्पष्ट है कि विल्हेम मैक्सिमिलियन वुण्ट ने मनोविज्ञान के रूप में एक नये प्रयोगात्मक विज्ञान की कल्पना की तथा उसको स्थापित किया। मर्फी (1949) के अनुसार, "वुण्ट की पुस्तक और प्रयोगशाला से पहले मनोविज्ञान एक लावारिस बेघर बच्चे के समान था। कभी शरीर-क्रिया विज्ञान के दरवाजे पर दस्तक देता हुआ, कभी नीतिशास्त्र का दरवाजा खटखटाता हुआ, और कभी ज्ञानशास्त्र के दरवाजे पर खड़ा। 1879 ई. में इसने स्वयं को एक निवास-स्थान और नाम के साथ प्रयोगात्मक विज्ञान के रूप में स्थापित कर लिया।"[7] वुण्ट की विरासत को सम्भालते हुए टिचनर ने एक आन्दोलन के रूप में संरचनावाद को मनोविज्ञान के एक प्रमुख सम्प्रदाय के रूप में खड़ा किया। वुण्ट और टिचनर के अखण्ड मनोविज्ञान के मिथक को अमेरिकी मनोविज्ञान ने तोड़ दिया और कालान्तर में व्यवहारवाद के प्रणेता ने इस बात की घोषणा की कि संरचनावाद की तत्काल मृत्यु ही मनोविज्ञान को जीवित रख सकती है। वाटसन ने मनोविज्ञान की विषय-वस्तु के रूप में 'व्यवहार' को स्वीकारा, जो संज्ञानात्मक मानसिक प्रक्रम के साथ-साथ आज भी वर्तमान है।

सन्दर्भ:

1. बोरिंग, ई.जी. (1950); ए हिस्ट्री ऑफ एक्सपेरिमेण्टल साइकोलॉजी (पृष्ट316), न्यूयार्क : एप्लेटन-सेन्चुरी-क्राफ्ट।
2. वही (पृष्ट324)
3. वही (पृष्ट366)
4. चैपलिन, जे.पी. एण्ड क्रैविक, टी.एस. (1979); सिस्टम्स एण्ड थियरीज ऑफ साइकोलॉजी (पृष्ट49), न्यूयार्क: होल्ट रिनहर्ट एण्ड विन्सटन।
5. ब्रुल्ज, डी.पी. (1992), ए हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न साइकोलॉजी, पाँचवाँ संस्करण (पृष्ट157), वड्र्सवर्थ प.को., यू.एस.ए.।
6. हाइडब्रेडर, ई. (1961), सेवेन साइकोलॉजीज (पृष्ट331); एग्लेवुड क्लिफ्स, एन.जे. : प्रेन्टिस हॉल।
7. मर्फी, जी., एण्ड कोवैक, जे.के. (1972); ऐन हिस्टोरिकल इण्ट्रोडक्शन टू मॉडर्न साइकोलॉजी (पृष्ट159), लन्दन : रूट लेज एण्ड कागन।

卐

आधुनिक काल में संग्रहालय की भूमिका

डॉ. विपिन कुमार*

किसी भी देष्ठा के लिए संग्रहालय एक महत्त्वपूर्ण संस्था माना जाता है। संग्रहालय में उस देष्ठा की सभ्यता एवं संस्कष्ति के अवष्ठोष रखे जाते हैं जिनके परीक्षण करने से हमें उस अमुक देष्ठा के प्राचीन गौरव को समझने का अवसर प्राप्त होता है। संग्रहालय को अंग्रेजी में Museum कहा जाता है और यह ष्ठाब्द लैटिन के Mojian से निकला है जिसका अर्थ होता है कलाओं का स्थान अर्थात् वह भवन जहाँ मनुष्य के ष्ठिल्प एवं प्रकष्ति की हर प्रकार की वस्तुएँ प्रदर्ष्ठित की जा सकती हैं तथा भण्डार में संग्रह कर रखी जा सकती हैं। आज संग्रहालय का सम्बन्ध पुरातत्त्व के संग्रहालय से हो गया है जिसमें प्राचीन वस्तुओं या कला के विषय प्रदर्ष्ठित किये जाते हैं। पर आधुनिक काल में विभिन्न प्रकार के संग्रहालयों का अस्तित्व हमें दखने को मिलता है जहाँ मानव कार्य-कलाप के विभिन्न क्षेत्रों की सभी वस्तुएँ रखी जाती हैं और टेक्नॉलॉजी, विज्ञान, इंजीनियरिंग, चिकित्सा, खनिज खानों के भी संग्रहालय बनाये जाने लगे हैं। अंग्रेजों के ष्ठासन-काल में भारतवर्ष में सर्वप्रथम संग्रहालय की नींव सन् 1814 ई. में कलकत्ता के एष्ठियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल की इमारत में पड़ी थी।[1]

हमारे विद्वानों का भी ध्यान उसके बाद से पड़ने लगा और वे देष्ठा के कोने-कोने में बिखरी ऐतिहासिक वस्तुओं के संग्रह में लग गये। भारतीय पुरातात्त्विक सर्वेक्षण के महानिदेष्ठाक सर अलैक्जेंडर कनिंघम ने देष्ठा के भिन्न-भिन्न भागों से प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कष्ति से सम्बन्धित सामग्रियों के संग्रह की ओर लोगों को प्रेरित किया तथा इस क्रम में उन्हें अपार सांस्कष्तिक सम्पत्ति का पता चला था। उन्होंने इस क्रम में देष्ठा के भिन्न-भिन्न स्थानों के ऊँचे टीलों की खुदाई करवायी और उनसे प्राप्त सामग्रियों का संग्रह भी किया। इसी क्रम में मध्य प्रदेष्ठा के भरहुत में खुदाई करवायी गयी थी। कनिंघम स्वयं तथा उनके अधीनस्थ अधिकारियों ने भी इस क्रम को जारी रखा।[2] अत: भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं के संग्रह में विविधता देखने को मिली।

लॉर्ड लिटन के समय में सन् 1878 ई. में संग्रहालय से सम्बन्धित कानून के पास हो जाने पर स्थिति में बड़ा ही परिवर्तन आया और वैज्ञानिक तरीकों से स्मारकों और स्थलों की खुदाई

*डी.लिट्., रिसर्च स्कॉलर, मगध विष्ठवविद्यालय, बोधगया (बिहार)

करवाये जाने का प्रचलन प्रारम्भ हो गया तथा सन् 1902 ई. तक के बीच में पुरातत्त्व सम्बन्धी नीति ने भिन्न-भिन्न रूप लिया और इन पर सरकार का नियंत्रण अनिवार्य हो गया।[3]

संग्रहालय मूलतः एक सेवा संस्था है तथा इसका मुख्य कार्य है दर्शकों का मार्गदर्शन करना, उनकी कुण्ठित शक्तियों को जगाना तथा स्वस्थ मानसिक गतिविधियों के लिए अवसर प्रदान करना। अगर हमारे देश के अन्दर विभिन्न प्रकार के संग्रहालय नहीं होते तो हम अपने अतीत के गौरव को नहीं समझ पाते। अगर संग्रहालय नहीं होता तो हमारे देश के सम्पूर्ण छोटे-छोटे सिक्के एवं पत्थर की मूर्तियाँ भारत को भौगोलिक सीमाओं के बाहर के देशों के संग्रहालयों की शोभा बढ़ाते।

आधुनिक युग में संग्रहालय किसी भी राष्ट्र की अमूल्य निधि मानी जाती है और इसके संरक्षण, रख-रखाव एवं इनके प्रशासनिक व्यवस्था को सुदृढ़ रखने के लिए राजकीय कोष का एक बहुत बड़ा भाग व्यय किया जाता है। संग्रहालय का सबसे प्रमुख कार्य यह है कि वहाँ किन-किन वस्तुओं का संग्रह किया जाय जिन्हें देखकर हमारी वर्तमान पीढ़ी उस अतीत का ज्ञान प्राप्त कर सके जिन्हें उनके पूर्वजों ने उस जमाने में सजा कर रखा था।[4] इसके अतिरिक्त आने वाली पीढ़ियों के लिए भी संग्रहालय एक अनुकरणीय वस्तु हो जाती है और वर्तमान काल के कुछ भी अवशेष हमारे आने वाली पीढ़ियों के लिए वही भूमिका दे सकता है जिसे हम आज संग्रहालय में देखते हैं। यद्यपि संग्रहालय में अतीत के निर्जीव पदार्थों को रखा जाता है पर उन संग्रहालयों के दक्ष, कुशल एवं अनुभवी अधिकारियों के द्वारा संग्रहालय एक सजीव संस्था के रूप में कार्यरत होती है।

संग्रहालय का मुख्य कार्य किसी भी वस्तु के बचाव, सुरक्षा एवं लोगों के लिए प्रदर्शनी होती है। भगवान् बुद्ध की विभिन्न मुद्राओं को देखकर हम उन मुद्राओं का सही-सही चित्रण कर सकते हैं। एक छोटे सिक्के को देखकर हम उन सिक्कों के चलाने वाले राजा एवं निगमों के विषय में जान पाते हैं तथा इनसे तत्युगीन सांस्कृतिक एवं आर्थिक अवस्था का अनुशीलन कर पाते हैं। अगर संग्रहालय नहीं होता तो हम उन सिक्कों का अध्ययन नहीं कर पाते और ये सिक्के विभिन्न समुदाय के लोगों द्वारा आभूषण के रूप में प्रयोग कर लिये जाते।

कुछ विद्वानों ने संग्रहालयों की विद्यालयों से तुलना की है पर इतिहासकारों का ऐसा दावा है कि संग्रहालय एक स्कूल से ज्यादे उपयोगी इस अर्थ में है कि स्कूलों में एक खास अवस्था के लोग शिक्षा ग्रहण करते हैं पर संग्रहालय हर वर्ग एवं हर अवस्था के लोगों के लिए एक खुला हुआ विश्वविद्यालय है जहाँ छोटे बच्चे से लेकर बड़ी उम्र तक के लोग जाते हैं। स्कूलों में वर्ग चलाने के लिए घण्टी बजायी जाती है, परीक्षा ली जाती है लेकिन संग्रहालय में इस तरह की स्थिति नहीं होती। हर वर्ग के लोग अपने अनुभवों के आधार पर अपना-अपना तर्क प्रस्तुत करते हैं जिनसे दूसरों को लाभ होता है। संग्रहालय एक स्थायी संस्था है और यहाँ रखी हुई वस्तुओं को दर्शक बराबर देखते रहते हैं।[5]

आधुनिक काल में संग्रहालय एक सजीव संस्था है और इसके सामने एक लक्ष्य है जिसके आधार पर हम देष्ठा की सामाजिक, ऐतिहासिक, सांस्कष्तिक, आर्थिक एवं कलात्मक रहस्यों को जानने की चेष्टा करते हैं। प्राचीन काल की मान्यताएँ आधुनिक युग में जीवन के प्रत्येक अंग में नया रूप ले रही है और इस कारण संग्रहालय का अपना महत्त्व अधिक बढ़ जाता है। संग्रह की नवीन विधियाँ, उनके प्रदर्ष्ठान करने के तरीके, संग्रह की गयी वस्तुओं की देखभाल, दर्ष्ठाकों की रुचि-अरुचि, प्रदर्ष्ठानी के उद्देष्ठय हमारे सामने कुछ ऐसे प्रष्ठन उपस्थित कर देते हैं जिनका निराकरण हम केवल अनुमान से नहीं लगा सकते।[6]

आधुनिक काल में संग्रहालय का ष्ठौक्षणिक उद्देष्ठय केवल दो बातों पर निर्भर करता है- वह है, ठीक-ठीक वस्तुओं का संग्रह करना तथा रुचिकर एवं आकर्षक ढंग से लोगों के सामने उसका प्रदर्ष्ठान करना। आज हम इस बात पर अधिक जोर देते हैं कि प्रदर्ष्ठित संग्रह दर्ष्ठाकों के मन को किस प्रकार आकष्ट कर पाते हैं।

इसके अतिरिक्त संग्रहालय एक सांस्कष्तिक धरोहर के रूप में हमारे सामने है और इसके माध्यम से हम बहुत बड़ा प्रचार कार्य भी कर सकते हैं जिसमें भाषण, प्रकाष्ठान, पत्रिका निर्देष्ठा पुस्तिका, दर्ष्ठानीय स्थान सूची, सांस्कष्तिक विषयों जैसे वेष्ठाभूषा पर पुस्तकें, सुन्दर कलात्मक एलबम आदि द्वारा यह कार्य पूरा किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त संग्रहालय का अपना एक सांस्कष्तिक केन्द्र होता है जो हम सबों को श्रेष्ठतर व्यवस्था के विषय में प्रेरित करता है। इस प्रकार हम जानते हैं कि संग्रहालय एक ऐसी जगह या संस्था है जहाँ मानव एवं प्रकष्ति के बीच पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन किया जाता है। संग्रहालय का उपयोग मानव ज्ञान के उन सभी विषयों के लिए हो सकता है जो मूर्त वस्तुओं के द्वारा प्रदर्ष्ठित किया जाता है।[7]

संग्रहालय का ष्ठौक्षणिक पक्ष

वर्तमान समय में संग्रहालय के बढ़ते हुए महत्त्व से कोई इनकार नहीं कर सकता। आज किसी भी देष्ठा के लिए संग्रहालय एक सजीव और महत्त्वपूर्ण संस्था मानी जाती है। जनसाधारण के सांस्कष्तिक ज्ञान की वष्द्धि का यह काफी सष्ठाक्त माध्यम माना जाता है। प्राचीन सभ्यता और ज्ञान की कई बातों की व्यावहारिक जानकारी केवल संग्रहालय के द्वारा ही हो सकती है। सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और सांस्कष्तिक सभी क्षेत्रों में आज इसके महत्त्व को स्वीकार किया जा चुका है परन्तु इसका जो महत्त्व ष्ठौक्षणिक क्षेत्र में है, वह किसी अन्य क्षेत्र में नहीं है। अब हम इसे निम्न प्रकार से देखेंगे।[8]

संग्रहालय एक ऐसी संस्था है जहाँ ज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी भी प्रकार का कोई बन्धन नहीं है। यहाँ पर हर अवस्था, हर पेष्ठो, हर धर्म के व्यक्ति चाहे वह ष्ठिक्षित हो या अष्ठिक्षित

– संग्रहालय की प्रदर्शित वस्तुओं को देखकर अपने ज्ञान में वृद्धि कर सकता है। संग्रहालय एक ऐसी शिक्षण संस्था मानी जा सकती है जहाँ समय की भी कोई निश्चित पाबन्दी नहीं है।[9]

आज संग्रहालय के शैक्षणिक महत्त्व को विश्व में अनुभव किया जा रहा है और अब हर बड़े और महत्त्वपूर्ण संग्रहालय में इस बात की व्यवस्था पर जोर दिया जा रहा है कि वह संग्रहालय एक विकसित शिक्षण संस्था के रूप में कार्य करे। आज के युग में मशीनीकरण के कारण लोगों के पास पर्याप्त समय आराम के लिए निकल आता है। विदेशों में तो लोग सप्ताह में पाँच दिन ही कार्य करते हैं। शेष दो दिनों का उपयोग वे विभिन्न कार्यों जैसे मनोरंजन या अन्य बातों में लगाते हैं। इसी प्रकार छुट्टियों का सदुपयोग कुछ व्यक्ति संग्रहालय जैसी संस्था में जाकर और वहाँ प्रदर्शित वस्तुओं से लाभ उठाकर कर सकते हैं।[10]

संग्रहालय की शैक्षणिक उपयोगिता और बढ़ते हुए महत्त्व का इसी से अंदाजा लगाया जा सकता है कि अब वस्तु से शिक्षण संस्थाओं में ही संग्रहालय की व्यवस्था कर दी गयी है। बहुत सी शिक्षण संस्थाओं ने तो अपने पाठ्यक्रम में संग्रहालय से सम्बन्धित शिक्षा की व्यवस्था भी कर दी है। अपने देश में हाल ही में संग्रहालय शिक्षा के लिए एक अलग विश्वविद्यालय की ही स्थापना कर दी गयी है जो राष्ट्रीय संग्रहालय नयी दिल्ली के अधीन है।[11]

स्कूली बच्चे जो अवस्था में छोटे होते हैं वे किसी भी विषय को ग्रहण कर लेते हैं और संग्रहालय इस क्षेत्र में उनके लिए काफी मददगार साबित हो सकता है। बहुत सी ऐसी बात जो स्कूल में पढ़ायी जाती है या जो पुस्तकों में लिखा गया रहता है उसे बच्चे समझ नहीं पाते हैं और इससे पढ़ाई में उनकी रुचि समाप्त होने लगती है। इस प्रकार की परिस्थिति में संग्रहालय अपनी उपयोगिता सिद्ध कर सकता है। ऐसे बच्चों को शिक्षकों के साथ संग्रहालय जाना चाहिए और वहाँ प्रदर्शित वस्तुओं के माध्यम से जानकारी प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए।

संग्रहालय में वस्तुएँ इस प्रकार से प्रदर्शित की जाती है जिससे वे बच्चों या किसी भी व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित कर सकते हैं। उदाहरणस्वरूप सिन्धु सभ्यता की नगर योजना और वहाँ की विभिन्न संस्कृतियों की जानकारी उतनी रुचिकर और आनन्ददायक नहीं मालूम पड़ती पर बम्बई के प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय में सिन्धु-सभ्यता के विषय में अलग से ही जो गैलरी बनायी गयी है वह इतना आकर्षक है कि इतिहास के विद्यार्थियों के साथ-साथ साधारण व्यक्तियों को भी वह अपनी ओर आकर्षित कर लेता है और फिर उसके विषय में गहराई से अध्ययन करने की भावना को जागृत कर देता है। स्कूली बच्चों को उनकी रुचि के अनुसार प्रशिक्षण देना संग्रहालय के कार्य का एक प्रमुख अंग है।[12]

लेकिन संग्रहालय का शैक्षणिक महत्त्व केवल स्कूली बच्चों तक ही सीमित नहीं है वरन्

हर अवस्था और हर वर्ग के व्यक्तियों को यह ज्ञान प्रदान करवाता है। एक अच्छे संग्रहालय में जो एक शैक्षणिक क्षेत्र के रूप में भी कार्य कर सके, एक अच्छा पुस्तकालय, अच्छा भाषण देने का कमरा, एक छोटा सिनेमा हॉल तथा एक वाचनालय होना आवश्यक है। आज विश्व में जितने भी प्रमुख संग्रहालय हैं उनमें ये सारी सुविधाएँ उपलब्ध हैं। उच्च अध्ययन और शोध-कार्य में रुचि रखने वाले छात्रों को संग्रहालय में स्थित पुस्तकालय से काफी सहायता मिल सकती है। इन पुस्तकालयों में एक अच्छे वाचनालय की व्यवस्था भी आवश्यक है जहाँ लोग आराम से बैठकर अपना शोध कार्य पूरा कर सकें। इस वाचनालय के लिए संग्रहालय और इससे सम्बन्धित जो भी पत्र-पत्रिकाएँ हो सकती हैं उन्हें मँगवाना चाहिए। समय-समय पर संग्रहालय द्वारा विद्वानों के भाषण-मालाओं का आयोजन भी किया जाना चाहिए। इन भाषण-मालाओं के आयोजन के लिए संग्रहालय में एक अच्छे और सारी सुविधाओं से परिपूर्ण भाषण के लिए कमरे का होना आवश्यक है।[13] उन विशिष्ट विद्वानों के भाषण को टेप कर लेना चाहिए जिससे जो व्यक्ति उन भाषणों को नहीं सुन सकते हैं वे बाद में इन भाषणों के टेप से लाभान्वित हो सकें। इसके अतिरिक्त संग्रहालय बाद में इन भाषणों के टेपों को अन्य शिक्षण संस्थाओं में भेजकर वहाँ के छात्रों को भी अपने ज्ञान में वृद्धि करने का अवसर प्रदान कर सकता है। संग्रहालय में एक छोटे सिनेमा हॉल का होना भी आवश्यक है जहाँ भूमि एवं स्लाइड दोनों प्रकार के प्रोजेक्टर्स की व्यवस्था होनी चाहिए। विभिन्न अवसरों पर संग्रहालय से सम्बन्धित विभिन्न वस्तुओं की जानकारी स्लाइड एवं फिल्म के माध्यम से छात्रों और अन्य व्यक्तियों को दी जा सकती है। बहुत सी ऐसी दुर्लभ कलाकृतियों की जानकारी जो एक संग्रहालय को उपलब्ध नहीं हो सकती है उसके विषय में फिल्म के माध्यम से पूर्ण जानकारी प्राप्त की जा सकती है।[14]

इस प्रकार यदि किसी संग्रहालय में उपर्युक्त वर्णित सुविधाएँ हों तो वह संग्रहालय एक अच्छे शैक्षणिक केन्द्र के रूप में कार्य कर सकता है और जिसका लाभ छात्र या कोई भी व्यक्ति उठा सकता है।[15] टेलीविजन, रेडियो एवं एक अखबार के माध्यम से भी संग्रहालय और उसमें संग्रहित वस्तुओं के विषय में बतलाकर लोगों के ज्ञान में वृद्धि की जा सकती है और साथ ही लोगों की अभिरुचि को भी जागृत कराया जा सकता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि प्रचार माध्यम द्वारा भी लोगों को संग्रहालय द्वारा शिक्षा प्राप्त करने की प्रेरणा दी जा सकती है।[16]

लेकिन जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि बच्चे संग्रहालय के माध्यम से सहज रूप से ही कुछ जानकारी प्राप्त कर सकते हैं इसलिए कोशिश यह करनी चाहिए कि ज्यादा-से-ज्यादा संख्या में बच्चे संग्रहालय जाकर यहाँ प्रदर्शित चीजों से लाभ उठावें। अब तो सरकार भी इस बात की आवश्यकता को महसूस कर रही है और इसलिए स्कूलों में भी छोटे-छोटे संग्रहालय खोलने की योजनाओं को कार्यान्वित किया जा रहा है। अत: इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्कूल के प्राचार्य,

शिक्षक तथा संग्रहालय का अधिकारी बच्चों को संग्रहालय के माध्यम से शिक्षा दिलवाने में कुछ मदद कर सकते हैं। संग्रहालय में प्रशिक्षित गाइड होते हैं जो वहाँ प्रदर्शित वस्तुओं के विषय में विस्तृत जानकारी प्रदान करवा सकते हैं। यदि बच्चे अपने स्कूल के शिक्षक के साथ वहाँ जाते हैं तो एक समय में ही उन्हें दो शिक्षकों से पढ़ने का अवसर प्राप्त हो जाता है- एक अपने स्कूल के शिक्षक के द्वारा और दूसरा संग्रहालय में प्रशिक्षित गाइड के द्वारा।[17]

हमें संग्रहालय सेवा क्षेत्र को केवल संग्रहालय तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए। संग्रहालय के अधिकारियों को चाहिए कि गाँव-गाँव जाकर तथा पुस्तकों के माध्यम से लोगों को संग्रहालय और इसमें प्रदर्शित वस्तुओं की जानकारी देकर उनके ज्ञान में वृद्धि करें। संग्रहालय को समय-समय पर विभिन्न देशों की दुर्लभ कलाकृतियों को मँगवाकर उसे प्रदर्शित कर साधारण लोगों को भी इसके विषय में जानकारी दिलवाने की कोशिश करनी चाहिए। इस प्रकार की प्रथा हमारे देश में भी प्रारम्भ हो चुकी है। इधर कई अवसरों पर हमारे देश की दुर्लभ एवं अमूल्य कलाकृतियाँ विदेशों में और विदेशों की दुर्लभ कलाकृतियाँ हमारे देश में आईं जिनको प्रदर्शित कर साधारण लोगों को भी इसकी जानकारी प्रदान करवाकर उनके ज्ञान में वृद्धि की गयी।[18]

अत: यह निर्विवाद रूप में सिद्ध हो चुका है कि संग्रहालय का शैक्षणिक महत्त्व अधिक है। कोई भी व्यक्ति यहाँ आकर ज्ञान और शिक्षा प्राप्त कर सकता है। बहुत सी ऐसी बातों की जानकारी जिसे जानना और समझना सम्भव और आसान नहीं होता है केवल संग्रहालय में आकर ही मिल सकती है। स्कूली बच्चे तो खासकर संग्रहालयों से अधिक सीख सकते हैं। संग्रहालय जाने से यह भी पता चल जायेगा कि उनकी अभिरुचि किस क्षेत्र में अधिक है। इतिहास, कला, पुरातत्त्व किस क्षेत्र में उनका झुकाव अधिक है- इस बात की जानकारी भी संग्रहालय जाने पर ही पता चल सकता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि बहुत सी किताबों की बातों की जानकारी संग्रहालय जाने से ही मिल सकती है।

संग्रहालय के बढ़ते हुए महत्त्व से आज कोई भी इनकार नहीं कर सकता है। विभिन्न क्षेत्रों में इसकी उपयोगिता प्रमाणित हो चुकी है। सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में इसके महत्त्व को स्वीकार कर लिया गया है। लेकिन अब यह कोशिश की जा रही है कि लोग संग्रहालय को एक पूरी तरह से विकसित सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में जानें। संग्रहालय अब एक ऐसे सांस्कृतिक केन्द्र के समान होना चाहिए जिसका कार्य लोगों को ज्ञान और सभ्य जीवन से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं की जानकारी देना हो। यह सांस्कृतिक केन्द्र इस प्रकार का होना चाहिए कि लोगों को यह कुछ दे सके और लोगों से यह कुछ ले सके। संग्रहालय के गलियारों में अब केवल बीते हुए कल की यादें ही नहीं सजानी चाहिए बल्कि वर्तमान स्वरूप की कुछ ऐसी चीजों का भी होना वहाँ आवश्यक है जो लोगों के सांस्कृतिक विकास में सहायक हो सकें।[19] हमलोग शैक्षिक विकास

की बात तो करते हैं पर संग्रहालय इसमें क्या भूमिका अदा कर सकता है, इस बात को हम भूल जाते हैं। आज जो भी व्यक्ति संग्रहालय विभाग से सम्बन्धित हैं उन्हें यह ध्यान रखना होगा कि संग्रहालय का निर्माण अब भविष्य की आवष्ठयकताओं को देखते हुए एक सांस्कष्तिक केन्द्र के रूप में किया जाय।[20] संग्रहालय अब केवल बच्चों और अनपढ़ लोगों के लिए एक अजायबघर या केवल पुरातात्त्विक वस्तुओं को संग्रह करने वाला घर ही नहीं होना चाहिए वरन् इसका विकास हमें अब इस रूप में करना चाहिए जो आधुनिक परिस्थिति के अनुसार हमारे मस्तिष्क और संस्कष्ति का विकास कर सके।

सन्दर्भः

1. कल्चरल फॉरम, वॉल्यूम 1, नं. 3, मार्च 1959, पष्ट 21
2. स्टडीज इन कन्जर्वेष्ठान, वॉल्यूम 8, नं. 3, अगस्त 1963, पष्ट 44
3. जर्नल ऑफ दि इण्डियन म्युजियम, वॉल्यूम 6, 1950, पष्ट 14
4. वही, वॉल्यूम 2, 1946, पष्ट 36
5. वही, वॉल्यूम 4, 1948, पष्ट 72
6. वही, वॉल्यूम 3, 1947, पष्ट 44
7. वही, पष्ट 57
8. वही, वॉल्यूम 1, 1945, पष्ट 14
9. वही, वॉल्यूम 12, 1956, पष्ट 74
10. वही, वॉल्यूम 2, 1946, पष्ट 18
11. वही, वॉल्यूम 4, 1948, पष्ट 77
12. वही, वॉल्यूम 1, 1945, पष्ट 21
13. वही, वॉल्यूम 4, 1949, पष्ट 57
14. वही, वॉल्यूम 2, 1946, पष्ट 32
15. वही, वॉल्यूम 2, 1946, पष्ट 18
16. वही, वॉल्यूम 3, 1947, पष्ट 77
17. वही, वॉल्यूम 4, 1948, पष्ट 72
18. वही, वॉल्यूम 9, 1953, पष्ट 76
19. वही, वॉल्यूम 13, 1957, पष्ट 44
20. म्युजियम, यूनेस्को, वॉल्यूम 1, 1948, पष्ट 66

卐

पण्डित दीनदयाल उपाध्याय का एकात्म मानववाद दर्शन एवं शैक्षिक निहितार्थ

शिप्रा सिंह*

एकात्म मानववाद मानव जीवन व सम्पूर्ण सृष्टि के एकमात्र सम्बन्ध का दर्शन है। इसका वैज्ञानिक विवेचन पं. दीनदयाल उपाध्याय ने किया था। यह दर्शन पं. दीनदयाल उपाध्याय द्वारा 22 से 25 अप्रैल, 1965 को मुम्बई में दिये गये चार व्याख्यानों के रूप में प्रस्तुत किया गया था। एकात्म मानववाद एक ऐसी धारणा है जो सर्पिलाकार मण्डलाकृति द्वारा स्पष्ट की जा सकती है। इसके केन्द्र में व्यक्ति से जुड़ा हुआ एक घेरा परिवार, परिवार से जुड़ा हुआ एक घेरा समाज, जाति, फिर राष्ट्र, विश्व और फिर अनन्त ब्रह्माण्ड को अपने में समाविष्ट किये हुए है। इस अखण्ड मण्डलाकार आकृति में एक घटक में से दूसरे, फिर दूसरे में से तीसरे का विकास होता है। सभी एक दूसरे से जुड़कर अपना अस्तित्व साधते हुए एक दूसरे के पूरक एवं स्वाभाविक सहयोगी हैं। इनमें कोई संघर्ष नहीं है।

एकात्म मानववाद के प्रणेता पं. दीनदयाल उपाध्याय का मानना था कि भारतवर्ष विश्व में सर्वप्रथम रहेगा तो अपने सांस्कृतिक संस्कारों के कारण। उनके द्वारा स्थापित एकात्म मानववाद की परिभाषा वर्तमान परिप्रेक्ष्य में ज्यादा सामयिक है। उन्होंने कहा था कि मनुष्य का शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा ये चारों अंग ठीक रहेंगे तभी मनुष्य को चरम सुख और वैभव की प्राप्ति हो सकती है। जब किसी मनुष्य के शरीर के किसी अंग में काँटा चुभता है तो मन को कष्ट होता है। बुद्धि हाथ को निर्देशित करती है, तब हाथ चुभे हुए स्थान पर पल भर में पहुँच जाता है और काँटे को निकालने की चेष्टा करता है। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। सामान्यतः मनुष्य शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा इन चारों की चिन्ता करता है। मानव की इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति को पं. दीनदयाल उपाध्याय ने एकात्म मानववाद की संज्ञा दी है।

पं. दीनदयाल उपाध्याय द्वारा प्रतिपादित दर्शन एकात्म मानववाद भारतीय संस्कृति व धर्म की मूल भावना पर आधारित होने के कारण वर्तमान भारतीय जीवन की दृष्टि से अत्यन्त प्रासंगिक है। इसी कारण शैक्षिक दृष्टि से इसकी विशेष उपयोगिता है। शिक्षा के विभिन्न पक्षों, जैसे- शिक्षा का अर्थ, उद्देश्य, गुरु व शिष्य और उनके सम्बन्ध, विद्यालय का स्वरूप आदि के लिए उनके

*असिस्टेण्ट प्रोफेसर, बी.एड. विभाग, महाराणा प्रताप पी.जी. कॉलेज, जंगल धूसड़, गोरखपुर

दार्शनिक विचारों का आज विशेष महत्त्व है। इसीलिए पं. दीनदयाल उपाध्याय जी के एकात्म मानववाद सम्बन्धी विचारों का शिक्षा के विभिन्न पक्षों के सन्दर्भ में निहितार्थ की खोज का प्रयास किया गया है। एकात्म मानववाद के अन्तर्गत मूलत: दो बातें आती हैं; प्रथम- पाश्चात्य जीवन दर्शन, तथा द्वितीय- भारतीय संस्कृति। मानववाद मूलत: पाश्चात्य अवधारणा है तथा एकात्मकता भारतीय। अत: कहा जा सकता है कि पाश्चात्य मानववाद के भारतीयकरण की प्रक्रिया की फलश्रुति है एकात्म मानववाद। पं. दीनदयाल उपाध्याय का मत है कि पश्चिम की अच्छी बातों में भी एक पारस्परिक तालमेल का अभाव है। राष्ट्रवाद, पूँजीवाद, समाजवाद सभी वादों में कमियाँ थीं। इसीलिए पं. दीनदयाल उपाध्याय पश्चिम के अनुकरण के विरोधी थे। किन्तु वे सभी मानव प्रयत्नों को आदर देना चाहते थे। अत: वे सभी संशोधित सिद्धान्तों को पाश्चात्य अवधारणा पर नहीं, बल्कि मानव प्रयोगों की संकल्पना के आधार पर स्वीकार करना उचित समझते थे। उनका मानना है- "विश्व का ज्ञान हमारी थाती है, मानव जाति का अनुभव हमारी सम्पत्ति है, विज्ञान सार्वभौमिक देन है। इस पर किसी देश विशेष का एकाधिकार या बपौती नहीं है।"

पाश्चात्य विचार हमें क्यों अग्राह्य हैं? इसका उत्तर देते हुए पं. दीनदयाल उपाध्याय का कथन है कि पश्चिम के विचार केवल ज्ञानेन्द्रियों पर निर्भर हैं, जबकि केवल ज्ञानेन्द्रियों से पूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त होता है पूर्ण ज्ञान प्रज्ञा से ही आता है। हमारे ऋषि-मुनियों ने अन्दर से देखकर समग्रता का दर्शन किया। हमारा केन्द्र पूर्णता, अन्यों का एकांगी। पं. दीनदयाल उपाध्याय का हिन्दुत्ववादी तथा राष्ट्रवादी मन पश्चिम के विचारों के खिलाफ उतना नहीं जितना उनकी तर्कसंगत बुराइयों के कारण था, उतना ही उसका विदेशी होना भी मुख्य कारण था। पं. दीनदयाल उपाध्याय पश्चिम की विकृतियों के प्रति मुखर थे। मानव षड्विकारों का ज्ञान भारतीय मनीषियों को पहले से ही था। षड्विकारों के साथ पश्चिम द्वारा स्वीकृत मानवीय प्रवृत्तियों को उन्होंने भली-भाँति रूपायित किया है, जो इस प्रकार है-

काम - उपभोगवाद **क्रोध** - प्रतिक्रियात्मक विचार

मद - प्रकृति पर विजय तथा भौतिकवादी मानववाद **लोभ** - स्वार्थ

मोह - लोलुपता (अतिवादी महत्त्वाकांक्षाएँ) **मात्सर्य** - संघर्ष एवं स्पर्धा

अत: उपर्युक्त तथ्यावलोकन से विदित होता है कि उन्होंने षड्विकारों को व्यक्ति व राष्ट्र के लिए सर्वथा अनुपयुक्त बताया है। पं. दीनदयाल उपाध्याय ने अपने जीवन दर्शन में विकारयुक्त मनोभावों को स्थान नहीं दिया। वे प्रज्ञाशीलता पर बल देते हैं, धर्म के अनुसार उपभोग करते हुए परमपुरुषार्थ मोक्ष की कामना करते हैं, तथा राष्ट्र देवता की उपासना का मुक्त कण्ठ से उद्घोष करते हैं। पं. दीनदयाल उपाध्याय के धर्म सम्बन्धी विचार अत्यन्त सुस्पष्ट एवं तर्कसंगत हैं। उन्होंने ध

र्म की व्याख्या धारणा से मानी है तथा यह धर्म किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा चलाया गया सामान्य नियम नहीं है। यह एक आचार संहिता है। शाश्वत मूल्यों का चिरन्तन अनुभव धर्म के अन्तर्गत आता है जो व्यक्ति, समाज व राष्ट्र के विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। पं. दीनदयाल उपाध्याय के दार्शनिक विचार भारतीय संस्कृति व परम्परा के अनुरूप ही हैं जो एकांगी न होकर सर्वांगपूर्ण हैं और व्यष्टि व समष्टि के अलगाव में नहीं, एकरूपता में प्रतिष्ठा है जो सर्वांगपूर्णता का मुख्य कारण है।

पं. दीनदयाल उपाध्याय के दर्शन का शैक्षिक निहितार्थ

1. शिक्षा का अर्थ, उद्देश्य एवं महत्त्व

पं. दीनदयाल उपाध्याय शिक्षा को संस्कार की प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। संस्कार से संस्कृति का निर्माण होता है, किसी भी राष्ट्र की विशिष्ट संस्कृति होती है। संयम और साधना द्वारा व्यक्ति की प्रवृत्ति का परिष्कार एवं उन्नयन किया जाता है। नैतिक शील और संस्कारों में अभिव्यक्त होकर आध्यात्मिक मर्यादाएँ मानवीय प्रकृति का उन्नयन करके संस्कृति का पथ प्रदर्शित करती हैं। संयम, शील और चरित्र संस्कृति के मुख्य भाग हैं। 'संस्कृति ज्ञान और चरित्र के संगम से ही शिक्षा तीर्थराज प्रयाग बनती है।' शिक्षा शारीरि, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक शक्तियों के सन्तुलित विकास से मानव को श्रेष्ठ बनाती है जिससे व्यक्ति विनीत और उपयोगी नागरिक बन सके। चतुर्पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष जीवन की आवश्यकता हैं, मनुष्य इसका सन्तुलित उपयोग करे।

भारतीय ज्ञान एवं संस्कृति से विश्व के मानव का कल्याण होगा। भारतीय संस्कृति नर को नारायण बना सकती है। शिक्षा से कर्म, योग, क्षेम, यज्ञ इन चार सूत्रों में बँधे व्यक्ति एवं समाज के पूरक सम्बन्ध उनके संस्थाओं के माध्यम से व्यक्त होते रहते हैं। शारीरिक शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा, नैतिक शिक्षा एवं आध्यात्मिक शिक्षा प्रदान करना शिक्षा के मूलभूत आयाम हैं। हमारे शास्त्रकारों के अनुसार यह ऋषि ऋण है जिसे चुकाना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। शिक्षा प्रदान कर हम भूत के ऋण से उऋण हो सकते हैं और हम भविष्य को अपना ऋणी बना सकते हैं।

2. गुरु

पं. दीनदयाल उपाध्याय मानते हैं कि शिक्षा केवल शालेय उपक्रम मात्र नहीं है वरन् एक सम्पूर्ण सामाजिक प्रक्रिया है। यद्यपि शालेय शिक्षा एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है लेकिन केवल शालेय शिक्षा से समाज को सर्वांग रूप से सुशिक्षित नहीं किया जा सकता है। अत: वे शिक्षकत्रयी का वर्णन करते हैं। उनकी मान्यता है- शिक्षा के व्यापक अर्थों में समाज का प्रत्येक घटक ही शिक्षक है, अत: प्रथम शिक्षक माता-पिता, द्वितीय शालेय अध्यापक, व तृतीय व्यक्ति स्वयं। इस शिक्षकत्रयी को भारतीय शास्त्रकारों ने इस वाक्य में प्रतिबिम्बित किया है- **माता प्रथम गुरु, आचार्य देवो भव, आत्मदीपो**

भव। इन तीनों शिक्षकों के शिक्षा देने के अलग-अलग माध्यम हैं- प्रथम संस्कार, द्वितीय अध्यापन व तृतीय स्वाध्याय। शिक्षक सादा जीवन जीने वाला व विनयशील हो। उसे भौतिक वस्तुओं का आकांक्षी नहीं होना चाहिए।

3. शिष्य

पं. दीनदयाल उपाध्याय ऐसे शिष्य की संकल्पना करते हैं जो समाज को एकाकार कर सके। इस सम्बन्ध में वे कहते हैं कि शिष्य की आत्मा समाज के साथ समरस होनी चाहिए। लिखते हैं कि भले ही व्यक्ति धनी हो लेकिन यदि समाज के लिए उसमें तड़प न हो तो ऐसे व्यक्ति से विद्यार्थी को दान नहीं लेना चाहिए। जो अपने समाज के लोगों को अपना नहीं समझता, जिसके हृदय में अपने लोगों के लिए प्रेम नहीं उसका अन्न खाकर क्या धर्मवृत्ति उत्पन्न हो सकेगी? वे ऐसे शिष्य की कल्पना करते हैं जो गुरु की आत्मा की अभिव्यक्ति होता है, वह गुरु के अन्तःकरण की प्रवृत्ति का पूरक रहता है। उसका सूत्र तो पहले से ही मिला रहता है, किसी को मिलाने की आवश्यकता नहीं रहती। पं. दीनदयाल उपाध्याय ऐसे संस्कारित शिष्य की कल्पना करते हैं जो अपनी त्रुटि पर आत्मग्लानि का अनुभव करे। उन्होंने कहा है कि शिष्य की योग्यता प्राप्त करने के लिए गुरुकुल में रहना चाहिए। शिष्य को उत्साही, विद्याप्रेमी, मधुभाषी तथा शुभकार्य करने वाला होना चाहिए। इसके अलावा उन्होंने जिज्ञासु प्रवृत्ति, श्रद्धा का भाव, विनयशीलता, सुश्रूषा, ग्रहण, धारणा, स्मृति, प्रभावरहित होना आदि शिष्य की योग्यताएँ बतायी हैं। अहंकार, क्रोध, प्रमाद, रोग व आलस्य शिष्य के दुर्गुण हैं।

4. गुरु-शिष्य सम्बन्ध

पं. दीनदयाल उपाध्याय के दर्शन में गुरु-शिष्य के सम्बन्ध को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। गुरु स्वभाव से ही शिष्यों का कल्याण चाहता है। वे गुरु और शिष्य की आत्मीयता को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं- "भगवत् गोविन्दपाद अचेतावस्था में पड़े थे, किन्तु जैसे ही अपने प्रिय शिष्य शंकर की वाणी सुनी वैसे ही आँखें खोल दी, एक बार जोर लगाकर उठ खड़े हो गये और शंकराचार्य को गले लगा लिया।" शिष्य को गुरु के आदेश में विश्वास रखना चाहिए। गुरु और शिष्य का सम्बन्ध सहयोगियों जैसा होना चाहिए। जिस प्रकार शिष्य के लिए विनयगुण पर प्रतिष्ठित होकर समाज के स्नेह और श्रद्धा का पात्र बना है। गुरु और शिष्य के सुमधुर सम्बन्ध एक दूसरे के विकास के साथ ज्ञान को भी विकसित करने में सहायक होते हैं। इनके दर्शन में विनय और गुरु भक्ति पर अत्यधिक बल दिया गया है।

5. अनुशासन

पं. दीनदयाल उपाध्याय विद्यार्थियों को सिखाने के लिए संस्कार पक्ष का सहारा लेते हैं।

अनुशासनहीनता पर वे दण्ड देने के पक्षधर थे। लेकिन ऐसा दण्ड जो विद्यार्थी के लिए हितकर हो। उन्होंने जगद्गुरु श्री शंकराचार्य पुस्तक में लिखा है- "तुमने अनुशासन भंग करके महापाप किया है, उसका प्रायश्चित तुम्हें करना ही होगा। बुराई की ओट में कभी-कभी भलाई छिपी रहती है, जाओ किसी योग्य शिष्य को ढूँढ़कर महाभाष्य पढ़ाना।" वे मधु दण्ड के समर्थक थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि उसे न तो क्षीण दण्ड देने वाला होना चाहिए न उग्र दण्ड अपितु मधु दण्ड देने वाला होना चाहिए। उपाध्याय जी मूलतः आत्मानुशासन के समर्थक थे। ऐसा अनुशासन जो आत्मप्रेरित, आत्मत्याग, सत्कर्म, सुख से युक्त अन्तरानुभूति के रूप में प्रतिस्थापित हो।

6. शिक्षण विधियाँ

पं. दीनदयाल उपाध्याय संस्कार, अध्यापन एवं स्वाध्याय को शिक्षा के प्रमुख माध्यम मानते हैं। उन्होंने नियमित संस्कार द्वारा शिक्षा स्मरण, धार्मिक गुढ़ विचारों की व्याख्या, खेल, मातृभाषा प्रयोग, अनुकरण प्रयोग, यौगिक क्रिया उपयोग, कर्तव्य, सापेक्षता का विकास, प्रशिक्षण शिविरों का आयोजन, अभ्यास, अल्प शक्तिपात विधियों को शिक्षण को सफल बनाने के निमित्त उपयोगी बताया है।

7. विद्यालय का स्वरूप

पं. दीनदयाल उपाध्याय का मत था कि सांस्कारिक शिक्षा गुरुकुल शिक्षा पद्धति के माध्यम से ही दी जा सकती है। गुरुकुल बस्ती से दूर प्रकृति की गोद में होना चाहिए जहाँ पर गुरु-शिष्य एक साथ रहकर पठन-पाठन का कार्य करें। इससे दोनों के सम्बन्ध मधुर होंगे, उचित शैक्षिक वातावरण का विकास होगा तथा शिक्षा का कल्पवृक्ष फल-फूल से सम्पन्न होगा।

8. शिक्षा के अन्य पक्ष

पं. दीनदयाल उपाध्याय शिक्षा का तात्पर्य केवल साक्षरता तक ही सीमित नहीं मानते थे अपितु शिक्षा का अर्थ व्यापक रूप में मानने के हिमायती थे। शिक्षा के माध्यम से वे व्यक्ति का, परिवार का, समाज तथा राष्ट्र का अधिकतम कल्याण चाहते थे। अतः शिक्षा से मिलने वाले प्रत्येक लाभ व हर सम्भावना को प्राप्त करने के पक्षधर थे। वे स्त्री समाज की समग्र शिक्षा का स्वप्न देखते थे। वनवासी बालक-बालिकाओं के लिए उन्होंने चित्रकूट में 'रामनाथ आश्रमशाला' नाम से प्राथमिक विद्यालय प्रारम्भ किया। शिक्षा के माध्यम से वे समाज के सर्वांगीण विकास के साथ-साथ समाज में व्याप्त भेद-भाव को दूर करना चाहते थे। उनका विचार था कि शिक्षा का प्रकाश जन-जन तक अर्थात् राष्ट्र के सीमान्त व्यक्ति तक पहुँचे ताकि '**सर्वे भवन्तु सुखिनः**' का लक्ष्य प्राप्त हो सके। उनका कथन है- "शिक्षा हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।" अतः शिक्षा अनिवार्य व निःशुल्क होनी चाहिए। पब्लिक स्कूल संस्कारविहीन शिक्षा देने के कारण स्वीकार्य नहीं हो सकते। मिशनरी

विद्यालय भ्रामक शिक्षा देते हैं, अतः वे भी अनुपयोगी हैं। शिक्षा के बिना समाज का जन्म ही असम्भव है क्योंकि जब पुराने घटक अपने अनुभवों को नये घटकों में विस्थापित करते रहते हैं तो शिक्षा निरन्तर गतिमान रहती है। वे शिक्षा में स्वायत्तता पर बल देते हैं तथा शिक्षा का संचालन शिक्षकों एवं शिक्षाविदों द्वारा किये जाने के पक्षधर थे। वे सलाह देते हैं कि शिक्षा पर राज्य व्यय करे परन्तु सरकारीकरण नहीं होना चाहिए। शिक्षण मातृभाषा में होना चाहिए।

उपर्युक्त पंक्तियों में पं. दीनदयाल उपाध्याय के दर्शन एकात्म मानववाद के विवेचन के साथ उनके दार्शनिक विचारों के शैक्षिक निहितार्थ पर भी चिन्तन किया गया है। एकात्म मानववाद भारतीय संस्कृति व जीवन दर्शन से अनुप्राणित होने के कारण वर्तमान जीवन की दृष्टि से अत्यधिक उपयोगी तथा प्रासंगिक है। इसी कारण इसकी शैक्षिक उपयोगिता है। एक प्रकार से शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में इनके विचारों का समावेश उसे समयानुकूल सार्थक रूप देने में महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा, इसमें सन्देह नहीं है।

सन्दर्भः

1. भारतीय जनसंघ घोषणाएँ व प्रस्ताव, भाग-1, दिल्लीः विट्ठल भाई पटेल, रफी मार्ग, पृष्ठ 4
2. बौद्धिक पंजिका; राजस्थान 4 जून, 1964 को संघ शिक्षा वर्ग में दिये गये बौद्धिक उद्‌बोधन के आधार पर।
3. शर्मा, महेश चन्द्र; दीनदयाल उपाध्यायः कर्तव्य और विचार, नयी दिल्ली; वसुधा पब्लिकेशन, पृष्ठ 407
4. बौद्धिक वर्ग पंजिका, नयी दिल्ली; दीनदयाल शोध संस्थान, दिनांक 07.06.65, पृष्ठ 30
5. तोमर, लज्जाराम; विद्या भारती चिन्तन की दिशा, कुरुक्षेत्र; विद्या भारती प्रकाशन, पृष्ठ 107
6. वही, पृष्ठ 74
7. उपाध्याय, दीनदयाल; राष्ट्र चिन्तन, लखनऊ; राष्ट्र धर्म पुस्तक प्रकाशन, पृष्ठ 34
8. उपाध्याय, पं. दीनदयाल; जगद्‌गुरु श्री शंकराचार्य, लखनऊ; लोकहित प्रकाशन, पृष्ठ 20
9. वही, पृष्ठ 24
10. उपाध्याय, दीनदयाल; राष्ट्र चिन्तन, पूर्व चर्चित, पृष्ठ 85
11. एकात्म मानववाद विकिपीडिया https/hiwikipidia.org/wiki एकात्म मानववाद (भारत)
12. कौशिक, के; पं. दीनदयाल उपाध्याय का दर्शन एवं उसके शैक्षिक निहितार्थ, भारतीय शिक्षा शोध पत्रिका लखनऊ, वर्ष-31, अंक-2, जुलाई-दिसम्बर 2012

卐

UNIQUE THOUGHTS: JAI PRAKASH NARAYAN

Dr. Nitesh Kumar*

Loknayak Jaiprakash Narayan has been consider the most extrovert leader of Indian policy because of his originality and thought and radical approach that has had the equality of not only giving direction to the Indian society but intensity of bringing about not only a radical change but a complete transformation.

There is an inseparable unity in the whole of his thought. The world today needs exploration free society. Democratic Socialism can be realized only by the socialization of the meandering factor of production. Thus, can the cruel process of economic exploitation of the vast masses be neutralized?

The political and economic origination of the state may be based on principle of social justice and economic freedom, condolence to the satisfaction of the national requirements of every member of society and material satisfaction may be its sole objective. It may aim at healthy living and the moral and intellectual development of individual.

India is today facing with a variety of difficulties and rather intricate problems in the socio-economic and political sphere, even after six decades of freedom; we have not been able to find satisfactory, solutions to the challenges of poverty, low production, unemployment, widespread corruption, expensive elections, class-conflicts and violence. The moral fiber of people has been weakened almost beyond repair. The only practical way to resolve our difficulties in a lasting manner is to turn once again to the ideas of Mahatma Gandhi. His approach to various issues was always scientific and national. In our view, the most essential part of J.P.'s thoughts is that pure means must always be employed for the achievements of noble objectives.

Sarvodaya philosophy is a free and flexible ideology which welcome and assimilates

*House No. 42, Vrindavan Colony, Rajendra Nagar (West), Gorakhnath, Gorakhpur

all that is good in others. It synthesizes the west in western democracy with the best in communism with the category of humanistic socialism. It preserves all that is valuable in the culture of the past and accepts all that is valuable in modern thought and practice.

Gandhi was considered to be the greatest revolutionary of this time. He believed that truth could reside in opposites and, therefore, he saw and appreciated truth whenever it existed. His life as he said was asset of experiments with truth. It means that he was to possess a judicious and scientific temper. He was a man of action. He tries his utmost to practice honesty, integrity and truthfulness in his dealings with others. He was a fearless fighter and had great personnel regarding his opponents.

Jayprakash Narayan was for complete freedom of the individual, like Gandhijee but freedom of the individual meant to him, freedom from exploitation by others and this is turn did not give right to any individual not to give right to any individual enjoying complete freedom to exploit others. Such freedom was, of course, always subject to social restraint and obligation and when it comes into conflict with good of the society, it was to be curbed and quashed to that extent.

Though the death of Jaiprakash Narayan has closed the chapter of formation of classless society in the country freedom exploitation of social, moral, political and economic freedom and their growth, it is expected that the people who have realized their values and practicability, will really open the chapter for further suitable action.

It is high time to realize that the technological revolution, unless followed by decentralized system of economy and administration, is bound to be fruitless and baffling. It is nothing sort of sabotaging polities to give the freedom of vote to individual by one hand and deprive him of his life flood by the other to invest a group of manipulating intellectuals with supreme power and to let the people lose heavily in material and moral spheres. Political democracy putting up with economic and ethical slavery of the masses is a self condemned arrangement. Rather, it is the economics democracy that is really dynamic and fruitful and this is the idea which Mahatma Gandhi in his memorable expression called SWARAJ or RAMRAJ.

Jaiprakash a disciple of Gandhijee believed in the theory of continuous evolution of society. According to him, mans hobbits which are sometimes called his second nature, are to change. Moreover, through habitation processes good habits and correct behavior patterns can be formed, there are certain factors which help society in its evolution and

may prove great accelerators of social change. They are science and technology, democracy and the spirit of egalitarians. Though these factors, the change process can be expedited.

There is a valid concept of progress; progress toward good things of life. Every individual and society can attain progress by consciously directing its energies towards the attainment of what is desirable. Hence, it is absolutely necessary that for the progress and growth of society, the theory of determinism should give place to the theory of conscious direction.

According to Vinoba or the traditional economic theory based on the belief that a high rate of growth would easily percolate to the lowest segments of the population has failed miserably. Experience in all developing countries has demonstrated beyond in iota of doubt that the benefits of a fast growth ratio do not necessarily reach out to the masses. He accepted sarvodaya as SATWICK SAMAJWAD that was inherent in voluntary acceptance of social values. His active association with Acharya Vinoba Bhave had given a new shape to the sarvodaya movement Vinoba redefined.

Sarvodaya in the wake of the Chinese aggression in 1962, as "Democratic Socialism by peaceful means" J.P. was, it is said, a Marxist turned Gandhian. In my considered view even though he ceased to be a Dialectical materialist, he retained his faith in the concept of class struggle but linked it with a peaceful technique to set in motion that was an integral part of his seven dimensional TOTAL REVOLUTION.

Jai Prakash was a revolutionary first and revolutionary last, KARL MARX, conceptualized total revolution in term of class struggle in its highest form. J.P. added to it the concept of peaceful action. He did not talk of non-violence, because he was conscious of his own limitations of politics. Mahatma Gandhi regarded him as the great Indian authority on socialism.

J.P. as sarvodaya leader thinks the ideology of sarvodaya is the only panacea for the mankind suffering from hatred, discontent and frustration. Indeed it offers the ethical, socialistic creed based on non-violence and love the ideal alternative to both the materialistic, mechanized and acquisitive capitalism on the one hand which tends to accentuated socio-economic cleavage, desparities and strife. Sarvodaya stands for peaceful, just and an egalitarian social order, free from any economic exploitation or social suppression. It aims at promoting co-sharing and mutual care and under privileged brethren.

The Bhoodan and Gramdan, the manifestations of the feeling of love and concern from the have not constitute a movement based on voluntary giving and sharing and provide the best solution to the exploitation in various forms and violent grabbing and snatching which we see around.

The total revolution is an attempt to apply the principle and technique to the solution of socio-economic and political problems, in this very fast changing scientific age, if human race has to survive.

Total revolution is both an end and a means to achieve the goal of the formation of a classless society free from exploitation, based on equality, liberty and fraternity. Revolution in this context dose not simply mean change of a social-order that we find in present INDIA but also change of this social order plus formation of a new exploitation free society Certainly J.P. is deeply influenced by Marxian thoughts and like Marx he to feel that capitalism cannot help in formation of an egalitarian social order and for that socialism is inevitable. However J.P. does not feel like Marx that violence is morally and legally justified for attaining socialism.

Following suggestion may be placed for implementing the social-economic and political thoughts of Jay Prakash Narayan and for getting its implementation in true sense.

(1) To apply the thought and technique for non-violence to solution of social problems. This is an age of probing into outer space. It must avoid violence, hatred and bloodshed. It is a universal cry today that there should be no world war. Everyone agrees with that. What everyone does not agree on whether likewise violence in small scale should also be eschewed. There is a contradiction in the mind of men today.

(2) Economy is the chief sanction behind all social prestige, social status of the society. So to materialize the effectiveness to provide social status to everyone in the society is imperative.

References:

1. Gandhism: A Socialistic Approach, Allahabad, 1946 –A.N. Agarwal
2. India of My Dream – M.K. Gandhi
3. Swaraj for the people – J.P. Narayan
4. Towards Total Revolution – J.P. Narayan
5. Sarvodaya Movement – J.P. Narayan
6. The Social Philosophy of M.K. Gandhi, Gorakhpur 1958 – M.Prasad
7. Marx Gandhi & Socialism, Hyderabad – R. M. Lohia
8. From Socialism to Sarvodaya – J.P. Narayan

9. Vinoba – Vinoba & His Mission
10. Vinoba – Swaraj Shastra varies 1973
11. Challenge of Poverty – P.D. Ojha

Periodicals & Journals

1. Bhoodan
2. Bhoodan Yojna
3. Khaadi Gramodyog
4. Vinoba Pravachan
5. Harizan

卐

महाविद्यालय में षिक्षक आचार संहिता

1. शिक्षक स्वयं विद्यार्थियों के लिए प्रतिमान बनें।
2. समय से पूर्व उपस्थित हों। प्रातः 09:20 पर सभी शिक्षकों की उपस्थिति अनिवार्य है। प्रार्थना की घंटी से पूर्व उपस्थिति पंजिका पर हस्ताक्षर न होने पर लाल रंग की रेखा खींच दी जायेगी, तत्पश्चात् आने का समय डाल दें, हस्ताक्षर न करें। जाते समय हस्ताक्षर करें तथा समय डालें। तीन दिन विलम्ब होने पर एक दिन आकस्मिक अवकाश मान लिया जायेगा।
3. महाविद्यालय परिसर में किसी भी शिक्षक की उपस्थिति के आसपास अनुशासन की जिम्मेवारी सम्बन्धित शिक्षकों की होगी।
4. नशा मुक्त परिसर का नियम स्वयं पर लागू करें।
5. पाठ्यक्रम योजना का शत–प्रतिशत पालन करें। 10 जुलाई तक द्वितीय एवं तृतीय वर्ष की पाठ्यक्रम योजना तथा 20 जुलाई तक प्रथम वर्ष की पाठ्यक्रम योजना प्राचार्य के पास उपलब्ध करा दें।
6. प्रायोगिक कक्षाओं के पाठ्यक्रम शत–प्रतिशत पूर्ण हो। प्रायोगिक कक्षाओं में सभी विद्यार्थियों के कक्षावार मोबाइल नम्बर रखें जायें।
7. कक्षा में व्याख्यान–सारांश की छायाप्रति सभी विद्यार्थियों को उपलब्ध कराकर ही पढ़ाएं।
8. प्रत्येक व्याख्यान से पूर्व पिछले सारांश/व्याख्यान पर प्रश्नोत्तर का समय दें।
9. कक्षा में मोबाइल लेकर किसी भी कीमत पर न जाएं।
10. प्रति प्रश्नपत्र गत वर्ष के अतिरिक्त कम से कम पांच व्याख्यान प्रोजेक्टर पर अवश्य पढ़ाएं।
11. पुस्तकालय की सभी पुस्तकें 2 मई से पूर्व प्रतिवर्ष जमा कर अदेयता प्रमाण पत्र अवश्य प्राप्त कर लें। पुस्तकालय की किसी पुस्तक के बकाया होने की दशा में ग्रीष्मावकाश स्वीकृत नहीं होगा।
12. महाविद्यालय के किसी प्रकार के आर्थिक आय–व्यय, अग्रिम आदि का समायोजन 20 मार्च तक अवश्य करा लें।
13. जो दायित्त्व सौंपा जाय उसे निर्धारित समय से शत–प्रतिशत पूर्ण करें।
14. पूर्व निर्धारित कार्यक्रम हेतु अवकाश एक दिन पूर्व स्वीकृत कराएं। अवकाश स्वीकृत कराए बिना अथवा बिना किसी सूचना के अनुपस्थित होने पर अवैतनिक अवकाश मान लिया जायेगा।
15. विश्वविद्यालय पूर्व परीक्षा में प्रश्नपत्र निर्माण, उत्तर पुस्तिका का मूल्यांकन आदि कार्य शिक्षक के स्वाभाविक दायित्व के अन्तर्गत आएगा, उसके लिए किसी प्रकार का अतिरिक्त भुगतान नहीं होगा।
16. विश्वविद्यालय परीक्षा मानकानुसार/नियमानुसार सम्पन्न कराना शिक्षक का उत्तरदायित्व है। अतः परीक्षा के समय शहर छोड़ते समय सूचना अवश्य दें।
17. महाविद्यालय के सभी आयोजनों, कार्यक्रमों, राष्ट्रीय सेवा योजना के विशेष शिविरों के उद्घाटन, समापन समारोह आदि में शिक्षक की उपस्थिति अनिवार्य होगी। उचित कारण पर आकस्मिक अवकाश दिया सकता है।
18. महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् के समस्त आयोजनों/कार्यक्रमों में प्रबन्धतन्त्र के निर्देशानुसार उपस्थिति एवं सहयोग अनिवार्य होगी।
19. 15 अगस्त, 2 अक्टूबर, 26 जनवरी को सभी की उपस्थिति अनिवार्य होगी। अनुपस्थित रहने पर आकस्मिक अवकाश चढ़ेगा। किन्तु ध्वजारोहण में कहीं भी सम्मिलित होने का प्रमाण–पत्र देना होगा।
20. स्वैच्छिक श्रमदान में शिक्षक प्रतीकात्मक रूप से छात्रों का प्रतिमान बनें। विद्यार्थियों को गोद लेने की योजना को भी शिक्षक स्वेच्छानुसार लागू कर सकते हैं। गोद लिये विद्यार्थियों की सूचना अवश्य दे दें।
21. समय–समय पर जारी संशोधनों एवं नये निर्देशों का पालन अनिवार्य होगा।

POLLUTION FREE SOURCES OF ENERGY: AN OVERVIEW

Md. Rashid Tanveer and Aradhana Kashyap*

ABSTRACT

Power crisis is one of the major problems in developing countries. The conventional sources of energy is failed to fight this crisis. This led to serious attempt to explore the technological feasibility of the non-conventional sources of energy. There are abundant renewable sources of energy such as wind, sun, water, sea, biomass apart from even daily wastes. These are pollution free and clean energy sources. Although solar energy seems to be more promising but wind energy, tidal energy, geothermal energy or energy from biomass is also the possible solution of the power crisis of the country. These are unlimited and inexhaustible in nature and do not damage the environment.

INTRODUCTION

The industrial revolution of the 19th century ushered in new technologies. The spurt in inventions in that century was unprecedented in many ways. Some of these inventions involved use of natural resources like coal and oil[1,2]. In the quest to sustain galloping economic activity, the dependence on coal and oil has soared at a phenomenal rate over the years. The burnt fuels result in the release of carbon dioxide and other gases into the atmosphere causing environmental damage[3]. It has become imperative to look at the energy technology with a new perspective. There are abundant renewable sources of energy such as wind, sun, water, sea, biomass and even daily wastes[4]. These sources are pollution free and hence clean energy apart from being unlimited and inexhaustible[5].

Power generation in India has grown in size to more than one lakh MW[6,7]. This is distributed through a vast network of transmissions and distribution lines that reach all villages even in remote areas. But the demand for power is growing more rapidly[8,9]. This causes a great power crisis. The problem will be compounded due to fast depletion of

*Electrochemistry Research Lab, Deptt. of Chemistry, St. Andrew's College, Gorakhpur (UP) 273001 Email: rashidtanveer1@gmail.com

fossil fuel deposits[10], quality of fuel, heavy price to be paid for basic material along with their transportation cost and above all the environmental degradation caused by the use of conventional energy sources. Under such conditions, environment friendly, clean and green energy have emerged as important alternatives to conventional energy sources[11,12]. The renewable energy sources are and inexhaustible as they rely on sun, wind, biomass etc. as primary sources of energy. The country is endowed with large amount of sustainable resource base on non-conventional energy technologies which are well suited for grid connected power generation, energy supplies in remote areas which could not be connected to the grid and for captive consumption[13,14]. Nonconventional energy sources like wind energy, solar energy through thermal as well as photovoltaic system, biomass and hybrid sources will help to a great extent in enhancing power generation capacity. Hence appropriate policies that optimize the use of available energy resources with new technologies have to be propagated, promoted and adopted.

Discussion

Renewable energy sources also called non-conventional energy are sources that are continuously replenished by natural process. Solar energy, wind energy, Biomass or bio-energy, bio-fuels grown sustainably, hydropower etc are some of the examples of renewable sources of energy. Biomass are inferior wood, urban waste bagasse, farm animal and human waste. A renewable energy system converts the energy found in sunlight, wind, falling water, sea waves, geothermal heat, or bio-mass into a form, we can use such as heat or electricity. Most of the renewable energy comes either directly or indirectly from sun and wind and can never be exhausted, and therefore they are called renewable. Currently most of the world's energy sources are derived from conventional sources fossil fuel such as coal, oil and natural gases. Distribution of domestic production petroleum products in India is shown in Fig.1. These fuels are often said to be non-renewable energy sources. Although, the available quantity of these fuel are extremely large , they are nevertheless finite and so will in principle 'run out' at some time in the future. Further the demand for energy is being increasing day by day. To fulfill this demand natural gas and petroleum products play an important role. Sector wise consumption of natural gas is shown in Fig.2. in the similar manner the consumption of petroleum products is shown in Fig.3. Renewable energy sources are essentially flow of energy, whereas the fossil and nuclear fuels are in essence stock of energy.

IMPORTANCE OF NON-CONVENTIONAL SOURCES OF ENERGY

1. Non-conventional sources of energy pollution free and eco-friendly.

2. The non-conventional sources of energy are abundant in nature. According to energy experts the non-conventional energy potential of India is estimated at about 95,000 MW.

3. These are renewable resources. The non-conventional sources of energy can be renewed with minimum effort and money.

4. Non-conventional sources of energy are pollution free and eco-friendly.

Due to these advantages it is necessary to move towards Non-conventional sources of energy. The estimated potential of renewable power in India is shown in Fig.4

TYPES OF COMMONLY USED NON-CONVENTIONAL SOURCES OF ENERGY

a) Wind energy: wind power is harnessed by setting up a windmill which is used for pumping water, grinding grain and generating electricity. The gross wind power potential of India is estimated to more than 30,000 MW. Areas with constantly high speed preferably above 20 km per hour are well suited for harnessing wind energy. Wind power is the conversion of wind energy in to a useful form of energy such as using wind turbines to make electrical power wind mills for mechanical power, wind pumps for water pumping or drainage or sails to propel ships.

b) Tidal energy: Sea water keeps on rising and falling alternatively twice a day under the influence of gravitational pull of moon and sun. This phenomenon is known as tides. It is estimated that India has 8000-9000 MW of tidal energy potential. The gulf of kuchh is best studied for tidal energy.

c) Solar energy: Sun is the source of all form of energy on the earth. It is most abundant, inexhaustible and universal source of energy. All other sources of energy draw their strength from the sun. India is blessed with plenty of solar energy because most parts of the country receive bright sunshine throughout the year expect a brief monsoon period. India has developed technology to use solar energy for cooking, water heating, space heating, crop drying etc.

d) Geo-thermal energy: Geo-thermal energy is the heat of the earth's interior. This energy is manifested in the hot springs. India is not very rich in this source.

e) Energy from biomass: Biomass refers to all plant material and animal excreta when considered as an energy source. Some important kinds of biomass are inferior wood, bagasse, farm animal and human waste.

Let us briefly about the advantages and disadvantages of some of these sources of energy.

WIND POWER

Worldwide there are now over two lakh wind turbines are operating. Worldwide generation capacity is doubling about every three years. Worldwide capacity of wind-powered generators is 282 GW, growing by 44GW over the preceding years. India is fifth largest wind power generating country. Here 18,421MW electricity is generated by wind which is 6.5% of total world production.

VARIABILITY, PREDICTABILITY AND RELIABILITY OF WIND POWER

Electricity generated from wind power can be highly variable at several different timescale hourly, daily or seasonally. Annual variation also exists, but is not as significant. Wind power forecasting methods are used, but predictability of any particular wind farm is low for short term operation. For any particular generator there is an 80% chance that wind output will change less than 10% in an hour and a 40% chance that it will change 10% or more in 5 hours. However wind speeds can be accurately forecast over large areas, and hence wind is a predictable source of power. Thus as with other electricity sources, wind energy availability must remain in balance to maintain grid stability. This variability can present substantial challenges to incorporating large amounts of wind power into grid system. Intermittency and the non-dispatchable nature of wind energy production can raise costs for regulation, incremental operating reserve, and could require an increase in the already existing energy demand management, load shedding, storage solutions or system interconnection with HVDC cables. At low levels of wind penetration, fluctuations in load and allowance for failure of large generating units require reserve capacity that can also compensate for variability of wind generation. Wind power can be replaced by other sources during low wind periods. Presently, grid systems with large wind penetration require

an increase in the frequency of usage of natural gas spinning reserve power plants to prevent a total loss of electricity in the event that conditions are not favorable for power production from the wind. On seasonal timescales, solar energy peaks in summer, whereas in many areas wind energy is lower and higher in winter thus the intermittencies of wind and solar power tend to cancel each other somewhat. Currently a combined power plant linking solar, wind, biogas and hydro storage is tested to provide load following power around the clock and throughout the year, entirely from renewable sources. However on windy days, even with penetration levels of 16% wind power generation can surpass all other electricity sources in a country.

ENERGY STORAGE OF WIND ENERGY

In general, hydroelectricity complements wind power very well. When the wind is blowing strongly, nearby hydroelectric plants can temporarily hold back their water, and when the wind drops they can rapidly increase production again giving a very even power supply.

Pumped storage hydroelectricity or other forms of grid energy storage can store energy developed by high-wind periods and release it when needed. The type of storage needed depends on the wind penetration level. Low penetration requires both short and long term storage as long as a month or more. Stored energy increases the economic value of wind energy since it can be shifted to displace higher cost generation during peak demand periods. Although pumped storage power system are only about 75% efficient, and have high installation cost, their low running cost and ability to reduce the required electrical base load can save both fuel and total electrical generation cost.

SMALL-SCALE WINDPOWER

Small scale wind power is the kind of wind generation system with the capacity to produce up to 50 KW of energy power. Isolated communities that may otherwise rely on diesel generator may use wind turbines as an alternative. Individual may purchase this system to reduce or eliminate their dependence on grid electricity for economic reasons, or to reduce their carbon footprint. Wind turbines have been used for household electricity generator in conjunction with battery storage over many decades in remote areas.

Grid-connected domestic wind turbines may use grid energy storage, thus

replacing purchased electricity with locally produced power when available. The surplus power produced by domestic micro generators can, in some jurisdiction, be fed into the network and sold to the utility company, producing a retail credit for the micro generator owners to offset their energy cost. Off grid system user can either adapt to intermittent power or use batteries, photovoltaic or diesel system to supplement the wind turbines. Equipment such as parking meters, traffic warning signs, street lighting or wireless internet gateways may be powered by a small wind turbines, possible combined with a photovoltaic system, that charge a small battery replacing the need for a connection to the power grid.

Distributed generation from renewable resource is increasing as a consequence of the increased awareness of climate change. The electronic interface required to connect renewable generation unit with the utility system can include additional functions, such as the filtering to enhance the power quality.

ENVIRONMENTAL EFFECTS OF WIND POWER

Compared to the environmental impact of traditional energy source, the environmental impacts of wind power is relatively minor in terms of pollution. Wind power consumes no fuel, and emits no air pollution, unlike fossil fuel power source. The energy consumed to manufacture and transport the material used to build a wind power plant is equal to the new energy produces by the plant within a few months.

There are reports of bird and bat mortality at wind turbines as there are around other artificial structures. The scale of the ecological impact may or may not be significant, depending on specific circumstances. Although all artificial structure can kill birds, wind power has a disproportionate effect on certain endangered bird species. Prevention and mitigation of wildlife fatalities, and protection of peat bogs, affect the sitting and operation of wind turbines. There are some reports of negative effect from noise on people who live close to wind turbines.

TIDAL POWER

Tidal power or tidal energy is a form of hydropower that converts the energy of tides into useful forms of power mainly electricity. Tidal power has potential for future electricity generation. Tides are more predictable than wind energy and solar power. Among sources of renewable energy, tidal power has traditionally suffered from relatively high

cost and limited availability of sites with sufficiently high tidal ranges or flow velocities, thus constructing in total availability. However, tidal lagoons and turbine technology like new axial turbines and cross flow turbines indicate that the total availability of tidal power may be much higher than previously assumed, and that economic and environmental costs may be brought down to competitive levels.

Historically, tide mills have been used, both in Europe and on the Atlantic coast of North America. The incoming water was contained in large storage ponds, and as the tide went out, it turned water wheels that used the mechanical power it produced to mill grain. It was only in the 19th century that the process of using falling water and spinning turbines to create electricity was introduced. The world's first large-scale tidal power plant, the Rance Tidal Power Station became operational in 1996.

GENERATION OF TIDAL ENERGY

Tidal power is taken from the oceanic tides. Tidal forces are periodic variations in gravitational attraction exerted by celestial bodies. These forces create corresponding motions or currents in the ocean. Due to the strong attraction to the oceans, a bulge in the water level is created, causing a temporary increase in sea level. When the sea level is raised, water from the middle of the ocean is forced to move toward the shorelines, creating a tide. This occurrence takes place in an unfailing manner, due to the constituent pattern of the moon's orbit around the earth. The magnitude and character of this motion reflects the changing positions of the moon and sun relative to the earth, the effects of Earth's rotation and local geography of the sea floor and coastlines.

Tidal power is the only technology that draws on energy inherent in the orbital characteristics of the earth moon system, and to a lesser extent in the earth sun system. Other natural energies exploited by human technology originate directly or indirectly with the sun, including fossil fuel, conventional hydroelectric, wind, biofuel, wave and solar energy. Nuclear energy makes use of Earth's mineral deposits of fissionable elements, while geothermal power taps the earth's internal heat, which comes from a combination of residual heat from planetary accretion and heat produced through radioactive decay. A Tidal generator converts the energy of tidal flows into electricity. Greater tidal variation and higher tidal current velocities can dramatically increase the potential of a site for tidal electricity generation.

Because the tides are ultimately due to gravitational interaction with moon and sun and the Earth's rotation, tidal power is practically inexhaustible and classified as a renewable energy resource.

GEOTHERMAL ENERGY

The Earth's internal thermal energy flows to the surface by conduction at a rate of 44.2 TW and is replenished by radioactive decay of minerals at a rate of 30 TW. These power rates are more than double the current energy consumption from all primary sources, but most of this energy flow is not recoverable. In addition to the internal heat flows, the top layer of the surface to a depth of 10 m is heated by solar energy during the summer, and releases that energy and cool during the winter.

Outside of the seasonal variations, the geothermal gradient of temperatures through the crust is 25-30ÚC / km of depth in most of the world. The conductive heat flux averages 0.1 MW/km^2.They may be further augmented by fluid circulation, either through magma conduits, hot springs, hydrothermal circulation or a combination of these.

A geothermal heat pump can extract enough heat from shallow ground anywhere in the world to provide home heating, but industrial application need the higher temperatures of deep resources the thermal efficiency and profitability of electricity generation is particularly sensitive to temperature. The more demanding application receive the greatest benefit from a high natural heat flux , ideally from using a hot spring. The next best option is to drill a well into a hot aquifer if no adequate aquifer is available

ENVIRONMENTAL EFFECTS OF GEOTHERMAL ENERGY

Fluids drew from the deep earth carry a mixture of gases notably CO_2, H_2S, CH_4, NH_3. These pollutants contribute to global warming, acid rain and noxious smells if released. Existing geothermal electric plants emit an average of 122kg of CO_2 per MWh of electricity, a small fraction of the emission intensity of conventional fossil fuel plants. Plants that experience high levels of acids and volatile chemicals are usually equipped with emission control system to reduce the exhaust.

In addition to dissolved gases, hot water from geothermal sources may hold in solution trace amounts of toxic elements such as mercury, arsenic, boron and antimony

.These chemicals precipitate as the water cools and can cause environmental damage if released. The modern practice of injecting cooled geothermal fluids back into the earth to stimulate production has the side benefit of reducing this environmental risk.

Direct geothermal heating system contains pumps and compressors, which may consume energy from a polluting source. This parasitic load is normally a fraction of the heat output, so it is always less polluting then electric heating. However, if the electricity is produced by burning fossil fuel, then the net emission of geothermal heating may be comparable to directly burning the fuel for heat. For example, a geothermal heat pump powered by electricity from a combined cycle natural gas plant would produce about as much pollution as a natural gas condensing furnace of the same size. Therefore the environmental value of direct geothermal heating applications is highly dependent on the emission intensity of the neighboring electric grid.

CONCLUSION

Due to fast depletion of fossil fuel deposits, quality of fuels, heavy price to be paid for basic materials with their transportation cost and above all the environmental degradation causes by the use of convention energy sources, it is necessary to move towards non-conventional energy sources like wind energy, solar energy through thermal as well as photovoltaic system, biomass and hybrid sources. The different types of renewable sources of energy are being used, but their use is limited. Biogas plants cannot be used by common people because for this purpose large amount of cattle dung is required. For its effective utilization Government should take concrete step in the village level. Thus a brisk research is required for the investigation of renewable energy and to promote environment friendly practices. These sources will help to a great extent in enhancing power generation capacity of country without atmospheric degradation.

Acknowledgement

The authors are grateful to the Principal, St. Andrew's College, Gorakhpur for providing necessary facilities. Thanks are also due to the Head, Department of Chemistry, DDU Gorakhpur University, Gorakhpur for encouragement.

卐

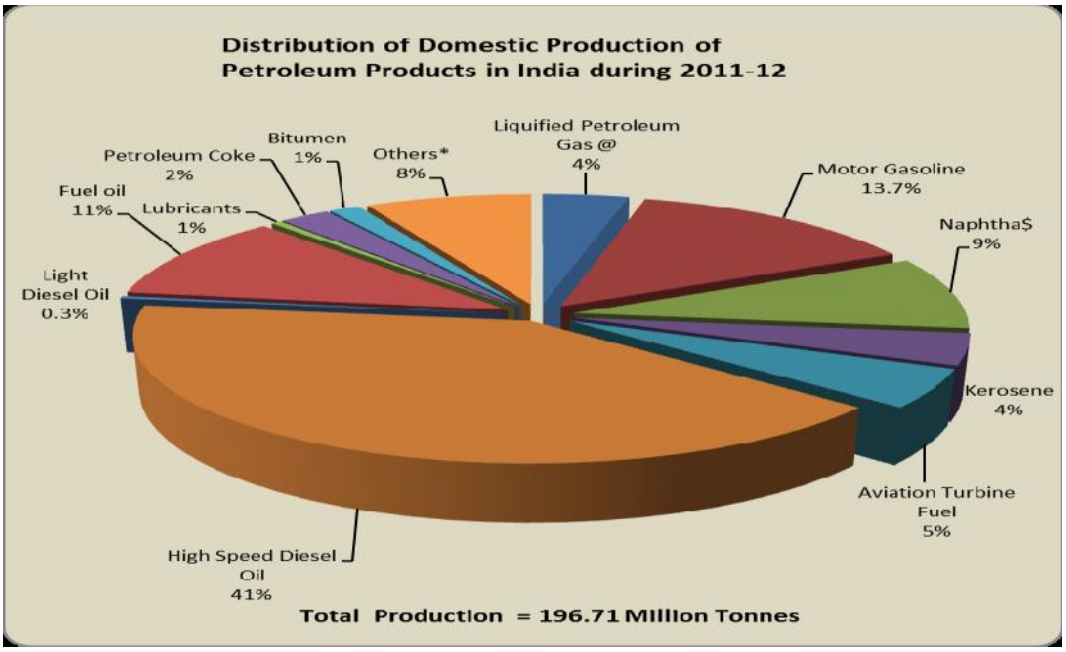

Fig.1. Distribution of domestic production petroleum products in India.

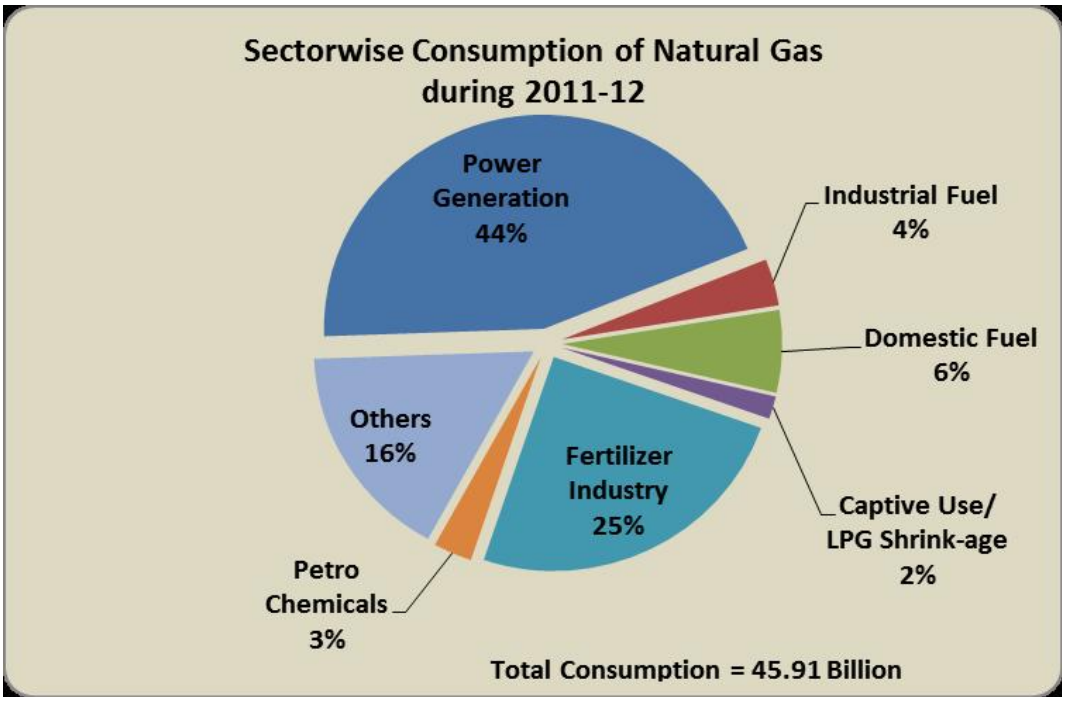

Fig.2 Sectorwise consumption of natural gas

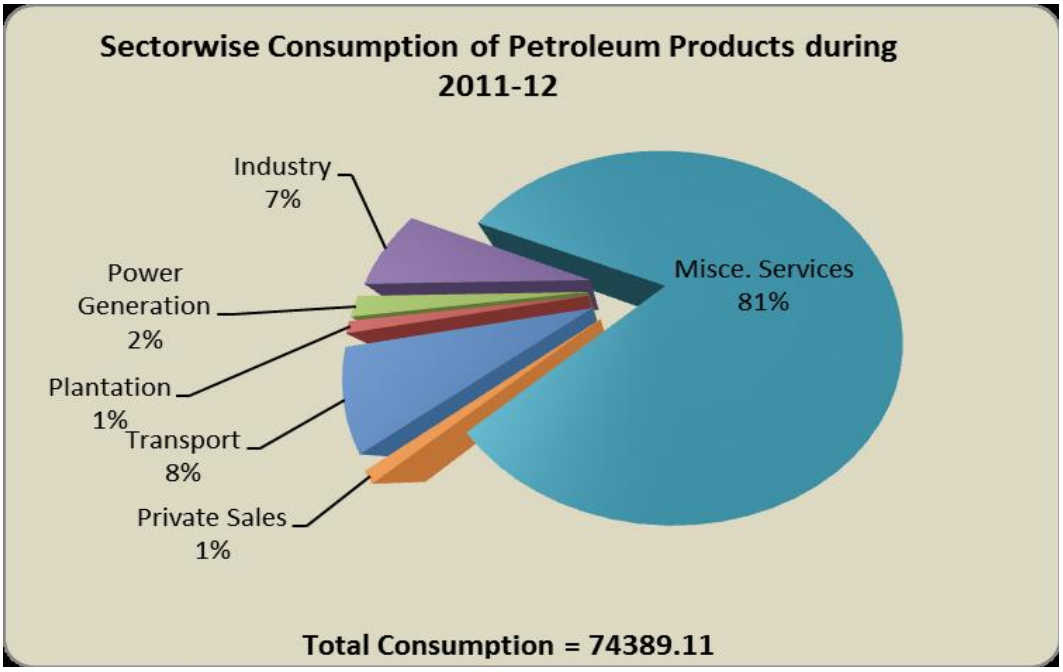

Fig.3 Sectorwise consumption of petroleum products.

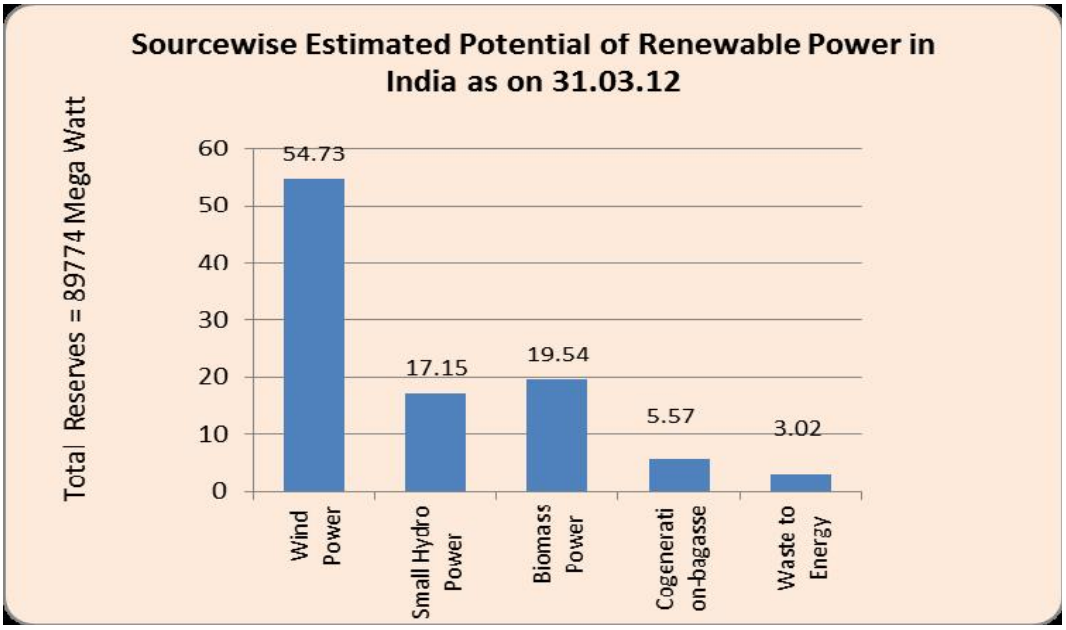

Fig.4 Estimated potential of renewable power in India.

References

1. Harold F. Hemond, Elizabeth J. Fechner, in *Chemical Fate and Transport in Environment* (Third Edition), 2015,p 75-218.
2. Raymond L. Murray, Keith E. Holbert, *Nuclear Energy* (Seventh Edition), 2015, p 273-289.
3. L. Amin, *Renewable Energy,* 16, (1–4),1999, p 977-980.
4. Aparna Sawhney, M. Rahul, *Energy Economics,* 42, 2014, p 240-247.
5. Juergen H. Peterseim, Alexander Herr, Sarah Miller, Stuart White, Deborah A. O'Connell, *Energy,* 68, 2014, p 698-711.
6. Ben Machol, Sarah Rizk, *Environment International,* 52, 2013,p 75-80
7. Carolina García-Martos, Julio Rodríguez, María Jesús Sánchez, *Applied Energy,* 101, 2013, p 363-375
8. Juergen H. Peterseim, Alexander Herr, Sarah Miller, Stuart White, Deborah A. O'Connell, *Energy,* 68, 2014, p 698-711.
9. Valeria Jana Schwanitz, Franziska Piontek, Christoph Bertram, Gunnar Luderer, *Energy Policy,* 67, 2014,p 882-894.
10. Md. Mizanur Rahman, Suraiya B. Mostafiz, Jukka V. Paatero, Risto Lahdelma, *Renewable and Sustainable Energy Reviews,* 29, 2014, p 108-119.
11. C.A. Miller Reference Module, in *Earth Systems and Environmental Sciences, from Climate Vulnerability,* 3, 2013, 37-51.
12. Ranjan Parajuli, Poul Alberg Ostergaard, Tommy Dalgaard, Govind Raj Pokharel, Renewable Energy, 63, 2014, p 432-444.
13. Paul Breeze, *Chapter 1 - An Introduction to Electricity Generation Power Generation Technologies* (Second Edition), 2014, p 1-13.
14. Pablo del Río, Pedro Linares, *Renewable and Sustainable Energy Reviews,* 35, 2014, p 42-56.

卐

आई.क्यू.ए.सी. द्वारा आयोजित कार्यष्ठाला में डा. सरोज वर्मा, भीम राव अम्बेडकर विष्ठवविद्यालय, मुजफ्फरपुर एवं डा. ष्ठौलेन्द्र प्रताप सिंह, प्राचार्य डा. राजष्ठारण ष्ठाही डी.वी.एन.पी.जी. कालेज, गोरखपुर तथा अन्य प्राध्यापकगण

A Glimpse of Teacher Qualities

Dr. Satyendra Prasad Srivastav*

Introduction

Greatness in teaching is just as rare as greatness in art, dance, law, or any other profession. Although the qualities that make great teachers are not easy to inculcate or duplicate, understanding these qualities can give all teachers a standard of excellence to strive for, and guide schools in their efforts to recruit and retain the best teachers.

To that end, I offer the following observations about the key characteristics of great teachers. The list is certainly not exhaustive, and the characteristics do not appear in any particular order of importance. In my experience, the following qualities emerged as hallmarks of the best teaching.

Life Skills

A great teacher should have various life skills, such as, Self-Awareness, Empathy, Inner Personal Communication, Coping up with stress, Coping up with emotions, Creative Thinking, Critical Thinking, Decision making and Problem solving.

Time Punctuality

Most teachers belong to a teachers' association, union, or other organization that represents their interests. Typically, some formal document or agreement specifies how many minutes per day or hours per week they must teach; how much unstructured time they are entitled to; how many meetings they must attend; and the compensation they must receive for additional work beyond the usual load. Great teachers respect his agreement and acknowledge that it protects their rights, ensures academic freedom, and spells out good professional working conditions. But they don't hesitate to go beyond the contract voluntarily and often – for example, by meeting with a student study group during the teacher's preparation period or after school – in order to meet the needs of their students.

*Associate Professor, Deptt. of M.Ed., D.V.N.L.T. Training College, Civil Lines, Gorakhpur (U.P.)

Love for the Students they teach

A teacher, who had a successful 08-year career in elementary education, had a natural affinity for the early primary grades and grew increasingly uncomfortable with each grade above the 2nd. She read children's literature for younger students with gusto, happily attended workshops to master materials and methods to better teach primary Math and Science, and loved spending time with young children. But teaching above grade 4, she was a fish out of water.

Most teachers find joy in teaching because of their talent for relating to students in a particular age group. Unfortunately, too many school districts transfer teachers on the basis of seniority from one grade to another without recognizing the importance of fit. An important part of greatness is the match between the teacher's skills and interests and the age of his or her students. A great middle school English teacher might be an average 11th or 12th English teacher.

An Effective Classroom Management Style

Great teachers need to find their own ways to 'manage' a group of students. For instance, if a student were to interrupt the class inappropriately, Lee Canter's Assertive Discipline Approach (Canter & Canter, 2002) would suggest consequences for failure to follow known and reasonable rules; Alfie Kohn (1996) might suggest that the teacher ask himself or herself whether the content or methods of the lesson contributed to the problem. The most effective teachers draw from these well-known theories, but adapt them to their own personality.

Because great teachers develop their own classroom management style, their techniques vary. All, however, have at least the following common characteristics in their classrooms:

- Few behavior problems.
- A culture of respect that flows in every direction: teacher to students, students to teacher, students to students, and everyone to guests.
- Immediate – or at least timely – teacher actions that usually work.
- A clear, shared understanding of acceptable and appropriate behavior.

Positive Relationships with Other Adults

Too often, we underestimate the amount of time that teachers spend with other

adults in a school – other teachers, administrators, and parents. Great teachers work well with each of these groups.

They depend on other teachers as a constant source of information, enrichment, and sometimes solace. From study groups of faculty meetings to such rare moments as receiving an award or attending the funeral of a student, teachers need to support one another. Outstanding teachers quickly become identified as school leaders, whom other teachers admire and turn to for advice or collegial sharing.

The best teachers also find ways to work harmoniously with administrators and how they can support teachers. For example, the teacher may point out areas of the curriculum that need attention and coordinate or offer to serve on a committee to explore solutions to a problem.

Great teachers also place a priority on keeping parents informed about their children's progress, and they sensitively help parents understand their children's problems. These teachers understand that the lack of a strong partnership between teachers and families may undo many of their best efforts.

Consistent Excellence

Greatness in teaching requires consistently outstanding performance over the years. That does not mean that the teacher never has a bad day, or even a bad week. In fact, most great teachers have had a difficult time. One of the finest Hindi language teachers I knew had a tough year adjusting to a new school, and a somewhat spotty year about four years later when serious family problems were weighing heavily on him. Over the five years that I supervised him, however, he had three great years and two good years during which he showed remarkable resilience and fortitude.

The best teachers get divorced, become ill, have problems with their own children, need to attend to aging parents, and have other personal issues in the same proportion as other professionals. They also have both mild and serious professional disagreements about new curriculums, teaching methods, assessment techniques, and materials. But great teachers have the good judgment required to balance these problems in a way that minimizes fluctuations in classroom performance.

Some teachers are able to compartmentalize personal and other issues; others require a short period of time off to handle vexing problems. The best teachers consistently

find ways to integrate new methods in an ever-changing profession into their successful practices. Dedication to their work, flexibility, and the willingness to grow are common to great teachers in the face of difficulty and change.

Efficiency in Using Instructional Methods

Great teachers use a variety of instructional methods that they feel comfortable with; within the same school, you'll find different teachers getting excellent results using such methods as mini-lectures and interactive lectures, problem-based learning, cooperative groups, and multiple intelligences approaches. No single teaching method or approach works best for every teacher with every student.

We know, however, that action research and experience strongly support some instructional approaches over others. The best teachers select from the methods that are well researched and widely practiced at their grade level or within their subject area, and become expert in several that fit their style and the needs of their students at that time.

Well Content Knowledge

Both progressive and conservative educators speak about the importance of content. Educators emphasize the importance of knowing the subject you teach. Everyone agrees that great teachers possess a solid command of content, whether their expertise lies in knowledge of reading in the early elementary grades or a serious command of Biology or Mathematics at the High School level.

Because of the close connection between preparation time and content, the best teachers often spend as much time preparing for a class as they do teaching it. Setting up a lab experiment for sixth graders, reading a short story three times in order to formulate good questions for discussion, or working through five Math problems and anticipating questions and obstacles takes time and deepens the great teacher's mastery of content.

Capacity for Professional Development

Continuous Professional Development is needed to remain professionally alive. In present globalised world wherein knowledge is currency, professionals need to keep progressing in their field of work. Like any other profession, teaching undergoes constant change. The past 13 years have witnessed a marked increase in education research and the emergence of solid information about teaching and learning. Great teachers remain intellectually alive and open to responsible change grounded in theory, research, and practice.

Dozens of specific and well-researched techniques are available today to help all learners – particularly reluctant learners and those with disabilities. Now all of the following areas of education knowledge (and many others) have developed and become worth exploring: technology; character education; rubrics; closing and achievement gap; standards; cooperative learning; diversity; assessment and evaluation; multiple intelligences; reading instruction; curriculum reform; and bilingual education/structured language immersion.

The much-used phrase "lifelong learner" really does apply. Although any great teacher must judiciously decide what is worth pursuing and how to maintain high standards, only a dull teacher would ignore the potential of new methods for using technology, research on the most effective strategies for reading instruction, or current cooperative learning approaches.

Of course, content knowledge is an important area of growth. Great teachers are always learning more about Math for elementary students, Science for disabled students or Shakespeare for Advanced Placement students. In addition, outstanding teachers continually grow by taking college and in-service courses, reading professional literature, and engaging others in serious conversation about school issues. Often, the finest teachers serve on education committees or become teacher experts who lead study groups or professional development courses.

Teaching Personality

Some people, particularly people outside the profession, expect teachers to 'perform' in classrooms and to maintain a high energy level. Great teachers, however, are not necessarily performers. Instead, they hold student's attention through subject mastery, skillful lesson design, actions that demonstrate caring, and an honesty that reveals their individual personality. No one can sustain a performance for the length of time. The great teacher is steady, intelligent, concerned, interesting, and interested. The performers do not last long.

A Complex Act

No one can produce a complete and definitive list of the characteristics of great classroom teaching, but I hope that this list provides a starting place. Knowing the qualities of greatness can help teachers strive for the highest standards and help education professors, teachers, and administrators jointly craft pre-service training or in-service programs that build on these qualities.

Teaching is a complex act. A teacher makes more than 1,000 nontrivial decisions every

day. No list can capture the extraordinary subtlety involved in making instant decisions about which student to call on, how to frame an important question, or how to respond to an interruption.

Watching a great teacher at the top of his/her form is like watching a great surgical or artistic performance. Although infinitely difficult and painstakingly planned, great teaching appears effortless and seamless. One can easily believe that it is the simplest thing in the world – until one tries to do it.

References:

- Canter, L., & Canter. M.(2002). *Assertive discipline: Positive behavior management for today's classroom* (3rd ed.). Los Angeles: Lee Canter & Associates, p.18
- Crosby, P.B. (1979). Quality is Free: Art of Making Quality Certain, New York: Mc Graw Hill
- Danielson, C. (1996). *Enhancing professional practice: A framework for teaching*. Alexandria, VA: Association for Supervision and Curriculum Development.
- Frazier, A. (1997). *Roadmap for Quality Control Transformation in Education*, Florida: St. Lucie Press.
- Goel, D.R. et. al(2008). *Abstracts of Research Studies Conducted by Teacher Education Institutions,* Vol. I & II.
- Goel, Chhaya & Devraj Goel(2014). *Evolving a Taxonomy of Educational Skills*. University News, 52(48), Dec.01-07, pp. 30-43.
- Kohn, A. (1996). *Beyond discipline: From compliance to community*, Alexandria, VA: Association for Supervision and Curriculum Development.
- Myron, Lieberman (1953). *Education as a Profession*, Englewood Cliffs, N.J: Prentice-Hall, Inc.
- Rimer, S. (1999, July 31). *Teaching as a torrent of bubbling information*. New York Times, p.6.
- Sallis, E. (2002). *Total Quality Management in Education*, London: Routledge.
- Sharma, Amit (2007). *Educational Development and Human Resource Qualifications in Indian Job Market*, Business Perspectives, 2, Jan-June.

卐

विलियम ष्ठेक्सपियर के नाटक मेकबेथ के कुछ अंष्ठों का हिन्दी ब्लैंकवर्स में भावानुवाद

रोहिताष्ठव श्रीवास्तव*

(गतांक से आगे)

Scene III, Lines 36 onwards:

(So foul and fair a day, I have not seen.....)

मेकबेथ– ऐसा ष्ठुभ और अष्ठुभ दिवस मैंने नहीं देखा!

बेंको– कितना दूर और होगा फॉर्रेस यहाँ से? अरे! कौन जीवधारी हैं ये?
हैं वीभत्स[1] ये, चेहरे सूखे, आभाहीन, पीत[2], ष्ठाव जैसे,
(धँसे नेत्र, औ धँसे गाल हैं, नरकंकाली मुखमण्डल है)
भद्दे–बेढंगे वस्त्रों[3] में ऐसी दीखतीं
जैसे प्राणी[4] नहीं हों वे इस भूमि, जगत की,
किन्तु विचरतीं, और खड़ी हैं इस धरती पर!
"क्या तुम सब जीवित प्राणी हो, या कि और कुछ,
जिससे मानव पूछ सके कुछ, बात कर सके?
लगता है तुम समझ रही हो, मेरी वाणी;
क्योंकर तब चेहरे पीले हैं, और होठ क्यूँ जर्द[5] तुम्हारे,
होठों पर कंकाली[6] उंगली, क्या संकेत है चुप रहने का?
तुम सब औरत सी दिखती हो, पर तब ठुड्डी पर दाढ़ी क्यूँ?
जिससे यह सन्देह हो रहा, तुम सब क्या सच में औरत हो?"

*प्रवक्ता(अवकाष्ठा प्राप्त), अंग्रेजी, महात्मा गाँधी इण्टर कॉलेज, गोरखपुर

मेकबेथ– बोलो कुछ, यदि बोल सको तो, तुम सब यह कैसी प्राणी हो,
प्रथम विच– करो सभी स्वागत मेकबेथ का! स्वागत है, हे थेन ग्लेमिस के,
द्वितीय विच– करो सभी स्वागत[7] मेकबेथ का! स्वागत है, हे थेन काडर के!
तृतीय विच– स्वागत करो सभी, मेकबेथ का! स्वागत! मेकबेथ, तुम नृप होगे!
बेंको– मेकबेथ! तुम क्यूँ सहमे दिखते[8], और चौंकते इन कथनों पर
जो भविष्यवाणी शुभ की हैं?
(हे वीभत्स, कंकाली जीवों)
मैं ललकार रहा हूँ तुमको सत्य नाम पर,
क्या तुम सब कल्पना–जीव[9] हो, या सच में हो वह जो दिखतीं?
तुमने स्वागत[10] किया मित्र का, उस पद[11] से जिस पर वह खुद है
और भविष्यवाणी[12] कर डाली काडर–थेन की, और नृपत्व की,
जिस सब की कल्पना जगत में वह खोया है[13],
पर मेरे बारे में क्यों कुछ नहीं बोलती?
यदि समर्थ हो तुम भविष्य[14] के पृष्ठ पढ़ सको[15],
और कह सको कौन बीज कैसा पनपेगा[16],
तो कुछ बोलो, भाग्य में मेरे क्या लिखा है,
मैं वह, जो है दास नहीं तब कृपा[17]–कोप[18] का,
और न ही भय खाकर तुमसे भीख माँगता।
सभी तीनों विचें– स्वागत करें तुम्हारा भी हम!
प्रथम विच– मेकबेथ से कम[19] भाग्य हमारा, पर मेकबेथ से बढ़कर[20] होगा!
द्वितीय विच– नहीं सुखी उस सा न थे तुम अधिक सुखी उससे, तुम होगे!
तृतीय विच– जनक बनोगे कई नृपों के, यद्यपि तुम खुद नृप न बनोगे,
अतः हम सभी स्वागत करतीं, मेकबेथ का भी, बेंको का भी।

मेकबेथ– ठहरो[21], हे संदिग्ध[22] प्राणियों, आगे बोलो,
पितृमृत्यु के बाद से हूँ मैं थेन ग्लेमिस का,
पर तुम कहतीं कॉडर का भी थेन बनूँगा?
सम्भव यह सब कैसे, जबकि वह जीवित है।
और, देश का राजा बनना? घोर असम्भव[23],
क्या आधार कि जिस पर मैं विश्वास कर सकूँ,
मैं 'काडर' हूँ, औ 'काडर' ही रहना सम्भव।
रुको, और ठहरो कुछ क्षण को,
लगता तुम्हें ज्ञान कुछ अद्भुत[24]
जिससे तुम भविष्य को जानो;
और, अन्यथा इस निचाट[25] पर, और असमय[26] पर,
(इस निर्जन स्थान पर, औ इस अन्धकार में)
राह रोक हम सब की तुम क्यूँ यहाँ खड़ी हो?
रुको, कहो कुछ, मैं तुमको आज्ञा[27] देता हूँ।
(चुड़ैलें अन्तर्धान[28] हो जाती हैं।)

बेंको– जल में जैसे उठें बुलबुले, पृथ्वी पर भी उठते वैसे,
क्षणभंगुर[29] ये भी वैसी हैं, देखो, कैसे लुप्त हो गयीं[30]!

मेकबेथ– लुप्त हो गयीं कहीं वायु में, वे
जो पहले दिखती थीं, तनधारी[31] जैसी,
अन्तर्धान हो गयीं वे अब किसी पवन में,
काश!![32] कि वे कुछ समय और रुकतीं, कुछ कहतीं!

(*LL. 121 - 127, That trusted time.....In deep consequences*)

बेंको– यदि तुमको विश्वास भविष्यवाणी पर उनके,

तब तो तुम 'ग्लेमिस' से 'काडर' बने, देख लो,
और आगे क्षत्रप[33] बनने के सपने देखो;
पर, ये अद्‌भुत और असत्य प्राणी होती हैं,
हमें लाभ का लालच देतीं[34], फिर ठगती हैं[35],
और उत्प्रेरित[36] कर, हमसे हर पाप करातीं।
हैं वे अशुभ[37], प्रेत-आत्माएँ, अन्धकार में विचरण करतीं[38],
और सत्य-आभास[39] कराकर, हमें पाप को प्रेरित करतीं,
और, अन्त में छलकर[40] हमको, दु:खद अन्त[41] में हैं धकेलतीं,
अत: भरोसेमन्द नहीं वे।

(*LL. 128 - 143, Two truths are told.....But what is not.*)

मेकबेथ(असाइड)-दो भविष्यवाणियाँ[42] सच निकलीं
जो विश्वास दिलातीं[43] उस सर्वोच्च सत्य[44] का,
जिसका है आभास कि मैं नृप बन सकता हूँ।
ये लुभावने कथन[45] जो हैं दैवी जीवों[46] के,
न तो पूर्ण शुभ[47], न ही पूर्ण अशुभ[48] हो सकते हैं।
यदि ये होते अशुभ कथन, तो
सत्य सिद्ध क्यूँ हुए तुरत ही प्रथम रूप में,
था मैं थेन केवल ग्लेमिस का,
पर अब 'काडर' का भी क्यूँ हूँ?
और, कथन उनके यदि शुभ हैं,
तो मैं इतना पतित[49] क्यूँ बनूँ
कि सिंहासन के निमित्त मैं, निज नृप की हत्या कर बैठूँ,
मात्र कल्पना[50] जिसकी, मेरे तन-मन को सिहरा देती है[51]?

कर देती है खड़े रोंगटे[52], और हृदय-धड़कन द्रुत करती[53],
भय से तन कम्पित कर देती?
वर्तमान का भय[54], उतना है नहीं[55] भयानक,
जितना भयकारी है भय[56], कल्पना जगत का।
नष्ट-हत्या की सोच, जो केवल एक कल्पना[57],
इतना विचलित, ष्ठाक्तिहीन[58] कर देती मुझको
कि मेरा पुरुषत्व[59] काँपने सा लगता है[60],
और, असत्य सी लगतीं चीजें आस-पास की[61]।

बेंको- वह देखो, खो गया[62] मित्र, कल्पना जगत में

मेकबेथ(असाइड)- अगर भाग्य[63] में लिखा है[64] मेरे नष्ट बनने को,
तो मैं बन सकता हूँ नष्ट, कुछ किये बिना भी[65]।

\+ + + + + +

मेकबेथ(असाइड)- अब चाहे जो हो, वह होवे[66],
(मेरा दोष नहीं कुछ इसमें),
अब जो समय[67], या कि अवसर आने वाले हैं,
कुछ घटनाएँ कठिन, परिस्थितिजन्य घटेंगी[68]।

Scene VII - ("If it were done.....To our own lips.")

मेकबेथ का प्रासाद

मेकबेथ (स्वत: चिन्तन)[69]-यदि प्रतिघात नहीं सम्भावित डंकन की हत्या में कोई,
तो यह जितना ष्ठीघ्र हो सके, वह उत्तम है।
यदि हत्या[70] से सभी लक्ष्य पूरे होते हैं
और उसके परिणाम न होते हैं भयकारी,
और निधन के बाद नष्टति के,

साध्य सिद्ध हो जाते हैं सब,
और सभी का आदि-अन्त मेरे प्रति होवे,
तो मैं इस जोखिम के बदले,
हर वह दण्ड झेल सकता हूँ
जो कि नियति मुझको देती है
मृत्यु[71] बाद अगले जीवन में।
पर ऐसी[72] हत्याओं का परिणाम या कि दण्ड जो भी होता,
उसे भोगना पड़ता है इस ही जीवन में, इस धरती पर;
क्योंकि ये हत्याएँ बनती हैं मिसाल औरों की खातिर[73],
और लौट कर हत्या-फल हत्या देती है।[74]
दैव न्याय[75] ऐसे में कुछ ऐसा करता है,
जो विष-प्याला[76] हम करते तैयार दूसरों की खातिर हैं,
हमें भी पीना पड़ता है विष उसके बदले;
(यदि हम कूप खोदते हैं औरों को गिराने की मंशा से,
नियति खोदती है खाई, कि, हम भी गिरें किसी दिन उसमें।)
(अतः मेरा मन ऐसी हत्या से डरता है,
कारण जिसके हैं स्पष्ट दिखाई देते।)
डंकन का आगमन यहाँ उनको दुहरा विश्वास दिलाता[77],
प्रथम, कि मैं नृप का सम्बन्धी[78], और प्रजा[79] भी,
दोनों ही दायित्व मुझे बन्धित[80] करते हैं
मुझे बचाना चाहिए नृप को हर अनिष्ट से।
और, दूसरे, वे हैं मेरे अतिथि, मैं उनका आतिथेय[81] हूँ;
बन्द मुझे कर देना चाहिए द्वार सभी, जो

हत्या को प्रवेष्टा देता है, या कि मेरी इस कष्टाण को।[82]
इसके भी अतिरिक्त, कि डंकन भले व्यक्ति हैं,[83]
जिसका ष्टासन ष्टान्ति, न्याय, सहृदयता का है;
सद्गुण उनके, देवदूत बन, घूम-घूम कर
नक्कारों[84] की ध्वनि पर यह ऐलान[85] करेंगे
कि डंकन की हत्या का कुकष्टय हुआ है।[86]
स्वयं दया[87] उस नष्ट के हक में, इक नवजात ष्टिाष्टु बनकर[88]
औ' सवार हो तूफानों[89] पर देष्टा-देष्टा में भ्रमण करेगी;
और स्वर्ग के देवदूत[90] सब रुँधे कण्ठ से,
बन कर प्राणी अदष्टय[91], पवन में उड़कर
देष्टा-देष्टा डंकन-हत्या का प्रचार करेंगे,[92]
लोगों के नेत्रों से अश्रु की धार बहेगी।
अत: नहीं है कारण कोई[93] डंकन की हत्या करने का,
पर नष्ट बनने की आकांक्षा,[94] दष्ट मेरे अन्धा कर देती,
(औ' इच्छाएँ घुड़सवार बन, मन के घोड़े हाँक रही हैं,
और थपेड़े देकर मुझको, राज-लोभ को आँक रही हैं।)

References:

1. ghostly
2. withered, dry and pale drew
3. wild attire
4. inhabitants
5. dry, skiinny
6. choppy, thin and fleshless
7. hail
8. start tremble
9. fantastical, imaginery beings
10. greeted
11. honour
12. prediction
13. raft withal
14. seeds of time
15. look into
16. grow
17. favours
18. hate
19. lesser
20. greater
21. stay
22. imperfect speakers
23. stands not within the prospect of belief
24. you owe some strange intelligence
25. destroyed place

26. odd time
27. charge you
28. vanish, disappear
29. unsubstantial
30. vanished
31. corporal, physical
32. would
33. king, crown
34. win us
35. do harm, betroy
36. entice
37. evil creature
38. instruments of darkness
39. honest trifles
40. betroy, cheat
41. deepest consequence
42. truths
43. happy prologue
44. swelling act (kingship)
45. solicitings, inticement
46. the supernatural
47. good
48. ill
49. tempted by evil
50. horrid images
51. frighten me
52. unfix my hair
53. make my seated heart knock at my ribs
54. present fears
55. are less than
56. horrible imaginings
57. fantastical, mere fancy
58. shakes, unnerves me
59. single state of man, all my energy
60. smothered in surmise, getting paralysed
61. ill that exists
62. rapt, lost in
63. chance
64. will have
65. without my stir or effort
66. come what come may
67. time and hour (occasion)
68. will run through the roughest day.
69. soliloquy
70. assassination
71. we'ld jump the life to come
72. but in these cases
73. we but teach bloody instructions
74. return to plaque the inventor
75. heaven-handed justice
76. poison'd chalice
77. double trust
78. kinsman
79. subject
80. strong
81. host
82. nor bear the knife myself
83. hath borne his faculties so meek
84. trumpet-tongued
85. plead
86. the deep domination of his taking off
87. pity
88. like a naked new-born baby
89. striding the blast
90. heaven's cherubins
91. sightless couriers of the air
92. shall blow the horrid deed
93. have no spur
94. waiting ambition

卐

पुनर्पाठ

हिन्दू और मुसलमान की एकता का प्रष्ठन*

(स्व.) ष्ठारतचन्द्र चट्टोपाध्याय

सन् 1857 से इसी गम्भीर समस्या पर मन्थन चलता रहा। समाधान के प्रयत्न एकपक्षीय रहे। पर आज तक अन्तिम समाधान नहीं निकला। बंगला ही नहीं, भारत के प्रसिद्ध साहित्यकार का चिन्तन आज अधिक प्रासंगिक हो गया है। अत: यह पुन: पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है - सम्पादक

यदि कोई बात बहुत से लोग मिलकर बड़ी उछल-कूद के साथ एकस्वर से कहते हैं, तो उनके कहनेमात्र से वह सत्य नहीं हो जाती। तथापि ऐसे सामूहिक ऊँचे कण्ठ स्वर में एक सामर्थ्य होती है, उसके प्रति मोह भी कम नहीं होता। वातावरण गूँजता रहता है और उसकी भाप से आच्छन्न आकाष्ठा के नीचे कानों में जो कुछ निरन्तर प्रवेष्ठा करता है, व्यक्ति अभिभूत होकर उसे सत्य मानकर विष्ठवास करने लगता है। 'प्रोपेगण्डा' इसी को कहते हैं। पिछले महायुद्ध के समय केवल कलम और अनेक कण्ठों की सामूहिक चिल्लाहट के फलस्वरूप ही दोनों पक्षों के लोगों ने इस असत्य को ही सत्य मान लिया था कि परस्पर का गला काटना ही मानो मनुष्य का धर्म एवं कर्तव्य है। जिन एक-दो व्यक्तियों ने इसका विरोध करने का प्रयास किया, सत्य कहने की चेष्टा की, उन्हें लांछित और प्रताड़ित करने में कोई कसर नहीं रखी गयी।

किन्तु अब वे दिन बीत चुके। आज अपरिसीम वेदना एवं दु:ख सहने के पष्ठचात् लोगों को समझ में आया है कि उस समय अनेक लोगों की अनेक प्रकार की बातों में सत्य नहीं था।

कुछ वर्षों पूर्व महात्माजी के अहिंसा असहयोग के युग में इस देष्ठा के बहुत-से नेताओं ने सामूहिक रूप से तारस्वर में ऐसी ही एक घोषणा की थी कि हिन्दू-मुस्लिम एकता होनी चाहिए। ऐसा क्यों कहा गया? केवल इसलिए नहीं कि वह अच्छी बात है, बल्कि इसलिए कि उनके बिना स्वराज्य या स्वाधीनता की कल्पना भी पागलपन है। यदि तब कोई पूछता कि यह क्यों पागलपन है, तब नेतागण उसका क्या उत्तर देते, यह तो वे ही जानें। भाषणों एवं घोषणाओं के प्रचार से यह बात इतनी विष्ठालकाय और स्वत: सिद्ध सत्य बन गयी कि पागल के सिवा इतना बड़ा पागलपन करने का दुस्साहस किसी में नहीं रहा।

---

*सन् 1933 में प्रथम बार प्रकाष्ठित यह निबन्ध 'ष्ठारत रचनावली' (पष्ट सं. 472-476) से लिया गया है।

एकता की आतिष्ठाबाजी- इसके पष्ठचात् इस एकतारूपी आतिष्ठाबाजी की खूबसूरती का प्रबन्ध करने में हिन्दुओं की जान निकलने लगी। समय एवं ष्ठाक्ति का कितना अपव्यय हुआ, इसका तो कोई हिसाब ही नहीं है। इसके फलस्वरूप ही महात्माजी का ख़िलाफत आन्दोलन और देष्ठाबन्ध ु पैक्ट हुए। तथापि भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में इन जैसी दो नकली बातें बहुत कम देखने को मिलेंगी। पैक्ट का तो थोड़ा बहुत अर्थ समझ में आ सकता है, क्योंकि चाहे उससे लाभ हो या हानि हो, अवसर मिलने पर समझौता करके काउंसिल में बंगाल सरकार को पराजित करने का उसका उद्देष्ठय था। परन्तु ख़िलाफत आन्दोलन तो हिन्दुओं की दष्टि से केवल अर्थहीन ही नहीं, बल्कि असत्य था। किसी असत्य बात का अवलम्बन कर विजय प्राप्त करना सम्भव नहीं होता और ख़िलाफत-जैसा मिथ्या का भारी-भरकम पत्थर गले में बाँधने के कारण ही इतना बड़ा असहयोग-आन्दोलन अन्ततोगत्वा रसातल में चला गया। भारतवासियों द्वारा स्वराज्य की, विदेष्ठी-ष्ठासनपाष्ठा से मुक्ति की माँग के विरुद्ध अंग्रेज ष्ठायद कोई तर्क गढ़ सकते हैं, परन्तु विष्ठव-दरबार में वह टिकने वाला नहीं था। यह जन्मगत अधिकार प्राप्त हो, चाहे न हो, पर उसके लिए संघर्ष करने में पुण्य है, मष्ठयु हुई तो अन्ततोगत्वा स्वर्ग प्राप्ति निष्ठिचत है। विष्ठव में ऐसा कोई नहीं होगा, जो इस सत्य को अस्वीकार कर सके। किन्तु ख़िलाफत चाहिए, यह कैसी बात है? जिस देष्ठा के साथ भारत का सम्पर्क नहीं, जिस देष्ठा के लोगों के खान-पान, वेष्ठाभूषा, चेहरे की हमें बिल्कुल जानकारी नहीं है, वह देष्ठा पहले तुर्की के अधीन था, अब यद्यपि तुर्की लड़ाई में हार गया, तथापि वहाँ सुलतान को वापिस लौटाया जाये, क्योंकि पराधीन भारतीय मुसलमान समाज की यह ज़िद है। यह कोई युक्तिसंगत आवेदन है?

सच तो यह है कि यह भी एक पैक्ट है, घूस देने जैसा है। क्योंकि हम स्वराज्य चाहते हैं और तुम ख़िलाफत चाहते हो, इसलिए आओ, हम एक हो जायें और ख़िलाफत के वास्ते माथापच्ची करें और तुम लोग स्वराज्य के लिए खम ठोककर अभिनय करो। किन्तु अंग्रेज सरकार ने इस ओर ध्यान नहीं दिया और दूसरी ओर जिसके लिए ख़िलाफत आन्दोलन नितान्त असार और अर्थहीन हो गया तब अपनी ही ष्ठून्यगर्भता में उसकी मष्ठयु तो हुई ही, भारत के स्वराज्य-आन्दोलन का भी यह प्राणनाष्ठा कर गया। वास्तव में क्या इस प्रकार घूस देकर, प्रलोभन देकर, पीठ थपथपाकर स्वदेष्ठा के लिए मुक्ति-संग्राम में लोग जुटाये जाते हैं या यदि जुटाये गये तो भी क्या विजय मिलती? नहीं मिलती और मैं नहीं समझता कि कभी मिलेगी।

महात्मा गाँधी का अनुभव- इस विषय में सबसे अधिक परिश्रम किया था स्वयं महात्माजी ने। इस विषय में उनके जैसी आष्ठाा भी किसी ने नहीं की थी, तथा उनके जैसी वंचना भी किसी को नहीं हुई। उस समय बड़े-बड़े मुस्लिम पण्डाओं में से कोई आँख, तो कोई कान, तो कोई कुछ और बना। किन्तु हाय! इतना बड़ा मजाक क्या कहीं और हुआ होगा? अन्त में उन्होंने दिल्ली में

इक्कीस दिन की अवधि का उपवासकर हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए अन्तिम प्रयास किया। वे धर्मप्राण एवं सरल हृदय साधु पुरुष थे। सम्भवत: उन्होंने सोचा हो कि इतनी यंत्रणा देखने के बाद भी क्या वे लोग रहम नहीं खायेंगे। उस बार किसी प्रकार उनके प्राण बच गये। भाई से भी अधिक सगे प्रिय मो. अली सबसे अधिक विचलित हुए। उनकी आँखों के सामने ही सब कुछ घटित हुआ था। आँसू बहाते हुए उन्होंने कहा, "ओहो! कितने भले आदमी हैं यह महात्माजी! इनका सचमुच उपकार कुछ करना ही पड़ेगा। इसलिए पहिले मक्का जाकर पीर की मनौती मनाऊँगा और वहाँ से लौटकर कलमा पढ़वाकर काफिर-धर्म छुड़वाकर ही दम लूँगा।"

सुनकर महात्माजी ने कहा, "पृथ्वी मुझे अपने में समा ले।"

वास्तव में यदि मुसलमान कभी कहे कि वह हिन्दुओं के साथ एकता करना चाहता है, तब वह छल-कपट के सिवाय और क्या होगा? यह सोचा भी नहीं जा सकता है।

एक दिन मुसलमानों ने भारत में लूट-पाट करने के लिए ही प्रवेश किया था, राज्य प्रस्थापित करने के लिए नहीं आये थे। उस दिन वे केवल लूट-पाट करके सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने मन्दिर नष्ट किया, मूर्तियाँ तोड़ीं, नारियों पर बलात्कार किये। वस्तुत: दूसरों के धर्म और मानवता पर जितना भी आघात-अत्याचार किया जा सकता है और जितना भी अपमान किया जा सकता था, वह सब करने में वे बिल्कुल नहीं हिचके।

देश का राजा बनने के बाद भी वे उस जघन्य प्रवृत्ति से मुक्त नहीं हुए। औरंगजेब आदि प्रसिद्ध बादशाहों की बात हम छोड़ दें, उदारता के लिए प्रसिद्ध अकबर बादशाह ने भी तो कसर नहीं रखी। आज ऐसा लगता है कि यह संस्कार उनके खून में है।

शाब्दिक बुलबुले- एकता समान लोगों में होती है। शिक्षा-स्तर समान करने की आशा कोई और करे, मैं तो नहीं करता। हजार वर्षों से यह नहीं हो सका और वह आगे भी हजार वर्षों में नहीं होगा और इसी को मूलधन बनाकर यदि अंग्रेजों को भागना है तो उसे अभी रहने दिया जाये। लोगों के करने योग्य और भी काम हैं। ख़िलाफत आन्दोलन करके या पैक्ट करके या बाएँ-दाएँ हाथों से मुसलमानों की पूँछ खुजलाकर उन्हें स्वराज्य-आन्दोलन में सम्मिलित किया जा सकेगा, ऐसी दुराशा दो-एक लोगों के मन में शायद रही होगी। परन्तु अधिकांश लोग मन-ही-मन उसके बारे में आशंकित थे। हिन्दू-मुस्लिम एकता एक शब्दाडम्बर है। हर युग में ऐसे अनेक थोथे वचन सामने आये, किन्तु ये शाब्दिक बुलबुले गाल बजाने के अतिरिक्त किसी काम नहीं आये। यह मोह हमलोगों को छोड़ना ही पड़ेगा। आज बंगाल के मुसलमानों को यह कहकर, कि सात पीढ़ियों के पूर्व तुम्हारे पूर्वज हिन्दू थे, इसलिए तुम्हारा-हमारा खून एक है, अपनी ही जाति की हत्या करना महापाप है, इसलिए हम पर रहम करो, लज्जित करने का प्रयास निरर्थक है। इस प्रकार की दया

की भीख माँगने एवं एकता का प्रयास करने जैसी अत्यन्त अक्षोभनीय बात तो मैंने कोई और नहीं देखी।

आखिर समस्या क्या है?- इसलिए हिन्दुओं की समस्या यह नहीं है कि किस प्रकार यह अस्वाभाविक एकता होगी? हिन्दुओं की समस्या यह है कि वे स्वयं कैसे संगठित होंगे और हिन्दू धर्मावलम्बी किसी भी व्यक्ति को नीच जाति कहकर अपमानित करने की उनकी दुर्बुद्धि कैसे और कब दूर होगी? सबसे बड़ी समस्या तो यह है कि हिन्दू के अन्त:करण का सत्य किस प्रकार उसके प्रतिदिन के प्रत्यक्ष आचरण में पुष्प के समान विकसित होने का अवसर प्राप्त करेगा। हम जो सोचते हैं वह कहते नहीं, जो कहते हैं वह करते नहीं, जो करते हैं वह स्वीकार नहीं करते। आत्मा की इतनी बड़ी दुर्गति अव्याहत चलने से समाज-ष्ठारीर के असंख्य रन्ध्र स्वयं भगवान् भी आकर बन्द नहीं कर सकेंगे।

यही समस्या है और यही कर्तव्य है। यह कहकर कि हिन्दू-मुस्लिम एकता नहीं हो सकी, छाती पीटकर रोते-धोते रहना उचित नहीं। हम लोग रोना-धोना बन्द कर दें, तो ही दूसरे पक्ष से रोने के लिए लोग मिलेंगे।

हिन्दुस्थान हिन्दुओं का देष्ठा है। इसलिए इस देष्ठा को दासता की शृंष्ठाला से मुक्त करने का दायित्व अकेले हिन्दुओं पर ही है। मुसलमानों का मुँह अरब और तुर्किस्तान की ओर है। उनका इस देष्ठा से लगाव नहीं है। जो नहीं है उसके लिए दु:ख करना भी लाभदायक नहीं। उनके बन्द कानों में भारत की जलवायु और माटी की दुहाई देने से क्या होगा? आज यही एक बात समझने की आवष्ठयकता है कि यह काम केवल हिन्दुओं का है, अन्य किसी का नहीं। मुसलमानों की संख्या गिनकर विचलित होने का भी कोई कारण नहीं। संख्या ही संसार में चरम सत्य नहीं है। इससे भी बड़ा सत्य है जो एक, दो, तीन का हिसाब लगाकर सिर-गिनती का विचार नहीं करता।

कटु मगर सत्य- हिन्दू-मुसलमान के विषय में अब तक जो कुछ मैंने कहा है वह बहुतों को कटु लगेगा। किन्तु उसके लिए आष्ठचर्यचकित होने की आवष्ठयकता नहीं है, मुझे देष्ठाद्रोही समझने का भी कारण नहीं है। मेरे कहने का आष्ठाय यह नहीं है कि दोनों पड़ोसी जातियों में सद्भावना और प्रेम-बन्धन का निर्माण हुआ तो मुझे अच्छा नहीं लगेगा। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि यदि यह बात नहीं ही होती और इसके होने की कोई सम्भावना दिखायी नहीं देती, तो इसके लिए निरन्तर चीख-पुकार करते रहने से कोई लाभ नहीं होगा और यह नहीं हुआ तो सर्वनाष्ठा हो गया, ऐसा समझना भी निरर्थक है। लेकिन ऊपर से, नीचे से, दाहिने से, बाएँ से, चारों ओर से एक ही बात बार-बार सुनकर उसी को हम इतना सच मान बैठे हैं। हमारे लिए दुनिया में इसके अतिरिक्त भी अन्य कोई मार्ग है, यह हमलोग सोच नहीं पाते हैं।

इसलिए हम लोग क्या कर रहे हैं? तो, सब स्थानों से अत्याचार और अनाचार का विवरण संग्रहकर केवल यही कहते हैं कि तुमलोग हमलोगों को मारकर हमारे देवताओं की मूर्तियाँ तोड़कर, हमारे मन्दिर नष्टकर, हमारी स्त्रियों का अपहरण कर बहुत अन्याय कर रहे हो और इसके कारण हमलोग अत्यन्त व्यथित होकर हाय-हाय कर रहे हैं। यदि वह सब तुमलोग बन्द नहीं करोगे तो हमलोग जीवित नहीं बच सकेंगे। वास्तव में क्या हम इससे अधिक कुछ करते-बोलते हैं? हमलोगों ने असंदिग्ध रूप से निष्ठचय कर लिया है कि किसी भी तरह से एकता करने का दायित्व हम पर है और अत्याचार का निवारण करने का भार उन पर है। वास्तव में इसके ठीक विपरीत होना चाहिए। वस्तुत: उचित तो यह है कि अत्याचार बन्द करने का भार हमें स्वयं ग्रहण करना चाहिए तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता नाम की कोई वस्तु हो, तो उसे सम्पन्न करने का भार मुसलमानों पर सौंपना चाहिए।

सत्यासत्य का निर्णय- किन्तु देष्ठा की मुक्ति कैसे होगी? मैं पूछता हूँ कि मुक्ति क्या इस तरह की खिचड़ी पकाने से होगी? जब हिन्दू मुक्ति अर्जित करने के लिए कटिबद्ध होंगे तब यह देखने की भी आवष्ठयकता नहीं पड़ेगी कि मुट्ठीभर मुसलमान इसमें ष्ठामिल होते हैं या नहीं। भारत की मुक्ति में मुसलमानों की भी मुक्ति है, इस सत्य पर वे कभी भी विष्ठवास नहीं कर सकेंगे। विष्ठवास बैठेगा तभी जब तक उनकी धर्मान्धता कम न होगी, जब वे समझेंगे कि चाहे कोई मजहब हो, उसकी रूढ़ियों में ही गर्व करने के समान लज्जास्पद बात एवं इतनी बड़ी बर्बरता मनुष्य के लिए और कोई नहीं है। परन्तु उन्हें वह सब समझने में बहुत विलम्ब लगेगा। केवल मात्र भीड़ का आकार देखकर सत्यासत्य का निर्णय नहीं होता है, वह तो केवल यह देखकर होता है कि उनकी तपस्या में कितनी एकाग्रता है। इस एकाग्र तपस्या का दायित्व देष्ठा के सुपुत्रों पर है। दुनिया में ऐसी बहुत-सी चीजें हैं, जिनका त्याग करने से ही वे प्राप्त होती हैं। हिन्दू-मुस्लिम एकता भी वैसी ही चीज है। मुझे लगता है कि उसकी प्राप्ति की आष्ठा पूरी तरह छोड़कर कर्मक्षेत्र में कूद पड़ने से सम्भवत: एक दिन नितान्त दुष्प्राप्य निधि के दर्ष्ठान होंगे। क्योंकि तब एकता केवल मात्र एक के ही प्रयत्नों से नहीं होगी, बल्कि दोनों की पूर्ण आन्तरिक आकांक्षा के फलस्वरूप प्राप्त होगी।

卐

पुनर्पाठ

हिन्दू-मुस्लिम दंगों की समस्या

शंकर शरण*

रामनोहर लोहिया ने गाँधीजी की हत्या के सन्दर्भ में कहा था कि 'देश का विभाजन और गाँधीजी की हत्या एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इन्हें अलग-अलग करके विचार नहीं किया जा सकता।' उनके इस कथन की गम्भीरता सभी जानकार लोग समझते हैं। किन्तु फिर भी उन दो पहलुओं को कभी साथ-साथ नहीं देखा जाता, विचार करना तो दूर की बात है।

कहना चाहिए कि वही पलायनवादी रुख हिन्दू-मुस्लिम दंगों के सन्दर्भ में रहा है। भारत में आदि काल से विभिन्न समुदाय रहते हैं। ये समुदाय धर्म-विश्वास, सम्प्रदाय, जाति, भाषा आदि अनेकानेक आधारों पर हैं। इनमें से कइयों के बीच आपस में मनमुटाव, उदासीनता या कभी-कभी दुराव जैसा सम्बन्ध भी रहा है। फिर भी किसी समुदाय की किसी विशेष समुदाय के साथ दंगों की कोई परम्परा नहीं है। इसका एक मात्र अपवाद हिन्दू-मुस्लिम दंगे हैं, जिसका सदियों पुराना इतिहास यथावत् जारी है। जर्मन इतिहासकार डॉ. माइकेल मान ने दिल्ली और आस-पास क्षेत्र के इतिहास पर अध्ययन करते हुए पाया कि यहाँ के शासकों के लिए अठारहवीं शती में भी जब-तब हिन्दू-मुस्लिम दंगे एक समस्या रही है। अयोध्या में रामजन्म-भूमि वाले स्थान पर ढाई सौ साल पहले से दंगे होते रहे हैं, इसका उल्लेख अनेक सरकारी, गैर-सरकारी दस्तावेजों में मिलता है।

अत: यह एक गम्भीर प्रश्न बनता है कि बहुविध विभिन्नताओं के देश भारत में केवल एक विभिन्नता मुस्लिमों और हिन्दुओं की विभिन्नता-नियमित दंगों के रूप में भी व्यक्त होती है। वह भी देश के कई भागों में। सदियों से चल रही इस शोचनीय परिघटना पर हमारे देश (और विदेश भी) के सच्चे विद्वानों, विचारकों, राजनेताओं, शोधकर्ताओं, प्रशासकों ने अवश्य ही विचार किया होगा! बल्कि किया ही है। कई बार दंगों पर विभिन्न सरकारों द्वारा नियुक्त जाँच आयोग की विस्तृत रिपोर्टें और अनुशंसाएँ भी आयी हैं। तब वह हमारे सामने क्यों नहीं हैं। क्यों हमारे लेखक, पत्रकार, विद्यार्थी आदि किसी ऐसे दस्तावेज या पुस्तक का उल्लेख नहीं कर पाते। अखबारों के सम्पादकीय, टेलीविजन चैनलों पर चर्चाएँ, लेख आदि केवल चालू टीका-टिप्पणियों तक ही क्यों सीमित रह जाते हैं। यह खालीपन ध्यान देने लायक है।

---

*प्रोफेसर, समाज विज्ञान और मानविकी शिक्षण विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., श्री अरविन्द मार्ग, नयी दिल्ली 110 016

इसका सीधा कारण यह है कि हिन्दू-मुस्लिम दंगों के सम्बन्ध में बुनियादी सच्चाइयों पर विचार करने के बजाय उनसे बचने की कोशिश की जाती है। यह अपने-आप में एक बड़ी समस्या और दंगों को रोकने की स्थायी व्यवस्था करने में एक बाधा है। दंगों की समस्या को उसके सभी पहलुओं के साथ नयी पीढ़ियों, जिनसे नये प्रशासक, अध्यापक और नीति-निर्माता बनते हैं, के सामने कभी नहीं रखा जाता। बल्कि तत्सम्बन्धी विचारों-विश्लेषणों को छिपाने के साथ-साथ उलटे एक नकली और झूठी तस्वीर एवं इतिहास हमारे बच्चों, युवाओं को पढ़ाते-सिखाते रहने की घातक परम्परा चल रही है। परिणामतः अनेकानेक शिक्षक, कर्तव्यनिष्ठ प्रशासक, पत्रकार, मेधावी छात्र, नये राजनीतिकर्मी आदि लोग दंगों के बारे में बुनियादी-स्थायी सच्चाइयों से नितान्त अनजान रहते हैं। उससे भी बुरी बात कि झूठे पाठ, प्रचार के कारण वे गलत जानकारियों, पूवाग्रहों से भरे रहते हैं। इसलिए भी दंगों की पुनरावृत्ति रोकने का उपाय नहीं हो पाता। क्योंकि जिस बीमारी के लक्षण ही छिपाये जाएँ; उलटे बीमार को स्वस्थ बताया जाये, उस बीमारी से तो मुक्ति नहीं हो सकती।

हिन्दू-मुस्लिम दंगा हमारे समाज का वह घाव है, जिसे वह छिपाकर ही जीते रहने की आदत डाले रहा है। इसी का दुष्परिणाम है कि घाव जब-तब बलपूर्वक फूट पड़ता है। बल्कि सच तो यह है कि कुछ विशेष अवसरों पर इसे छिपाने की प्रतिक्रिया स्वरूप ही दंगे भड़क उठते हैं। जैसे गोधरा और गुजरात दंगा। 27 फरवरी, 2002 को हुए गोधरा काण्ड को दूसरे दिन से ही नकारने, बदलने, छिपाने के राजनीतिक-बौद्धिक प्रयास ने भी पीड़ित समुदाय के लोगों को बुरी तरह भड़का दिया। जिस तरह गुजराती लोग परम्परागत रूप से शान्तिपूर्ण लोग हैं, उससे यह कहने का ठोस आधार है कि यदि साबरमती एक्सप्रेस काण्ड करनेवालों की बिना अगर-मगर भर्त्सना और बड़ी कार्रवाई की बात होती तो सम्भवतः प्रतिक्रिया स्वरूप वे दंगे न हुए होते। किन्तु हमारे राजनीतिक-बौद्धिक वर्ग के एक प्रभावशाली हिस्से ने गोधरा पर फौरन लीपापोती करके जले पर ढेर सारा नमक छिड़क दिया। आज भी नरेन्द्र मोदी की निन्दा करने वालों को इस सच्चाई का सामना करना शेष है। वह छिपी सच्चाई कि गोधरा काण्ड करनेवाले उस दंगे के मूल दोषी हैं, और मीडिया व सिविल सोसाइटी के सुन्दर लोग भी, जिन्होंने एक दिन के अन्दर गोधरा-काण्ड को खुद पीड़ित समुदाय के माथे डालने का निर्लज्ज, पर भयंकर प्रतिक्रियाजनक कार्य किया।

दरअसल, हर दंगे में, और आम तौर पर दंगों के पूरे प्रसंग में, जो सवाल निरपवाद रूप से कहीं-न-कहीं सिर उठाता है, वह है- 'दोषी कौन?' यह सवाल इस पूरी बीमारी या समस्या का सबसे विकट, मगर एक जरूरी पहलू है। इतना विकट कि प्रायः यही इस बीमारी को छिपाने का मुख्य आधार हो जाता है! और इतना जरूरी कि इससे बचकर कभी दंगों को रोकने की कोई व्यवस्था या कल्पना सफल नहीं हो सकती।

प्रायः किसी भी हिन्दू-मुस्लिम दंगे की रिपोर्टिंग में भी इस छिपाव को पहचाना जा सकता

है। चाहें तो अभी हाल के ऐसे दो बड़े प्रसंगों में इसे आजमा लें। अगस्त 2013 में किश्तवाड़ (जम्मू) और सितम्बर 2013 में मुजफ्फरनगर (उत्तर प्रदेश्ा)। क्या सभी प्रमुख समाचार-पत्रों और टीवी चैनलों पर इनकी रिपोर्टिंग पूरी-पूरी अथवा किसी एक मानक के अनुसार हुई। पूरी-पूरी, अर्थात् घटनाओं का सम्पूर्ण यथावत् समाचार देना। एक मानक, अर्थात् दंगाई और पीड़ित हिन्दुओं व मुसलमानों के लिए एक जैसा रुख लेना। यदि नाम लेना हो, तो दोनों का लें। न लेना हो, तो किसी का न लें। यानी यथातथ्य या समरूप रिपोर्टिंग। न कि दंगाई या पीड़ित समुदाय का रूप देखकर रंग बदलते हुए रिपोर्ट या टिप्पणी करना।

उक्त दोनों प्रसंगों के समाचार कोई भी 10 अगस्त से 10 सितम्बर तक के अखबारों और पत्रिकाओं में देख-पढ़कर स्वयं जाँच सकता है। यदि दो-तीन अखबारों या पत्रिकाओं की रिपोर्टों को साथ-साथ देखें, तो वह छिपाव की बीमारी और बीमारी का छिपाव, फौरन दिख जायेगा। यदि किसी हिंसा/दंगे में 'क' समुदाय के लोग पीड़ित हुए हैं तो रिपोर्टों में उसकी पहचान नहीं बतायी जाती। फिर जल्द ही मामले को रफा-दफा मान लिया जाता है। दोषियों की खोज करने, दण्डित करने आदि की माँग, चर्चा आदि तो बात ही दूर रही। मगर यदि 'ख' समुदाय के लोग पीड़ित हुए, तो न केवल उसकी पहचान बतायी जाती है, बल्कि पीड़ितों की, उनके परिवारवालों की मार्मिक कहानियाँ, उनके चित्र, बयान, उनके दु:खी-पीड़ित होने की कारुणिक बातें आसमान तक बारम्बार उछाली जाती हैं। देष्ठा-विदेष्ठा के हर मंच का उपयोग कर विविध प्रकार के वास्तविक-काल्पनिक दोषियों को दण्डित करने की माँग की जाती है। यदि किश्तवाड़ दंगे पर कोई वैसी माँग नहीं हुई, तो कारण इण्डिया टुडे (16 अगस्त, 2013) की रपट पढ़कर समझ में आ जायेगा। उक्त दोहरेपन और छिपाव वृष्ठि की झलक भी, जिससे हमारा राजनीतिक-बौद्धिक वर्ग ग्रस्त है।

यह छिपाव की हिंसा कैसे आरम्भ हुई। किसने आरम्भ की? क्या वह नितान्त आकस्मिक थी, या किन्हीं लोगों की सोची-समझी योजना का परिणाम? कहाँ-कहाँ क्या-क्या हुआ? किन नेताओं और संगठनों ने क्या कहा और क्या किया? किनकी जानें गयीं, किनकी क्या हानि हुई? मीडिया की रिपोर्टिंग से लेकर नेताओं और बुद्धिजीवियों के बयानों और टीका-टिप्पणियों में वह दोहरी बीमारी साफ-साफ नजर आयेगी : छिपाव की बीमारी और बीमारी का छिपाव। साथ-ही-साथ, समाचारों का विकृष्टिकरण और समय बीतने के साथ दंगे की वास्तविकता का खुला मिथ्याकरण भी कि दरअसल ऐसा नहीं, वैसा हुआ था। इस विकृष्टिकरण और मिथ्याकरण का सबसे सामयिक और क्लासिक उदाहरण ग्यारह वर्ष पहले का गुजरात दंगा ही है, जिसका उल्लेख आज भी किसी-न-किसी के द्वारा प्राय: हर रोज होता है! मगर होता है उस दंगे के आरम्भ का मूल कारण, गोधरा में साबरमती एक्सप्रेस में हिन्दू-दहन, का उल्लेख किये बिना। उसी क्रम में किश्तवाड़ दंगा

दो सप्ताह बाद ही चर्चा क्या, उल्लेख से भी बाहर हो गया! इस पलायनवादी रुख से दंगों की पुनरावृत्ति कभी नहीं रुकेगी।

उसी तरह, आखिर क्या कारण है कि उत्तर प्रदेश में विगत एक साल में सौ दंगे होने के बाद भी वहाँ के शासक को इसके लिए किसी क्रोध, घृणा या संगठित निन्दा अभियान का सामना नहीं करना पड़ा है। जबकि गुजरात में ग्यारह वर्ष पहले हुए केवल एक दंगे के लिए वहाँ के शासक को आज भी हरेक घृणित, वीभत्स विशेषणों, लांछनों से रोज दुहराया जाता है। यदि लगे कि किसी दंगे की भीषणता या पीड़ितों की बड़ी संख्या आदि कारणों से किसी शासक के विरुद्ध ऐसा अभूतपूर्व निन्दा-अभियान चला और चल रहा है, तो 1984 के दिल्ली दंगे से तुलना कर लें। उस पर वैसा केन्द्रित अभियान तो दूर, किसी को मालूम भी नहीं कि तब दिल्ली का शासक कौन था! इसलिए, दंगों के सन्दर्भ में छिपाव और विकृतिकरण की बीमारी का कारण कुछ और है। उसी कारण में दंगों का कारण और निदान का सूत्र भी छिपा है।

वस्तुतः यह दोहरापन, छिपाव और विकृतिकरण दंगों की मानसिकता को खुराक ही देता है। जिन प्रभावशाली नेताओं, मीडिया मैनेजरों और चालू बौद्धिकों ने किश्तवाड़ दंगे के विवरणों को सामने नहीं आने दिया, न पीड़ितों की चित्र-कथाएँ सुनाईं, न सुनने दीं, वे अपने को 'जिम्मेदार' समझते हैं। पूछने पर बड़ी ठसक से कहते हैं कि सारी बातें बताने, दिखाने से 'माहौल बिगड़ेगा'। इसलिए अपनी ओर से कथित जिम्मेदारी निभाते हुए, वे दंगों के बारे में बनाव-छिपाव को प्रश्रय देते हैं। घाव को सामने लाने के बजाय छिपाकर उसे नासूर में बदलने देते हैं। जो समय के साथ पकता रहता है, और दोनों समुदायों में अलग-अलग रोष भरता जाता है। यही रोष पर्याप्त जमा हो जाने पर किसी नयी घटना से फट पड़ता है। पुनः दंगे भड़क उठते हैं। पुनः वह बनाव, छिपाव की 'जिम्मेदारी' निभायी जाती है। इस तरह यह अन्तहीन क्रिया चल रही है।

शारीरिक बीमारी की तरह किसी सामाजिक बीमारी को भी तब तक ठीक नहीं किया जा सकता, जब तक पहले उसके सभी लक्षणों, कारणों और सम्बन्धित विवरणों को डॉक्टरों के सामने रखा न जाये। उसके बाद ही उसका सही उपचार हो सकता है। किसी सामाजिक बीमारी के बारे में ऐसे डॉक्टर उस समाज के सबसे विचारशील, ज्ञानी और दूरदर्शी लोग ही होते हैं। हमारे समाज में भी ऐसे मनीषी रहे हैं। उदाहरण के लिए, महान् लेखक बंकिमचन्द्र, शरतचन्द्र; कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, निराला, अज्ञेय; दार्शनिक स्वामी विवेकानन्द, श्रीअरविन्द; विदुषी भगिनी निवेदिता, एनी बेसेंट; नेता लाला लाजपत राय, लोकमान्य तिलक, स्वामी श्रद्धानन्द, डॉ. भीमराव अम्बेडकर आदि का स्मरण किया जा सकता है। मुस्लिम नेताओं व विचारकों में मौलाना अब्दुल मौदूदी, सैयद अहमद खान, अल्ताफ हुसैन हाली, अल्लामा इकबाल, मौलाना शौकत अली व मुहम्मद अली, मौलाना हुसैन अहमद मदनी, मौलाना अकबर शाह खान, ख्वाजा हसन निजामी, फजलुल हक,

मुहम्मद अली जिन्ना तथा मौलाना अबुल कलाम आजाद के विचारों को भी साथ-ही-साथ देखा जाना चाहिए। उन सबके तुलनात्मक अवलोकनों के अध्ययन से भारत में हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों, तनावों और झगड़ों की सम्पूर्ण प्रकृति आप-से-आप समझ में आ जाती है।

उदाहरण के लिए, डॉ. अम्बेडकर की पुस्तक 'पाकिस्तान ऑर पार्टीशन ऑफ इण्डिया' (1940) इस समस्या को समझने के लिए एक बहुमूल्य दस्तावेज है। पुस्तक के द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना में डॉ. अम्बेडकर ने लिखा भी था, 'यह भारतीय इतिहास और भारतीय राजनीति के साम्प्रदायिक पहलुओं की एक विश्लेषणात्मक प्रस्तुति है।' इसमें तब विगत पचास वर्ष के हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों का प्रामाणिक विश्लेषण है। चूँकि डॉ. अम्बेडकर हिन्दू धर्म-समाज के कटु आलोचक थे, इसलिए उन पर किसी पक्षपात का आरोप लगाना भी सम्भव नहीं। न वह कभी लगा। उलटे जिन्ना जैसे प्रखर मुस्लिम नेता ने भी उसे पठनीय बताया था। उस पुस्तक में डॉ. अम्बेडकर ने सन् 1920 से 1940 तक के बीच यहाँ हुए अनगिनत दंगों का सविस्तार विश्लेषण किया है। पुस्तक के पूरे छह अध्याय, 7 से 12, इस बीमारी को समझने के लिए एक प्रामाणिक सामग्री है। यह केवल एक विचारक का उदाहरण है।

उसके आगे, सन् 1947 से लेकर अभी तक के दंगों पर उतने ही प्रखर और सत्यनिष्ठ विश्लेषण के लिए बेल्जियन विद्वान् डॉ. कोएनराड एल्स्ट की पुस्तक 'द सैफ्रन स्वस्तिका : द नोशन ऑफ 'हिन्दू फासिज्म', खण्ड 2 (नयी दिल्ली : वायस ऑफ इण्डिया, 2010), का सातवाँ अध्याय 'कम्युनल वायोलेंस एण्ड प्रोपेगण्डा' के कुल एक सौ ग्यारह पृष्ठ पढ़ लेना पर्याप्त है। हमारी समझ से इस अध्याय को हिन्दू-मुस्लिम शिक्षित वर्ग तथा सभी जिम्मेदार प्रशासकों, नीति-निर्माताओं के बीच प्रसारित करना दंगों की बीमारी रोकने में अत्यन्त मुफीद होगा। बल्कि बल्कि सभी पुलिस और प्रशासनिक अकादमियों में प्रशिक्षु अधिकारियों के लिए डॉ. अम्बेडकर की पुस्तक के उन अध्यायों और डॉ. एल्स्ट के इस अध्याय को अनिवार्य टेक्स्ट के रूप में पढ़ाया जाना चाहिए। इससे उन्हें भविष्यत दंगे रोक लेने का उपाय करना बिलकुल सरल हो जायेगा।

मगर हमारे 'जिम्मेदार' कर्णधारों ने उलटे ऐसे सभी सत्यनिष्ठ विश्लेषणों, विचारों, तजवीजों को भी छिपा देने का कार्य किया है। उसी झक में, कि वह सब छिपाना, छिपाए रखना ही ठीक है। नहीं तो माहौल बिगड़ेगा। जबकि, वास्तव में, ठीक इसी छिपाव से झूठी बातों, नारों और सिद्धान्तों को फैलाने का खुला मैदान मिलता है। नतीजन वही गलतियाँ दोहरायी जाती हैं जिससे हिन्दुओं और मुस्लिमों का आपसी मानसिक माहौल सदैव बिगड़ा रहता है। वह सन्देह और अफवाह का शिकार होने के लिए तैयार बैठा रहता है। हमारे नेताओं और बुद्धिजीवियों द्वारा सच्चाई न छिपाने और हरेक समुदाय के दोषियों या पीड़ितों के प्रति सदैव समान, समरूप बर्ताव करने से ऐसा न होता।

यह सार्वभौमिक सत्य है कि प्रायः हरेक समाज, समुदाय में अधिक संख्या भले और न्यायशील लोगों की होती है। मगर किसी अप्रिय परिघटना की पूरी सच्चाई सामने रखने से ही उन्हें वास्तविक गड़बड़ी पकड़ में आयेगी। सही दोषी की पहचान तभी होगी, चाहे वह जो भी हो। तब स्वस्थ जनमत बनने में भी स्वतः मदद मिलेगी। समझना चाहिए कि सच्चाई और अच्छाई का सीधा सम्बन्ध है। उसी तरह, मिथ्याचार और बुराई का भी। महान् रूसी लेखक सोल्झेनित्सिन ने तो सिद्धान्त में 'झूठ' का व्यवहार में 'हिंसा' का अनिवार्य सम्बन्ध बताया है। उनके शब्दों में, 'हिंसा को मात्र झूठ द्वारा छिपाया जा सकता है, और झूठ को केवल हिंसा द्वारा कायम रखा जा सकता है। जिसने भी एक बार हिंसा को अपना तरीका घोषित कर दिया वह हर हाल में झूठ को अपना सिद्धान्त बनाने के लिए बाध्य हो जायेगा।' उन्होंने यह कम्युनिस्ट विचारों और हिंसा के सन्दर्भ में कहा था। किन्तु यही बात हमारे देश में दंगों की विचारधारा और हिंसा के लिए भी बिलकुल सटीक बैठती है।

कहने का अर्थ यह कि दंगों के बारे में सच छिपाने से केवल बुरे, हिंसक लोगों और बुराई को ही मदद मिलती है। फिर उससे अनुचित प्रतिक्रिया को, तथा अफवाह फैलाने वालों, बदमाशों, सस्ते राजनीतिबाजों और पक्षपातियों को मौका मिलता है। इन सबसे अन्ततः दोनों समुदायों के बीच अविश्वास बढ़ता ही जाता है। उसी अविश्वास में समय-समय पर छोटी-से-छोटी घटना किसी भारी दंगे का कारण बन जाती है। यह मोटी-सी बात हमारे कर्णधारों को समझ में नहीं आयी है। वे समझते हैं कि लोगों को सही या गलत केवल उतनी ही जानकारी होगी, जितनी वे देते या देना चाहते हैं। जबकि वास्तव में लोगों की समझ विविध स्रोतों, घटनाओं, परम्परागत ज्ञान, तथा अपने एवं दूर दुनिया के विविध अनुभवों, अवलोकनों से बनती है।

फिर, हिन्दू और मुस्लिम इस देश में सदियों से एक-दूसरे को देख, समझ और भुगत रहे हैं। इसके अतिरिक्त दोनों ही दुनिया में और देशों में, और अन्य समुदायों के साथ भी रह रहे हैं। उन दूसरों, तीसरों के साथ इन समुदायों का कैसा आपसी सम्बन्ध है, उनके बीच किस तरह की घटनाएँ घटती या नहीं घटती हैं, यह सब भी यहाँ के हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों की आपसी समझ को प्रभावित करता है। जगजाहिर है कि हिन्दू स्वभाव से ही शान्तिप्रिय लोग हैं। गाँधीजी जैसे व्यक्ति ने भी इसे नोट करते हुए यहाँ तक कहा कि इसी कारण हिन्दू 'कायरता की हद' तक चले जाते हैं। दूसरी ओर, गाँधीजी के ही शब्दों में, 'सदियों से 'साम्राज्य-विस्तार परम्परा के कारण' मुसलमान स्वभाव से ही 'उद्धत' (bully) होते हैं।' यह तुलनात्मक सच्चाई विश्व-पटल पर आज भी देखी जा सकती है। आप्रवासी हिन्दू बड़ी संख्या में अमेरिका, यूरोप, अफ्रीका ओर दक्षिण एशिया के कई देशों में लम्बे समय से रह रहे हैं। उन्हें कहीं भी झगड़ालू समुदाय के रूप में नहीं देखा जाता। जबकि आप्रवासी मुस्लिम समुदाय का दुनिया के हर देश में दूसरे समुदाय से झगड़े,

हिंसा और सन्देह का सम्बन्ध है। सेटेलाइट टेलीविजन और इण्टरनेट के कारण सभी लोग इस रोजमर्रा की सच्चाई को जानते, देखते हैं। क्या इस बात का हमारे यहाँ साम्प्रदायिक दंगों के यथार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं।

मगर हमारे 'जिम्मेदार' लोग गोधरा या किष्ठतवाड़ की घटनाओं को, या उसकी वास्तविक तफसील को छिपाकर समझते हैं कि उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच माहौल बिगड़ने से बचा लिया। उन्होंने कभी ठण्डे दिमाग से नहीं सोचा कि ऐसी बचकानी तिकड़मों के बाद भी उन्हें इस बीमारी को खत्म करने में सफलता क्यों नहीं मिली।

वस्तुतः भारत में हिन्दू-मुस्लिम दंगे जब भी होते हैं, उसके पीछे विगत घटनाओं, ष्ठासकीय भेद-भाव, निर्णयों, वक्तव्यों, अन्यायों, ष्ठिकायतों, आदि का इकट्ठा रोष भी रहता है। एक तरह से यह आपसी रोष, मनमुटाव ओर गलतफहमियों का घड़ा भरते रहना कह सकते हैं। इसीलिए कोई दंगा किसी तात्कालिक घटना का परिणाम भर नहीं होता। उसमें पिछली घटनाओं, अन्य सम्बन्धित बातों की तुष्ठी भी रहती है, जिस पर तब तो कुछ नहीं हुआ था। किन्तु जिसने इस या उस समुदाय में कोई अस्वस्थ भाव पैदा किया था, अन्याय या अहंकार का भाव, जो आगे किसी मामूली प्रसंग को आकस्मिक रूप से भयंकर रूप देने में औचित्य या प्रेरक का काम करता है।

इसलिए जो लोग मुजफ्फरनगर दंगे को बिलकुल अलग करके देखना चाहेंगे, वे वास्तविकता तक नहीं पहुँच सकेंगे। सामान्य स्थिति में कुछ लड़कों द्वारा किसी राह चलती लड़की के साथ छेड़खानी, और फिर उस लड़की के भाई द्वारा बदले में उन लड़कों में से किसी को मारने की घटना से इलाके के गाँव-गाँव तक दंगा नहीं हो जाता। यदि मुजफ्फरनगर में यही हुआ, तो समझना चाहिए कि दो-तरफा तनाव पहले से मौजूद था और सूखे घास-फूस, पत्ते के ढेर के रूप में बढ़ता जा रहा था। उसे किसी दुर्भाग्यपूर्ण घटना ने हिंसक चिनगारी दिखा दी। वह घटना एक बहाना-भर बनी, जो बहाना कोई और घटना भी हो सकती थी।

कौन दावा करना चाहता है कि कमाल फारुकी ने जमा होते तनाव में एक और सूखा पत्ता नहीं डाला, जब उसने उत्तर प्रदेष्ठा के मंत्री पद से कहा कि यासीन भटकल जैसे भयंकर आतंकवादी को उसके अपराधों के कारण नहीं, बल्कि 'मुसलमान होने के कारण' गिरफ्तार किया गया है। यानी उसे गलत प्रताड़ित किया जा रहा है। उसी तरह, जम्मू-कष्ठमीर के सबसे प्रमुख नेता, बल्कि पूरे कष्ठमीरी मुस्लिम समुदाय द्वारा संसद पर आतंकी हमला करने वाले मुहम्मद अफजल को सजा देने का विरोध करना भी वैसा ही एक सूखा पत्ता न था? या कांग्रेस के वरिष्ठ नेता द्वारा बटाला हाउस मुठभेड़ में मुस्लिम आतंकियों द्वारा एक पुलिस अधिकारी के मारे जाने के बाद आतंकी को ही 'निर्दोष' बताने, और उसके घर जाकर संवेदना प्रकट करने से एक और सूखी

लकड़ी नहीं जमा हुई?

उसी तरह, देष्ठा के सत्ताधारी दल द्वारा ऐसा विचित्र, बददिमाग कानून बनाने का प्रस्ताव लाना जो सभी साम्प्रदायिक दंगे के लिए आगे से सदैव हिन्दुओं को दोषी मानकर, तदनुरूप उन्हें दण्डित करने की तैयारी कर रहा था-क्या वह भी सूखे पत्तों का पूरा बण्डल ही जोड़ना नहीं था? अथवा, विविध राजनीतिक दलों द्वारा संविधान की खुली अवहेलना करके नौकरियों में मजहबी आधार पर मुस्लिम समुदाय को आरक्षण देने की भेद-भावकारी जुगत लगाना भी वैसा ही कार्य न था? अथवा, भटकल, अफजल आदि अनगिनत आतंकियों के प्रति निर्विकार रुख लेने, यहाँ तक कि 'निर्दोष' बतानेवालों द्वारा देष्ठा के सबसे लोकप्रिय नेता नरेन्द्र मोदी को निरन्तर अपष्ठाब्द कहना और उसे ग्यारह वर्ष पहले हुए एक दंगे का 'दागी' ठहराते हुए मनमाने दण्डित करने के लिए हर छल-प्रपंच का सहारा लेना? ऐसी सभी पक्षपाती घटनाएँ, ष्ठारारती क्रिया-कलाप, वक्तव्य आदि वास्तव में अगले आकस्मिक अग्निकाण्ड के लिए सूखे पत्ते, लकड़ियाँ जमा करते जाने जैसी बात ही है। उसमें चिनगारी कब-कैसे-कौन लगाता है, यह भिन्न बात है। मगर ऐसी लकड़ियाँ, सूखे पत्ते जमा करते जाने वाले भी दंगों के लिए उतने ही दोषी हैं।

यह समझना ही होगा कि सामुदायिक भेद-भाव का खुला प्रदर्ष्ठान करनेवाली राजनीतिक घटनाओं, प्रक्रियाओं, प्रस्तावों, वक्तव्यों की सभी देखने-सुननेवालों पर एक प्रतिक्रिया होती ही है। यदि उनसे समाज में क्षोभ पैदा हो, और उस क्षोभ का निराकरण न हो, न ही उस दु:ख, क्षोभ और आक्रोष्ठा को निकलने का कोई स्थान मिले-तो वह अस्वस्थकर भावना के रूप में एकत्र होता है। वह या तो किसी के मन में नये घाव बनाता है, या पुराने घाव को बढ़ाता है।

भारत में हिन्दू-मुस्लिम दंगे समय-समय पर उन्हीं घावों का सम्मिलित रूप से फूट पड़ना है। विगत सौ वर्षों से चल रही इसी प्रक्रिया का एक परिणाम देष्ठा का खूनी विभाजन भी था। स्वयं जिन्ना ने स्वीकार किया था कि बिना दंगे किए उन्हें पाकिस्तान नहीं मिलने वाला था। नेहरू ने मुस्लिम लीग की यही पहचान ही बतायी थी कि वह 'सड़कों पर हिन्दू-विरोधी दंगे करने के सिवाय और कुछ नहीं करती।' इस प्रकार, नेहरू और जिन्ना, दोनों के ही अनुसार मुस्लिम लीग ने दंगों को अपने हथियार के रूप में राजनीतिक इस्तेमाल किया। यदि यह ऐतिहासिक सत्य है, तो क्या आज वह बदल गया है। क्या आज मुस्लिम नेता अपनी चित्र-विचित्र माँगों के लिए कोई और तरीका या भाषा इस्तेमाल करते हैं। वह सब मीडिया में समय-समय पर सबको दिखाई देता है। इसलिए दंगों की पुरानी बीमारी के कारण भी कुछ नये नहीं हो गये हैं। यह ऐसा सदाबहार नजारा है, कि छिपाए भी नहीं छिप सकता। इसीलिए मिथ्याचार का सहारा लिया जाता है।

कुछ लोग दंगों का गणित चतुराईपूर्वक इस्तेमाल करते हैं, ताकि दंगों का व्याकरण छिपा

लिया जाये! साथ ही, वे जिहादी आतंकवाद और साम्प्रदायिक दंगों को भी अलग-अलग करके देखने की जिद ठानते हैं, ताकि पुनः गणित की चतुराई चल जाये। इसीलिए वे जिहादियों द्वारा सदैव किसी समुदाय विशेष को निशाना बनाकर की गयी सामूहिक हिंसा के गणित को 'साम्प्रदायिक हिंसा' के हिसाब से अलग करते हैं। फिर वे भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश में हिन्दुओं और मुसलमानों के विरुद्ध हिंसा और परिणामों को भी अपने गणित में नहीं जोड़ना चाहते। जबकि अन्ततः चाहे ये तीनों आज एक ही देश नहीं, पर दंगों की समस्या पर ऐतिहासिक रूप से विचार करने की दृष्टि से एक ही देश हैं! साथ ही, दंगों की समस्या के रूप में तो एक ही परिघटना के तीन दृश्य हैं। अतः भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश में समेकित रूप से हिन्दू-मुस्लिम 'दंगों' का हिसाब क्या है-यह छिपाना फिजूल है। बल्कि विपरीत परिणामदायक है।

मगर यही हो रहा है। यह सब वास्तविकता को छिपाने की बीमारी ही है। जबकि वास्तव में छिपता कुछ नहीं। न केवल भारत में, बल्कि दूसरे देशों में भी एक जैसी घटनाओं की पुनरावृत्ति अन्ततः सबको सच्चाई का आभास दे देती है। उलटे छिपाव के प्रयासों से गड़बड़ियाँ, जटिलताएँ बढ़ती हैं। हर हाल में, भारतीय समाज में हिन्दू-मुस्लिम दंगों की बीमारी की यथावत उपस्थिति बताती है कि हमने इतिहास से कुछ नहीं सीखा। इन दंगों और सभी साम्प्रदायिक हिंसा पर दुनिया-भर में इतनी विस्तृत सामग्री उपलब्ध है, कि उनका वैज्ञानिक विश्लेषण बिलकुल सटीक उपचार स्वतः सुझाता है।

फिलहाल उपचार के बारे में संक्षेप में इतना ही कि दंगों का मुख्य कारण और उसके दोषी उसे उकसानेवाले, आरम्भ करनेवाले और शामिल लोग नहीं-बल्कि वह मतवादी विचारधारा है जो अपने लोगों में दंगे, हिंसा और विशेषाधिकार की मानसिकता को पोषण देती है। उनकी दिन-रात मगज-धुलाई (इनडॉक्ट्रिनेशन) करती है। इसे पहचानना कठिन नहीं है। न ही इसे परास्त करना। यह रोचक और सुखद बात है कि यदि इस मतवादी विचारधारा को खुली वैचारिक चुनौती दी जाये तो बिना किसी हिंसा के यह हिंसक मानसिकता ध्वस्त हो जायेगी।

जो लोग उपर्युक्त बातों को 'किसी समुदाय के विरुद्ध घृणा फैलाना' कहते हैं, और बदले में झूठी-नकली मधुर बातें कह-कहकर दंगों या जिहादी आतंकवाद को शान्त करना चाहते हैं, उन्हें डॉ. कोएनराड एल्स्ट का एक अवलोकन याद रखना चाहिए। एल्स्ट ने अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर दिख रहे इस रोचक तथ्य को रेखांकित किया है कि जो लोग इस्लामी मतवाद की आलोचना करते हैं, उन्होंने कभी एक भी मुसलमान को शारीरिक चोट नहीं पहुँचायी है। जैसे रामस्वरूप, सीताराम गोयल, अरुण शौरी या एल्स्ट स्वयं। जबकि जो लोग इस्लाम को भरपूर श्रद्धा-सुमन चढ़ाते रहते हैं, जैसे जॉर्ज बुश, टोनी ब्लेयर, याहया खान, अल कायदा, हिजबुल मुजाहिदीन, लश्करे तोयबा, आदि- उन्हीं लोगों ने लाखों मुसलमानों को मारा है। सीधा आदेश देकर या स्वयं भाग लेकर।

पाकिस्तान, अफगानिस्तान, ईरान, सीरिया, इराक, आदि देशों में मुसलमान किनके हाथों मारे जा रहे हैं। किसी 'समुदाय के विरुद्ध घृणा फैलाने' वाली लफ्फाजी में क्या इस तथ्य को भी हिसाब में नहीं लेना चाहिए।

किसी विचारधारा के विरुद्ध कुछ कहना उस विचारधारा के अनुयायियों के विरुद्ध कहने के समान नहीं है। इस्लाम और मुसलमान दो बिलकुल भिन्न चीज हैं। एक की आलोचना दूसरे की नहीं मानी जानी चाहिए। जैसे तीस वर्ष पहले मार्क्सवाद-लेनिनवाद की आलोचना करना रूसियों या चीनियों के विरुद्ध घृणा फैलाना नहीं होता था। इस्लाम को आलोचना से बचाने के लिए ऐसी ओछी चतुराई का सहारा लेना बताता है कि वास्तव में गड़बड़ी ठीक यहीं है।

卐

पुण्यतिथि ष्ठाताब्दी वर्ष पर विष्ठेष

योगिराज बाबा गम्भीरनाथ

योगिराज बाबा गम्भीरनाथजी सिद्ध पुरुष थे। उन्होंने हठयोग, लययोग, मंत्रयोग और राजयोग के क्षेत्र में सिद्धि प्राप्त की थी। उन्होंने ष्ठिवगोरक्ष महायोगी गोरखनाथजी की वाणी से आध्यात्मिक जीवन और साधना की प्रेरणा प्राप्त की कि अहंकार तोड़ना चाहिए, नष्ट कर देना चाहिए। सद्गुरु की खोज करनी चाहिए। योगमार्ग की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। बार-बार मनुष्य का जन्म नहीं मिलता, इसलिए सिद्ध पुरुष का सत्संग करना चाहिए-

आप भाँजिबा सतगुर षोजिबा। जोगपंथ न करिबा हेला।
फिरि फिरि मनिषा जनम न पाइबा। करिलै सिध पुरिस सूं मेला।

(गोरखबानी सबदी 203)

नाथयोगपरम्परा में इधर सात-आठ सौ वर्षों में उनके ऐसे योगी का दर्ष्ठान प्राय: नहीं हुआ था। निस्सन्देह योगिराज महात्मा गम्भीरनाथ पतंजलि और गोरखनाथजी के समन्वयात्मक संस्करण थे। ऋद्धियों और सिद्धियों ने उनके चरणचिन्तन को अपना सौभाग्य-सिन्दूर समझा। वे ष्ठान्ति और गम्भीरता के उज्ज्वलतम रूप थे। बड़े-बड़े संतों, महात्माओं और योगियों ने उनके चरणों में अपनी श्रद्धा समर्पित कर मोक्ष और आत्मकल्याण का विधान प्राप्त किया था। हिमालय से कन्या अन्तरीप तक के भूमिभाग में बीसवीं ष्ठाताब्दी में इतने बड़े योगी का दर्ष्ठान दुर्लभ था। उन्होंने मानवता को योगष्ठाक्ति से सम्पन्न किया। उन्होंने योगब्रह्म ष्ठिव का साक्षात्कार लाभ किया। भारत के प्राय: समस्त तीर्थों में असंख्य लोगों को अपनी चरणधूलि प्रदान कर योगिराज गम्भीरनाथ ने उनकी (तीर्थों की) महिमा में विष्ठोष अभिवष्ठिद्ध की। माना, योगिराज का प्राकट्य उस समय हुआ था, जब भारत विदेष्ठी ष्ठाक्ति की अधीनता में था, पर योगिराज गम्भीरनाथ के लिए भौतिक जगत् की पराधीनता का कोई महत्त्व ही नहीं था। वे तो जागतिक प्रपंच से अतीत थे। वे रहस्यपूर्ण ढंग से आध्यात्मिक क्रान्ति का सष्ठान कर रहे थे। विदेष्ठी ष्ठासन को निकाल कर बाहर करने के लिये बंगाल तथा अन्य प्रान्तों में सष्ठास्त्र राजक्रान्ति की योजना कार्यरूप में परिणत हो रही थी। महात्मा गम्भीरनाथजी ने राजनीतिक क्रान्तिकारियों की आध्यात्मिक पिपासा तष्ठप्त की। अगणित बंगीय युवकों ने उनके पथ-प्रदर्ष्ठान में गम्भीर, अखण्ड और ष्ठाष्ठवत स्वतन्त्रता-ज्योति-आत्मष्ठाक्ति का दर्ष्ठान किया।

योगिराज बाबा गम्भीरनाथ ने सिद्धयोगपीठ-गोरखनाथजी की तपोभूमि गोरखपुर को अपनी तपस्या

से अक्षय समृद्धि प्रदान की। वे निरंतर योगस्थ थे। गीता के योगसिद्धान्त में बड़ा विश्वास रखते थे। वे अन्तरात्मा में स्वस्थ थे। वे अपने समय के सर्वश्रेष्ठ योगी थे। उनके समकालीन महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी की मान्यता थी कि हिमालय के देश में-भारत देश में उनके ऐसा योगी कोई दूसरा नहीं है। महात्मा विजयकृष्णजी उनकी परम योगविभूति से प्रभावित थे। महात्मा गम्भीरनाथ की योग-साधना शैव दर्शन के सिद्धान्त की प्रतीक थी। उन्होंने द्वैताद्वैत-विवर्जित परमेश्वर अलख निरंजन शिव की उपासना की। शैव योगी होते हुए भी शुद्धसच्चिदानन्द तत्त्व के निरपेक्ष द्रष्टा थे। उनका योग गोरखनाथजी की योगपद्धति का अनुगामी था। महात्मा गम्भीरनाथ ने गोरखनाथजी की नाथयोग-साधना-पद्धति का बीसवीं शताब्दी में पूर्ण प्रतिनिधित्व किया और आजीवन अपने साम्प्रदायिक - नाथयोग-परम्परागत सिद्धान्त पर अडिग रहकर आत्मसाक्षात्कार प्राप्त किया। उन्होंने योग और ज्ञान का समन्वय किया।

योगिराज गम्भीरनाथ जी के पूर्वाश्रम के सम्बन्ध मे कुछ भी निश्चित रूप से कहना या लिखना आसान नहीं है। उनका जन्म विक्रमीय उन्नीसवीं शताब्दी के चौथे चरण में कश्मीर राज्य (प्रदेश) के एक गाँव में समृद्ध परिवार में हुआ था। उनकी शिक्षा-दीक्षा साधारण ढंग की थी। बचपन से ही उनके जीवन में योगाभ्यास के साम्राज्य में प्रवेश करने के पहले विषय-सुख की सुविधा उपलब्ध थी, पर उनका ध्यान उसकी ओर तनिक भी नहीं था। पूर्वाश्रम के सम्बन्ध में वे पूछने पर कह दिया करते थे कि प्रपंच से क्या होगा। उनकी सांसारिक पदार्थों में तनिक भी आस्था नहीं थी। धन, परिवार आदि से वे स्वाभाविक रूप से विरक्त थे। जब गम्भीरनाथजी युवावस्था में प्रवेश कर रहे थे, उन्हें सूचना मिली कि गाँव में एक योगी का आगमन हुआ है। योगी ने श्मशान में अपना निवास चुना था। वे योगी से श्मशान में मिलने गये। उन्होंने बड़ी श्रद्धा से कहा कि महाराज! घर पर मेरा मन नहीं लगता है। संसार के विषय-भोग मुझे काट खाते हैं। मैं योगाभ्यास करना चाहता हूँ। योगी नाथ-सम्प्रदाय के थे। उन्होंने गम्भीरनाथ से कहा कि 'तुम गोरखपुर जाकर गोरखनाथ मठ के महन्त योगी बाबा गोपालनाथजी महाराज से योगदीक्षा लो। मैं तुम्हारी महत्त्वाकांक्षा से बहुत प्रसन्न हूँ। तुम उच्चकोटि के योगी होगे।'

गम्भीरनाथजी योगी के आदेश से गोरखपुर के लिए चल पड़े। वे गोरखपुर मठ में आये। लोग उन्हें देखकर आश्चर्यचकित हो गये। उनके पास पर्याप्त रुपये थे, उन्होंने अच्छे से अच्छा रेशमी कपड़ा पहन रखा था। वे देखने में बड़े सभ्य, सौम्य और सुन्दर थे, महन्त गोपालनाथजी से मिलने पर उनके चरणों में उन्होंने आत्मसमर्पण कर दिया। गोपालनाथजी महाराज ने नाथसम्प्रदाय के योग-मार्ग में उन्हें दीक्षित कर लिया। राजकीय वेष का परित्याग कर गम्भीरनाथजी ने कौपीन धारण कर योगसाधना के निष्कंटक राज्य में प्रवेश किया। गोपालनाथजी महाराज ने उनकी शान्त मुद्रा से प्रसन्न होकर 'गम्भीरनाथ' नाम प्रदान किया। निस्संदेह वे गम्भीरता के परम दिव्य सजीव समुद्र ही थे। बाबा गोपालनाथ जी की महती पुण्यमयी कृपा-दृष्टि प्राप्त कर, मठ में निवास कर वे योगाभ्यास

करने लगे। उनकी गुरुनिष्ठा उच्चकोटि की थी। वे गुरु की प्रत्येक आज्ञा का पालन करते थे। उन्होंने बड़ी तत्परता और तपस्या से अपने आध्यात्मिक उत्तरदायित्व का निर्वाह किया। वे मौन रहा करते थे। सत्य के चिन्तन और मठ के आवष्ठयक कार्यों के समीचीन सम्पादन में लगे रहते थे। बाबा गोपालनाथ ने धीरे-धीरे उनको मठ के उपास्य की पूजा-अर्चा में नियुक्त करना आरम्भ किया। बाबा गम्भीरनाथ की उपस्थिति से मठ में ष्ठान्ति साकार हो उठी। उन्हें गुरु ने प्रसन्न होकर पुजारी का कार्यभार सौंपा। इस प्रकार योगी गम्भीरनाथ के तपोमय साधना-जीवन में कर्मयोग और भक्तियोग के उदय ने ज्ञानयोग-परक अन्तरस्थ ज्योति के दर्ष्ठान का पथ प्रष्ठास्त कर दिया। बाबा गोपालनाथजी की प्रसन्नता और कष्ठा से अभिभूत गम्भीरनाथ की प्रारम्भिक योग-साधना पर देवीपाटन के योगी ष्ठिवनाथ का भी अमित प्रभाव था।

गम्भीरनाथजी ने योग-साधना के लिए काष्ठी की पैदल यात्रा की। वे वन मार्ग से बिना भूख-प्यास की चिन्ता किये चले जा रहे थे। उनका प्रभु की कष्ठा पर दृष्ठ विष्ठवास था। तीसरे दिन वे भूख से नितान्त परिश्रान्त हो गये पर ष्ठोष ष्ठारीरिक ष्ठाक्ति पर निर्भर होकर वे पुनीत महातीर्थ की ओर बढ़ते जा रहे थे। रास्ते में एक परिचित ब्राह्मण से उनकी भेंट हुई। वह उन्हें देखते ही सारी स्थिति समझ गया। निकटस्थ गाँव से दूध-चूरा लाकर भोजन करने का आग्रह किया। वह जानता था कि योगी गम्भीरनाथजी ने भोजन के सम्बन्ध में रास्ते में किसी से कुछ बातचीत न की होगी। गम्भीरनाथजी ने भगवत्कष्ठा समझकर भोजन कर लिया। काष्ठी पहुँचने पर उन्होंने कुछ दिनों तक गंगाजी के एक निर्जन तटीय रमणीय स्थान में रहकर योगाभ्यास आरम्भ किया। वे नित्य गंगाजी में स्नान कर भगवान् विष्ठवनाथ का दर्ष्ठान करने जाया करते थे। भीड़ से बहुत दूर रहते थे, इसलिए भिक्षा माँगने नहीं जाते थे। उनकी त्यागमयी वष्ठि ने साधकों और जिज्ञासुओं को अपनी ओर खींच लिया। योगी गम्भीरनाथजी ने जनसम्पर्क को साधना का बहुत बड़ा विघ्न समझा। उन्होंने काष्ठी को छोड़ दिया। वे प्रयाग आ गये। प्रयाग में गंगा-यमुना के पुनीत संगम की दिव्यता से सम्प्लावित झूसी तट की एक गुफा में रहकर वे तप करने लगे। दैवयोग से मुकुटनाथ नाम के एक नाथ-योगी ने उनके भोजन तथा सेवा आदि की व्यवस्था की। बाबा गम्भीरनाथजी अनवरत रात-दिन उस गुफा में योगाभ्यास करने लगे। इस प्रकार वे प्रयाग में तीन साल तक रह गये। उनका आध्यात्मिक स्तर उच्च तल पर पहुँच गया। उन्होंने महती योगष्ठाक्ति प्राप्त की। महायोगी गोरखनाथ के सिद्धान्त में उन्हें आत्मप्रकाष्ठा मिला-

ग्यान सरीखा गुरु न मिलिया चित्त सरीखा चेला।
मन सरीखा मेलू न मिलिया तीथैं गोरख फिरै अकेला।।

(गोरखबानी सबदी 189)

'ज्ञान के समान गुरु नहीं मिला, न चित्त के समान चेला मिला। इसलिए गोरख अकेला फिरते हैं।'-गम्भीरनाथजी की स्मष्ठि में यह कथन ज्योतित हो उठा। उन्होंने परिव्राजक-जीवन में प्रवेष्ठा

किया। उन्होंने पूरे छः साल तक परिव्राजक जीवन का रसास्वादन किया। वे प्रायः पैदल भ्रमण करते थे। उन्होंने कैलाष्ठा, मानसरोवर, अमरनाथ, द्वारिका, गंगासागर तथा रामेष्ठवरम् आदि तीर्थों की परिक्रमा चार साल में पूरी की और अमरकण्टक पर अधिक समय तक रह गये। नर्मदा-परिक्रमा के समय उनके जीवन में एक विलक्षण घटना घटी थी। यह उनकी अपार योगष्ठाक्ति और तपस्या की परिचायिका है। गम्भीरनाथजी नर्मदा की परिक्रमा कर रहे थे। एक तटीय रम्य स्थान में उनका मन लग गया। वहाँ एक कुटी थी। गम्भीरनाथजी ने उस कुटी में निवास किया। पहले दिन उन्हें एक बहुत बड़ा साँप दीख पड़ा। वह उनका दर्ष्ठान कर अदष्ठय हो गया। दूसरे और तीसरे दिन भी प्रभातकाल में गम्भीरनाथजी ने उसको देखा। उन्होंने इस ओर कुछ ध्यान नहीं दिया। वे अपने गम्भीर चिन्तन में तल्लीन थे। तीसरे दिन कुटी में रहने वाला एक ब्रह्मचारी, जो कुछ दिनों के लिए बाहर था, आ गया। वह उसी कुटी में बारह साल से निवास कर रहा था। वह गम्भीरनाथ जी के आगमन से बहुत प्रसन्न हुआ, उसने आपबीती सुनायी कि मैं इस कुटी में बारह साल से निवास करता हूँ। इसी के निकट एक बहुत बड़े महात्मा सर्पवेष में रहते हैं, उन्हीं के दर्ष्ठान के लिए मैं ठहरा हूँ। योगिराज गम्भीरनाथजी ने सर्प-दर्ष्ठान की बात उससे कही। वह ब्रह्मचारी आष्ठचर्य-चकित हो गया। उसने उनसे कहा कि महाराज! आपका तपोबल स्तुत्य है। जिस कार्य को मैं बारह साल में भी न कर सका, वह बिना किसी प्रयास के आपने कर दिखाया। आप धन्य है कि सर्प-वेष में रहने वाले महात्मा ने तीन दिनों तक आप पर कष्ठा-दष्टि की। गम्भीरनाथजी ने नर्मदा-परिक्रमा समाप्त की।

संवत् 1937 वि. में योगी गोपालनाथजी ने ष्ठिावधाम प्राप्त किया। गम्भीरनाथजी ने परिभ्रमण-काल में इस घटना को सुना। वे गुरु के प्रति आदर प्रकट करने के लिए गोरखपुर आये। तत्कालीन महन्त बलभद्रनाथजी के विष्ठोष आग्रह पर वे कुछ दिनों तक मठ में रह गये। उसके बाद वे बिहार प्रान्त के गया जनपद के कपिलधारा स्थान में आकर तप करने लगे। गया नगर से थोड़ी दूर पर अत्यन्त ष्ठान्त, रमणीय, निर्जन कपिलधारा स्थान में गम्भीरनाथजी ने तब तक तप करने का निष्ठचय किया, जब तक अवधूत-अवस्था की प्राप्ति न हो जाती। अक्कू नाम के एक व्यक्ति ने उनके चरणों में श्रद्धा अर्पित की और उनके भोजन आदि की व्यवस्था तथा सेवा का सहज अधिकार प्राप्त कर लिया। योगिराज गम्भीरनाथजी के पास कौपीन, एक कम्बल और खर्पर के सिवाय कुछ भी नहीं था। कुछ दिनों के बाद नष्ठतिनाथ नाम के एक श्रद्धालु योगसाधक ने अक्कू का कार्य हल्का कर दिया। नष्ठतिनाथजी ने योगी गम्भीरनाथ की सेवा में बड़ी तत्परता दिखायी। योगिराज गम्भीरनाथ की प्रसिद्धि बड़ी तेजी से बढ़ने लगी। वे सदा ष्ठान्त चित्त से ध्यानस्थ रहा करते थे। मौन उनकी वाणी का अलंकार था। संकेत उनके भावों का प्रहरी था। निर्जनतामयी योगसाधना ही उनकी जीवन-संगिनी थी। प्रकष्ठि की कमनीय कान्ति से सम्पन्न कपिलधारा पहाड़ी की दिव्यता उनकी योगलीला की रंगभूमि थी। रात में दूसरी पहाड़ियों पर तप करने वाले सिद्ध महापुरुष और योगीजन उनका दर्ष्ठान करने तथा सत्संग प्राप्त करने आया करते थे। गया के एक धनी पण्डा माधवलाल ने उनके आष्ठीर्वाद से एक

गुफा का निर्माण कराया। योगी गम्भीरनाथजी उसी गुफा में प्रवेष्ठा कर तप करने लगे। दर्ष्ठाकों और मिलने वालों की भीड़ अपने आप कम होने लगी। गुफा में कोई दूसरा व्यक्ति नहीं प्रवेष्ठा कर सकता था। वे केवल ढाई सौ ग्राम दूध नित्य लेते रहते थे। प्रत्येक मंगलवार को थोड़ी देर के लिए गुफा के बाहर आकर दर्ष्ठाकों और भक्तों को अपने दर्ष्ठान से तष्ठप्त करते थे। तीन वर्षों तक उन्होंनें यही क्रम रखा। उसके बाद वे प्रत्येक पूर्णिमा और अमावस्या को गुफा के बाहर आते थे। बारह साल के कठिन योगाभ्यास के बाद उन्होंने इस नियम को भंग कर दिया। उसके बाद वे तीन मास तक गुफा से बाहर नहीं आये। श्रद्धालुओं की विकलता बढ़ने पर उन्होंने दर्ष्ठान दिया। इस प्रकार कपिलधारा में उन्होंने अवधूत-अवस्था की प्राप्ति कर ली। उनकी पवित्र उपस्थिति से उस तपोभूमि में सत्य, ष्ठान्ति, अहिंसा और दिव्यता का साम्राज्य स्थापित हो गया।

कपिलधारा आश्रम में एक बार रात को कुछ चोर आये। उन्होंने आश्रम पर पत्थरों के टुकड़े बरसाये। योगिराज एक कम्बल ओढ़ कर कुटी के बाहर लेटे हुए थे। पत्थर के एक टुकड़े से उन्हें थोड़ी सी चोट आ गयी। योगी नष्ठतिनाथ तथा दूसरे भक्तों ने चोरों का पीछा करना चाहा। गम्भीरनाथजी ने चोरों से कहा कि साधुओं को तंग नहीं करना चाहिए। उन्होंने बड़े प्रेम और मधुरता से कहा कि कुटी का दरवाला खुला हुआ है, तुम भीतर जाकर जो कुछ भी आवष्ठयक समझो, ले लो। चोर आष्ठचर्यचकित हो गये। वे बाबा के चरण में नतमस्तक हो गये। चोरों ने कहा कि 'महाराज! हम गरीब हैं, हमारे परिवार वाले कई दिनों से भूखे मर रहे हैं।' बाबा ने कहा कि 'वत्स! मैं तुम्हारी विवष्ठाता समझता हूँ। तुम जब चाहो, कुटी से आकर भोजन ले जा सकते हो। तुम्हें कोई न रोकेगा।' चोरों ने अपनी आवष्ठयकता के अनुसार थोड़ा-बहुत सामान ले लिया। बाबा की चरणधूलि मस्तक पर चढ़ाकर चल पड़े। दूसरी बार आश्रम में आने पर उनके जीवन में बड़ा परिवर्तन देखा गया। वे चोर नहीं, सत्यवादी हो गये। बाबा गम्भीरनाथजी के आष्ठीर्वाद के रूप में उन्होंने चावल, कम्बल आदि सामग्री प्राप्त कर ली। गम्भीरनाथजी की करुणा ने उनकी कष्ठज्ञता को श्रद्धा और भक्ति में रूपान्तरित कर दिया। बाबा प्रेम, माधुर्य, अहिंसा और ष्ठान्ति के साकार-सजीव विग्रह थे।

बाबा गम्भीरनाथजी सिद्ध पुरुष थे, पर वे सिद्धि और चमत्कारों के प्रयोग से बहुत दूर रहते थे। ष्ठान्ति को ही वे बहुत बड़े चमत्कार की वस्तु स्वीकार करते थे। नि:स्पष्ठहता और निष्कामता में उनकी चित्तवष्ठत्ति सदा रमण करती रहती थी। परिव्राजककाल में महाराणा उदयपुर तथा महाराजा काष्ठमीर, अनेक राजाओं ने बड़ी चेष्टा की कि योगिराज की चरणधूलि राजप्रासाद में पड़ जाय पर ऐसा कभी सम्भव नहीं हो सका। एक बार तीर्थों का भ्रमण करते हुए वे उदयपुर गये। एक निर्जन एकान्त स्थान में मैदान में धूनी प्रज्वलित कर उन्होंने थोड़े समय के लिए निवास किया। उनके साथ में आठ-दस साधु पुरुष भी थे। एक दिन उस क्षेत्र में बड़े जोर की जलवष्ठष्टि हुई। जिस स्थान में बाबा विराजमान थे, वहाँ वष्ठष्टि नहीं हुई, बाबा खुले आसमान के नीचे निर्द्वन्द्व भगवान् के भजन में अपने ष्ठिष्यों के साथ तल्लीन थे। उनके दर्ष्ठान के लिए जनसमूह उमड़ पड़ा। यह समाचार जब

उदयपुर के महाराणा को विदित हुआ तो उन्होंने बाबा को राजमहल में पधार कर दर्शन देने की प्रार्थना उनके चरणों में निवेदित करायी। सारी चेष्टाएँ निष्फल हो गयीं। योगिराज ने राणा के महल में जाना अस्वीकार कर दिया। महाराणा दर्शन के लिए बड़े उत्सुक थे, वे स्वयं सेवोपयोगी श्रद्धामय उपहार लेकर योगिराज से मिलने चल पड़े। निष्किंचन संन्यासी के लिए राजदर्शन विहित नहीं है। महाराणा का आगमन सुनकर योगिराज गम्भीरनाथ ने अपना आसन समेट लिया और शिष्यों के साथ दूसरे स्थान के लिए प्रस्थान कर दिया।

बाबा के प्रसिद्ध सेवक माधवलाल पण्डा ने बड़ा प्रयत्न किया कि एक क्षण के लिए भी योगिराज मेरे घर पर पधारें, पर गम्भीरनाथजी अपने नियम पर अडिग रहे। एक बार उनका निजी सेवक, जो गया जनपद में तप करते समय महाराज की सेवा में समर्पित था, बीमार पड़ गया। उसका भाई मुन्नी दौड़ता हुआ बाबा के पास आया। उसने आँखों में आँसू भरकर कहा कि महाराज! अक्कू का अन्तिम समय है, उसे जीवन प्रदान कीजिए अथवा चलते समय उसे अपनी चरण-धूलि से आशीर्वाद दीजिए। वह आप की चरणधूलि के लिए विकल है। करुणा-समुद्र, परम शान्तिमय बाबा गम्भीरनाथ जी आसन से उठ बैठे। वे अक्कू के घर आये, उसका शरीर ठंडा हो रहा था। उसके प्राण निकलने वाले ही थे कि बाबा का दर्शन करते ही अक्कू की चेतना लौट आयी। बाबा ने उसे जीवन प्राण दिया। स्वस्थ होने पर वह बाबा की सेवा में संलग्न हो गया।

जिस समय योगिराज बाबा गम्भीरनाथजी गया जनपद की कपिलधारा पहाड़ी पर तप कर रहे थे, उसी समय महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी आकाशा गंगा पहाड़ी पर अपने कुछ भक्तों के साथ साधना में तल्लीन थे। वे बाबा गम्भीरनाथजी की योगशक्ति से बहुत प्रभावित थे। उनके चरणों में गोस्वामी महोदय की अडिग श्रद्धा थी। वे कभी-कभी योगिराज का दर्शन करने कपिलधारा आया करते थे और प्रायः आधीरात के समय पधार कर दो एक घंटे उनके सम्पर्क में रहकर सत्संग और भजन की सात्विकता और मधुरता का आस्वादन करते थे। योगिराज गम्भीरनाथ आधीरात में सितार बजाकर भजन गाया करते थे। उनकी संगीत-माधुरी और सितारवादनकला से जीव-जन्तु दिव्य प्रेमोन्माद में पूर्ण अहिंसक बनकर उनकी चरण-धूलि से अपने-आप को परम तृप्त मानते थे। कभी-कभी कपिलधारा पहाड़ी की चोटी पर गम्भीरनाथजी के सितार और भजन से आकृष्ट होकर आधीरात में प्रेमोन्माद में विह्वल होकर महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी उनका दर्शन करने आया करते थे। एक दिन रात की निर्जनता में बाबा गम्भीरनाथजी पहाड़ी पर सितार बजाते हुए घूम रहे थे। भगवान् के चरण में हृदय का मधुर संगीत समर्पित कर रहे थे। चारों ओर ज्योत्स्ना फैली थी। महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी ने शिष्यों से कहा, 'अहा! कितना मधुर संगीत बाबा गम्भीरनाथ अपने आराध्य देव के चरणों में अर्पित कर रहे हैं। बाबा साक्षात् प्रेम-रूप हैं। ऐसे योगी का दर्शन भारतवर्ष में इस समय दुर्लभ है। बाबा में सृष्टि, स्थिति और प्रलय की शक्ति है। वे क्षणमात्र में संसार का सृजन और संहार कर सकते हैं। उन्होंने प्रेम का माधुर्य इस तपोभूमि में भर दिया है।' विजयकृष्ण गोस्वामी

के शिष्य मनोरंजन ठाकुर ने लिखा है- 'जन्तु-पूर्ण गया के पर्वत पर कपिलधारा के शिखर पर बैठकर बाबा गम्भीरनाथजी रात में सितार बजाकर भजन करते थे और आकाशा-गंगा की पहाड़ी से महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी अपने साथियों को छोड़कर वन, काँटा, कंकड़ की परवाह न करते हुए उन्मत्त होकर दौड़ते हुए वहाँ चले जाते थे। यह किसका प्रेम था, किसका आकर्षण था? ये लोग किस प्रेम में बँध गये थे? इस बन्धन का सूत्र कहाँ था? किस माली ने बीच में आकर दो हृदयों को इस प्रकार बाँध दिया था? इस पुण्य-कहानी के सुनने से भी धर्म की प्राप्ति होती है। क्षणभर के लिए हृदय विस्मित और स्तम्भित हो जाता है। पैसा नहीं, कौड़ी नहीं, मान-मर्यादा या रक्तमांस का कोई सम्पर्क नहीं। किस वस्तु का सम्पर्क मनुष्य को इतना उन्मत्त कर देता है, जो भगवान् से प्रेम करता है, उसके लिए भक्त प्राणों का भी प्राण होगा ही, जो भक्त से प्रेम नहीं करता, भगवान् के प्रति उसका प्रेम होना कभी भी सम्भव नहीं। दो भक्तों का यह जो आलिंगन है, इसी के भीतर भगवान् का साक्षात् प्रकाश है।'

जिस समय बाबा गम्भीरनाथ कपिलधारा पहाड़ी पर तप कर रहे थे, उस समय एक बाघ उनके पास कभी-कभी आता। वह कुछ देर उनके सम्मुख बैठता और उसके बाद उनकी प्रदक्षिणा कर चला जाता। साधारण तौर पर वह ऐसे समय आता था, जब योगिराज के पास कोई दूसरा व्यक्ति या दर्शनार्थी न रहता। एक दिन दैवयोग से बाबाजी के पास कई सज्जन बैठे थे। कई संत पुरुष उपस्थित थे। उसी समय बाघ आया, उसको देख कर सभी लोग स्वभावतः घबड़ा उठे और भयभीत तथा हतबुद्धि होकर भागने को उद्यत हो गये। बाबा गम्भीरनाथ ने शान्त भाव से हाथ उठाकर आश्वासन के मधु-गम्भीर स्वर में कहा, 'ये एक सिद्ध संत हैं। बाघ के वेष में आये हैं, किसी का अनिष्ट नहीं करेंगे, भय की बात नहीं है, आप लोग निश्चिन्त बैठे रहें।' सभी लोग आश्चर्य चकित थे। बाघ बाबा जी के निकट बैठ गया कुछ देर तक प्रशान्त भाव से योगिराज गम्भीरनाथजी को स्थिर नेत्रों से देखता रहा और दर्शन से तृप्त होकर धीरे-धीरे चला गया।

योगिराज गम्भीरनाथ सम्वत् 1950 वि. में कपिलधारा आश्रम से प्रयाग के कुम्भ मेला में पधारे हुए थे। उनकी गम्भीर मुद्रा और शान्ति तथा तप-माधुरी से दर्शकों का मन सहज ही में मुग्ध हो गया। प्रत्येक समय उनके निवास-स्थान पर दर्शकों की भीड़ लगी रहती थी। अपने शिष्यों के साथ महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी उनका दर्शन करने आये थे। महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी के शिष्य मनोरंजन ठाकुर ने कुम्भ की एक घटना का वर्णन किया है। इससे बाबा गम्भीरनाथ की तपस्या और शान्तिमयी त्यागवृत्ति का पता चलता है। एक धनी व्यक्ति ने योगिराज के हाथ से सौ कम्बलों का वितरण कराना चाहा। बाबा उस समय गम्भीर चिन्तन में रत थे। थोड़ी ही देर के बाद उन्होंने आँखें खोलीं, अपने सामने कम्बलों का ढेर देखा। उन्होंने हाथ से वितरण का संकेत किया। क्षणमात्र में दीन-दुखियों और असहायों में ये कम्बल वितरित कर दिये गये। कुम्भ मेले से वे लोगों के विशेष आग्रह पर गोरखनाथ-मठ के अध्यक्ष का उत्तरदायित्व स्वीकार कर गोरखपुर आये और जीवन के

अन्तिम क्षण तक उन्होंने अपना कार्य बड़ी सात्विकता और पवित्रता से सम्पादित किया। नाथ-सम्प्रदाय के तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ योगी के रूप में उनकी ख्याति चारों ओर फैल गयी। वे जीवन्मुक्त अवस्था में पहुँच गये थे। साधुमण्डली में वे सिद्ध पुरुष के रूप में विख्यात थे। गोरखनाथमठ में आगमन के बाद लोग उन्हें 'बूढ़ा महाराज' के विष्ठोषण से समलंकृत कर विष्ठोष श्रद्धा प्रकट करते थे। उनके आगमन से ऐसा लगता था मानो गोरखनाथ की तपोभूमि में हठ, लय और राजयोग ने ही त्रिमूर्ति ष्ठिाव के रूप में प्रवेष्ठा किया हो।

गोरखपुर में गोरखनाथ के मठ में निवास-काल में एक बार उन्होंने अद्‌भुत चमत्कार दिखाया था। एक धनी परिवार की विधवा का इकलौता पुत्र लन्दन में बारिस्टर का प्रमाण पत्र प्राप्त करने गया था। चार माह तक उसके सम्बन्ध में माता को कोई समाचार नहीं मिला था। वह योगिराज गम्भीरनाथ के पास आयी। उस समय उनके पास स्थानीय राजकीय विद्यालय के प्रधानाध्यापक राय साहब अघोरनाथ अपने सहकर्मी अटल बिहारी गुप्त के साथ बैठे हुए थे। विधवा ने निवेदन किया कि महाराज मेरा पुत्र लन्दन में है। उसके मित्र का तार आया है कि वह वहाँ नहीं है। वह हम लोगों की आँख का तारा है। आप विदेष्ठा में उसकी रक्षा कीजिए। महाराज ने कहा कि मैं तो एक साधारण-सा मनुष्य हूँ। इस सम्बन्ध में क्या कर सकता हूँ। महिला उनके चरणों पर सिर रखकर फूट-फूट कर रोने लगी। उसकी ममता ने योगिराज के हृदय को द्रवित कर दिया। वे तो असम्भव को सम्भव और सम्भव को असम्भव करने वाले थे। बड़ी ष्ठान्ति के साथ वे कोठरी में चले गये। उन्होंने दरवाजा बन्द कर लिया। बुधवार था। आधे घण्टे बाद वे बाहर आ गये। लोगों ने देखा कि वे किसी गहरे चिन्तन में थे। उन्होंने विधवा से कहा कि तुम्हारा लड़का स्वस्थ और सुरक्षित है। वह सोमवार को पहुँच जायेगा।.....अगले बुधवार को एक नौजवान राय साहब अघोरनाथ की कोठी पर उनको प्रणाम करने गया। दैवयोग से अटलबिहारी गुप्त उपस्थित थे। राय साहब ने कहा कि ये महाष्ठाय विधवा महोदया के पुत्र हैं, जो पिछले बुधवार को योगिराज के पास गयी थी। विधवा का पुत्र यह नहीं समझ सका कि किस विषय में बात हो रही है। दैवयोग से राय साहब नौजवान को साथ लेकर बाबा का दर्ष्ठान करने गये। उस समय अटल बिहारी गुप्त भी साथ थे। नौजवान ने बाबा के चरण पर सिर प्रणाम किया। वह उनका दर्ष्ठान करते ही आष्ठचर्यचकित हो गया।

'आप कब आये?' उसने बाबा को देखते ही तत्काल प्रष्ठन किया। 'तो क्या तुम बाबा को जानते हो?' राय साहब अघोरनाथ ने बारिस्टर से पूछा। वह उनका विद्यार्थी रह चुका था। नौजवान ने बाबा से कहा कि मैं बम्बई में उतरते ही इम्पीरियल मेल से सवार हुआ, पर गाड़ी में आपको नहीं देखा। उसने राय साहब से कहा कि हमारे जहाज को बम्बई पहुँचने में एक दिन ष्ठोष रह गया था। मेरे कैबिन के सामने बाबाजी खड़े थे। भारतीय साधु को देखकर बातचीत करने की उत्सुकता हुई। मैंने अपने कैबिन के बाहर आकर बाबा से पाँच मिनट तक बात की। उसके बाद बाबा चले गये। न तो मैंने फिर इनको स्टीमर पर देखा और न ये रेलगाड़ी में ही दीख पड़े। अटलबिहारी गुप्त के पूछने

पर कहा कि पिछले बुधवार की ष्ठाम की बात है। समय ठीक वही था, जब बाबा ने आधे घंटे के लिए कोठरी का दरवाजा बन्द कर लिया था। योगिराज बड़ी ष्ठान्ति से उसकी बातें सुन रहे थे। नौजवान को अपनी माता के बाबा से मिलकर समाचार पूछने का तनिक भी पता नहीं था, न तो वह यही जानता था कि अटलबिहारी और रायसाहब के सामने कितनी महत्त्वपूर्ण घटना घट चुकी थी। इस घटना का विवरण अटलबिहारी गुप्त महोदय ने अपनी बंगला पुस्तक 'मष्ट्यु और पुनर्जन्म के बाद' में विस्तार से दिया है। बाबा गम्भीरनाथ की साधना, न जाने, कितने यौगिक चमत्कारों से भरी पड़ी है।

सम्वत् 1973 वि. की बात है। गोरखनाथ मठ में वे एक दिन बैठकर ष्ठिष्यों और भक्तों से बात कर रहे थे। उस समय प्रथम योरपीय महायुद्ध चल रहा था। एक भक्त ने बाबा से पूछा कि महाराज! यह युद्ध कब समाप्त होगा? बाबा ने बड़ी गम्भीरता से उत्तर दिया कि यह युद्ध एक-दो साल में समाप्त हो जायेगा, पर थोड़े समय के बाद एक विष्ठवव्यापी महायुद्ध का आरम्भ होगा, जिसमें विष्ठव के सारे राष्ट्र किसी-न-किसी रूप में भाग लेंगे। इस युद्ध का जगत् की गति-विधि पर बहुत प्रभाव पड़ेगा। एक भक्त ने साहसपूर्वक पूछा कि भारत का क्या होगा? बाबा गम्भीरनाथजी ने कहा कि हिन्दुस्तान का भला होगा, अच्छा ही होगा। योगिराज की दोनों बातें सत्य हुईं। वे वाक्सिद्ध महायोगी थे।

एक बार गम्भीर चिन्तन की मुद्रा में गोरखनाथ मन्दिर के ठीक सामने एक चबूतरे पर बैठे हुए थे। उनके पास एक बंगाली ष्ठिक्षित ष्ठिष्य भी थे। थोड़ी देर में एक रूपमती महिला गाड़ी से उतर कर मन्दिर में आयी। वह कीमती कपड़ों में सज्जित थी। भीतर जाकर उसने देवता के पादपद्म में श्रद्धा समर्पित की, प्रणाम किया। उसके बाद वह बाबा के पास आयी। उसने उनकी चरण-धूलि मस्तक पर चढ़ायी और गाड़ी में बैठकर चली गयी। देखने में वह बड़ी ष्ठिक्षित और सभ्य थी। योगिराज के एक ष्ठिष्य को ऐसा लगा कि वह वेष्ठया है। वह यह देखकर आष्ठचर्य में पड़ गया कि मन्दिर में एक वेष्ठया ने किस तरह प्रवेष्ठा किया। महाराज गम्भीरनाथजी ने ष्ठिष्य के मन की बात समझ ली। बड़ी करुणा और मधुरता से पूर्ण वाणी में महाराज ने कहा कि वह हिन्दू है, हिन्दू होने के नाते उसे भी मन्दिर में जाकर श्रद्धा समर्पित करने का पूरा-पूरा अधिकार है। निस्सन्देह संत की दष्ठिष्ट में पापी-पुण्यात्मा का भेद नहीं रह जाता है। वे तो केवल कष्ठा करना और आष्ठीर्वाद देना ही जानते हैं।

एक बार गोरखनाथ-मन्दिर में कुछ ब्राह्मणों को भोजन पर आमन्त्रित किया गया था। यथावष्ठयक भोज्य सामग्री तैयार कर ली गयी, पर जितने ब्राह्मण निमन्त्रित थे, उनसे दुगने लोग अनिमन्त्रित आ पहुँचे। भोजन के प्रबन्धक तथा अन्य ष्ठिष्य और सेवक इस संख्या-वष्ठद्धि से चिन्तित हो उठे, भोजन कराने का समय भी निष्ठिचत ही था, इसलिए उस थोड़े समय में दुबारा भोज्य-सामग्री सिद्ध करने में बहुत विलम्ब होता। प्रबन्धक ने योगिराज गम्भीरनाथजी के चरण में इस सम्बन्ध में चिन्ता निवेदित

की। बाबा ने नयी चादर से सारी सामग्री ढकवा दी और एक किनारे से उसे परोसने का आदेश दिया। सभी ब्राह्मणों ने अच्छी तरह भोजन किया और तृप्त हो गये। आश्चर्य की बात तो यह थी कि उनके भोजन कर लेने पर भी पर्याप्त सामग्री बची रह गयी। योगिराज गम्भीरनाथ सिद्धियों के स्वामी थे, यद्यपि वे चमत्कार और प्रदर्शन से बहुत दूर रहते थे।

एक बार आम के मौसम में अनके अभ्यागतों को आम खाने के लिए गोरखनाथ-मन्दिर में आमन्त्रित किया गया। निमन्त्रित लोगों के अतिरिक्त बहुत से लोग बिना बुलाये ही आ गये थे। आम सीमित संख्या में ही थे और लोगों के आने पर बाजार से आम मँगाने में विलम्ब होना स्वाभाविक था। बात महाराज गम्भीरनाथजी तक पहुँच गयी। उन्होंने सारे आम नयी चादर से ढकवा दिये और आदेश दिया कि एक किनारे से निकाल-निकाल कर लोगों को खाने के लिए आम दिये जायँ। सभी लोग आम खाकर तृप्त हो गये और अप्रत्याशित रूप से पर्याप्त संख्या में आम बच गये।

सिद्ध पुरुष बाबा सुन्दरनाथजी योगिराज गम्भीरनाथ के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे और उनकी सिद्धियों के प्रति उनके हृदय में विशेष आदरभाव था। नाथयोगी बाबा सुन्दरनाथ अपार योगसिद्धियों और साधन-सम्पत्ति के स्वामी थे। पहले वे कर्नाटक प्रदेश के मैंगलोर के कदरीमठ के महन्त थे, जहाँ मत्स्येन्द्रनाथ आसन और नाथ-पादुका की पूजा होती है। एक दिन वे अचानक अदृश्य हो गये। लोगों को उनका दर्शन बदरीनाथ धाम में भगवती अलकनन्दा के तट पर तप में तत्पर रहते हुआ था। बदरीनाथ-मन्दिर के कपाट शीतकाल में बन्द हो जाने पर भी वे सिद्ध अवधूत दिगम्बर योगी अलकनन्दा के तट पर विकट हिमपात के वातावरण में योगसाधना और तपस्या में प्रवृत्त रहते थे। ग्रीष्मकाल में बदरीनाथ-मन्दिर का पट खुलने के समय दर्शनार्थियों और श्रद्धालुओं को उनका यहीं तपस्वी वेष में दर्शन होता था। वे कभी-कभी आबू पहाड़ पर भी आते थे। वे सदा समाधि में मग्न रहते थे। एक बार कुम्भ मेले में नागा लोगों ने उनका सिर फोड़ दिया था, रक्तपात होते रहने पर भी वे इस तरह समाधिमग्न थे कि इसका उन्हें पता ही नहीं चला। वे 1896 ई. के श्रावण में गोदावरी के कुम्भ मेले में गये थे। नासिक से जबलपुर होते हुए वे काशी पधारे थे और काशी से गोरखपुर आये थे। वे बाबा गम्भीरनाथ का दर्शन कर परमानन्द का अनुभव करते थे। दोनों एक-दूसरे से कुछ न बोलते थे, न कहते थे। उनमें अन्तर्वार्तालाप चलता रहता था। वे बाबा का दर्शन करने, कहा जाता है, गोरखनाथ-मन्दिर, गोरखपुर में दो बार आये थे। कभी-कभी उनका दर्शन हरिद्वार के उस पार चण्डी पहाड़ी की तलहटी और गढ़वाल के समीपस्थ जंगलों में किसी-किसी भाग्यशाली को होता रहता है।

योगिराज गम्भीरनाथजी ने अनेक बंगालियों की, विशेष रूप से पूर्व बंगाल के ढाका, मैमनसिंह आदि जनपदों के श्रद्धानिष्ठ लोगों को मंत्रदीक्षा और संन्यास-दीक्षा दी थी। मैमनसिंह जनपद के आनन्दमोहन कालेज के दर्शनशास्त्र के प्रख्यात विद्वान अक्षयकुमार बनर्जी महोदय ने योगिराज गम्भीरनाथ से मंत्रदीक्षा ली थी। वे उच्चकोटि के विद्वान और शास्त्रज्ञ थे। अंग्रेजी, संस्कृत और बंगला

भाषा और साहित्य का उन्हें यथेष्ट ज्ञान था। अपने जीवन का अन्तिम समय उन्होंने वृद्धावस्था में गोरखपुर में ही बिताया। युगपुरुष महन्त दिग्विजयनाथ का उन पर बड़ा स्नेह था। वे महाराणा प्रताप कालेज के कई वर्षों तक प्राचार्य-पद को सुशोभित करते रहे। गीताप्रेस से प्रकाशित होने वाले 'कल्याण' और 'कल्याण कल्पतरु' मासिक पत्रों के वे जाने-माने सिद्धहस्त लेखक थे, उनके लेख उन पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित होते रहते थे। उन्होंने गोरखनाथजी और नाथयोग से सम्बन्धित अनेक पुस्तकें लिखी थीं, जो गोरखनाथ-मन्दिर, गोरखपुर के प्रकाशन-विभाग द्वारा प्रकाशित हैं। उन पुस्तकों में अंग्रेजी में 'दि फिलॉसफी ऑफ गोरखनाथ', 'दि नाथयोग' तथा 'योगिराज गम्भीरनाथ' आदि बड़े महत्त्व के प्रकाशन हैं, इनका हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित है। अक्षयकुमार बनर्जी महोदय नाथयोग के असाधारण मर्मज्ञ थे। योगिराज गम्भीरनाथ के उपदेशों पर उन्होंने 'योगरहस्य' ग्रंथ के रूप में बड़ी मार्मिक व्याख्या लिखी है, यह ग्रंथ भी गोरखनाथ-मन्दिर, गोरखपुर से ही प्रकाशित है। अक्षयकुमार बनर्जी के गुरुभाई थे मैमनसिंह के निवृत्तिनाथ और ढाका के शान्तिनाथजी। शान्तिनाथ और निवृत्तिनाथ, दोनों ने योगिराज से मंत्रदीक्षा और बाद में संन्यास-दीक्षा लेकर साथ-ही-साथ प्रायः निवास कर अपना जीवन कृतार्थ किया। शान्तिनाथजी विकट तपस्वी और कठोर सत्यव्रती योगी थे। उनके ग्रंथ- 'एक्सपीरियेन्सेस ऑफ ए ट्रूथसीकर' (सत्यान्वेषी के अनुभव) के अध्ययन से पता चलता है कि उन्होंने सत्य की प्राप्ति के लिए उत्कट योग-साधना की। वे ढाका के एक समृद्ध कायस्थ परिवार में पैदा हुए थे। शिक्षा-दीक्षा समाप्त कर उन्होंने गम्भीरनाथजी के चरण-देश में सन्निष्ठ होकर योगसाधना की। गुरु की आज्ञा से ऋषिकेश, हरिद्वार, जूनागढ़ और आबू तथा अहमदाबाद, उत्तरकाशी, श्रीनगर, बदरिकाश्रम के कल्पेश्वर आदि स्थानों में घोर तप किया। उन्होंने योगिराज गम्भीरनाथजी की आज्ञा से मानसरोवर और कैलाश की भी यात्रा सम्पन्न की थी, निवृत्तिनाथ (अक्कू) के सहयोग से उन्हें साधना, तपस्या और सत्यानुभूति में बड़ी सहायता मिली। 28 अक्टूबर 1949 ई. में उनका शरीरान्त हुआ था। गम्भीरनाथजी ने उनके पूछने पर कि गुरु कौन है, उन्हें सत्प्रेरणा प्रदान की थी कि जो शिष्य को सांसारिक बन्धन, अविद्या और दुःख के बन्धन से छुड़ा दे, वही सद्गुरु है। इस मार्गदर्शन के अनुरूप गुरु में सन्निष्ठ होकर शान्तिनाथजी ने सत्यस्वरूप अलख निरंजन परम शिव की खोज कर अपना जीवन सार्थक किया था।

पूर्व बंगाल के नोआखाली जनपद के एक गाँव में एक बालक को बाबा गम्भीरनाथजी का स्वप्न में दर्शन हुआ। उसे ज्ञान नहीं था कि स्वप्न में उसने किन महापुरुष को देखा है। बहुत दिनों के बाद वह फेनी नगर में गया। उसने एक मित्र को स्वप्न की बात कही। फेनी में योगिराज के अनेक शिष्य थे। वहाँ बाबा का एक चित्र देखा। पहचान लिया। वह गोरखपुर आया। तीन बजे रात को रेलगाड़ी से उतर कर गोरखनाथ-मन्दिर पहुँचा, उसने बाबा का दर्शन किया। कमरे में एक दीपक जल रहा था। लगता था, बाबा गम्भीरनाथजी उसके ही आने की प्रतीक्षा कर रहे थे। बाबा के तिरोधान के बाद वह गंगोत्री में योगाश्रम की प्रतिष्ठा कर तप करने लगा। उसका नाम था प्रज्ञानाथ।

योगिराज गम्भीरनाथ अपने दीक्षित शिष्य की रक्षा में सदा तत्पर रहते थे। एक बार जब वे कलकत्ता में नेत्र-चिकित्सा के सम्बन्ध में प्रवास कर रहे थे, एक श्रद्धालु भक्त को उन्होंने दीक्षा दी। उस समय एक परकाय-प्रवेष्टा करने वाले योगी अपनी योगशक्ति का प्रदर्शन कर रहे थे। उनकी यह घोषणा थी कि जो व्यक्ति, शान्तचित्त से अपने घर पर मेरा आवाहन करेगा, मैं उसके समक्ष समुपस्थित हो जाऊँगा। श्रद्धालु व्यक्ति ने अपने घर पर ध्यान में उनका आवाहन किया। योगी उसके सामने थे। उन्होंने उसे दीक्षा देनी चाही। वह व्यक्ति भयभीत हो गया और उनके आवाहन के लिए पश्चाताप करने लगा। योगी ने कहा कि पहले के दीक्षामंत्र की शक्ति नष्ट कर मैं तुम्हें दीक्षित करूँगा। श्रद्धालु भक्त ने तत्काल देखा कि पीछे की ओर से सिद्ध पुरुष बाबा गम्भीरनाथजी की ज्योतिपूर्ण मूर्ति परकाय-प्रवेष्टी योगी की ओर सुतीक्ष्ण दृष्टि से देख रही है और योगी का शरीर बाबा के नेत्र के अग्निस्फुलिंग से अभिभूत है। योगी बाबा गम्भीरनाथजी के ज्योतिविग्रह को प्रणाम कर चले गये और बाबा की ज्योतिर्मयी मूर्ति अन्तर्हित हो गयी। इस तरह बाबा गम्भीरनाथ ने अपने दीक्षित शिष्य की बहुत बड़ी विपत्ति से रक्षा की। शिष्य ने बाबा के पास जाकर अपने अपराध के लिए क्षमा माँगी, बाबा ने सान्त्वना प्रदान की, घटना के सम्बन्ध में मौन थे।

योगिराज गम्भीरनाथ योगपुरुष थे। उन्होंने अनुभव किया कि शिव, शक्ति और जीव, सब के सब परमात्म धरातल पर- शिवैक्य के स्तर पर एकाकार हैं। माया के संयोग से ही मन ब्रह्म के रूप में अभिव्यक्त होता है। मन से ही पंचभूतात्मक शरीर की सृष्टि होती है। मन को उन्मन अवस्था से ब्रह्मपद में लीन करने से साधक सर्वज्ञ हो जाता है। बाबा गम्भीरनाथजी योगरहस्य के सर्वमान्य मर्मज्ञ थे। उन्होंने आदिनाथ शिव द्वारा प्रवर्तित और गोरखनाथजी द्वारा प्रतिपादित योग की साधना की। वे माया के बन्धन से पूर्ण मुक्त सिद्ध पुरुष थे। ये योगेश्वर गोरखनाथजी की वाणी में पूर्ण विश्वास करते थे कि परब्रह्म आत्मतत्त्व न बाहर है, न भीतर है, न निकट है, न दूर है। ब्रह्मा और सूर्य उसे खोजते रह गये पर उसका रहस्य न पा सके। श्वेत स्फटिक मणि को हीरे ने बेध लिया। ब्रह्म-साक्षात्कार हो गया, इसी परमार्थ के लिये गोरखनाथजी ने साधना सिद्ध की-

बाहरि न भीतरि, नेड़ा न दूर, खोजत रहे ब्रह्मा अरु सूर।
सेत फटिक मन हीरै बीधा। इहि परमारथ गोरख सीधा।।

(गोरखबानी सबदी 174)

गोरखनाथ जी की योगपरम्परा पर चलने वाले गम्भीरनाथजी ने इसी परमार्थ-योगतत्त्व के लिए योगसिद्धि के राज्य में आधिपत्य प्राप्त किया। उन्होंने नाथयोग के सिद्धान्त के अनुसार शिव और शक्ति की एकात्मकता-कुण्डलिनी के पूर्ण जागरण का योगमाध्यम से अनुभव किया। वे अपने आप को सदा गोरखनाथजी का अनुयायी बताया करते थे-उनका दृढ़ विश्वास था कि महायोगी गोरखनाथ भगवान् शिव के अवतार थे, अभिव्यक्त रूप थे। उनका योगाभ्यास गोरखनाथजी की योगप्रक्रिया के आधारभूत था। योगिराज गम्भीरनाथ ने सदा कान में कुण्डल और वक्ष पर नाद धारण किया। उन्होंने

योग के स्तर पर स्थित होकर परमात्मसत्य का साक्षात्कार किया। वैराग्य उनकी योगसाधना का प्राण था। नामजप में उनकी बड़ी निष्ठा थी। महात्मा विजय कृष्ण गोस्वामी की उक्ति है कि मुझे भगवन्नाम-निष्ठा बाबा गम्भीरनाथ की कृपा से प्राप्त हुई। ज्ञानशक्ति और ऐश्वर्य पर योगिराज गम्भीरनाथ का पूर्ण अधिकार था। वे कहा करते थे कि विश्वास रखना चाहिए, विचार करना चाहिए, सब ओर अच्छा ही होगा। विश्वास की शक्ति से असम्भव भी सम्भव हो जाता है।

योगिराज गम्भीरनाथजी की भगवद्गीता में अप्रतिम श्रद्धा थी। निस्सन्देह वे मायातीत, त्रिगुणातीत और युक्त योगी थे। उनकी बड़ी मार्मिक वाणी है कि 'सदा सत्य बोलना चाहिए। छल-प्रपंच से दूर रहना चाहिए। अहम् में नहीं चिपकना चाहिए। दूसरों को कभी भला-बुरा नहीं कहना चाहिए। समस्त धर्मों और मतमतान्तर का आदर करना चाहिए। भिखारियों, दीन-दुखियों और असहायों को बड़े प्रेम से भिक्षा देनी चाहिए। विचार करना चाहिए कि इस प्रकार हम ईश्वर की पूजा कर रहे हैं।'

बाबा गम्भीरनाथ की योगसाधना की दृष्टि की प्राणशक्ति उदारता थी, निष्पक्षता थी। वे रामलीला, कीर्तन और भजन आदि के लिए अपने शिष्यों और भक्तों को ही नहीं, सभी लोगों को प्रोत्साहित किया करते थे। उन्होंने कहा कि देवस्वरूप में भेद-दृष्टि नहीं रखनी चाहिए। रूप और नाम से वे भिन्न हैं, पर उनमें एक ही तत्त्व का अधिवास है। विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों द्वारा विभिन्न प्रकार से एक ही परमतत्त्व की उपासना और विचार को कार्यान्वित किया जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता के सम्बन्ध में उनकी उक्ति थी कि यह सभी युगों के लिए सत्य ग्रंथ है। सत्य के अन्वेषकों के लिए गीता ही बहुत है। यह सार्वजनिक तथा सनातन भागवत शास्त्र है। भगवच्चिन्तन के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि बड़ी व्यापक थी। वे कहा करते थे कि 'अहंता' और 'ममता' का परित्याग कर ईश्वर के चरणों पर समर्पित हो जाना चाहिए। वे योगक्षेम का वहन करते ही हैं। उनसे केवल सत्य और प्रेम की माँग करनी चाहिए। भूत के चिन्तन और भविष्य की चिन्ता से दूर रहना चाहिए। अपने वर्तमान कर्तव्य का सत्यता से पालन करना ही श्रेयष्कर है। विश्वास, धैर्य और आशा के प्रकाश में आगे बढ़ते रहना चाहिए। स्मरण रहे कि ईश्वर अच्छी तरह जानते हैं कि तुम्हारा मंगल किस बात में है और उसका विधान करते हैं।

योगिराज गम्भीरनाथजी भगवन्नाम की साधना पर बड़ा जोर देते थे। उनकी घोषणा है कि 'भगवान् के नाम से सब कुछ हो जायेगा।' वे कहा करते थे कि मुक्ति की प्राप्ति के लिए साधना और योग्यता-अधिकार की बड़ी आवश्यकता होती है। शिष्य के सत्प्रयास से ही यह सम्भव है। गुरु साधना और सिद्धि घोटकर पिला थोड़े ही देंगे। सद्गुरु वह है, जो अपने आप में आत्मानुभूति प्राप्त कर लेता है और दूसरों को आत्मनिष्ठा से सम्पन्न करता है। गम्भीरनाथजी ने नाथ-सम्प्रदाय के यागिसिद्धान्त को पुनर्जीवन प्रदान किया। उन्होंने योग के प्रकाश में सत्य और भगवन्नाम का साक्षात्कार किया। समस्त जगत् के कार्यों को वे ईश्वर की लीला समझते थे। उनकी विज्ञप्ति है कि विचार ही तपस्या है। वे बार-बार अहंकार के नाश की ही शिक्षा दिया करते थे, अपने भक्तों और

ष्ठाष्यों को सावधान करते थे कि 'मैं नहीं रखना चाहिए।' वे समाधि-योगी थे। समाधि-योगी का आष्ठाय है योगसिद्ध महात्मा।

जीवन के अन्तिम दिनों में नेत्र-ज्योति की क्षीणता से बाबा गम्भीरनाथजी को मोतियाबिन्द का रोग हो गया था। वे उसे ठीक कराने के लिए कलकत्ता गये हुए थे। डॉक्टर मानरड ने उस रोग को ठीक कर दिया। बाबा को देखकर डॉक्टर ने कहा था- 'अरे! ये तो साक्षात् ईसा की ही तरह दीख पड़ते हैं।'

योगिराज गम्भीरनाथजी ने सम्वत् 1974 वि. की चैत कष्ष्ण त्रयोदष्ठी को सवा नौ बजे प्रात:काल (तद्नुसार 21 मार्च, 1917 ई.) परमधाम की यात्रा की थी। गोरखनाथ-मन्दिर, गोरखपुर के परमपवित्र प्रांगण में ही उनका समाधि-मन्दिर है, जो ष्ठाष्ठवत सत्य और ष्ठान्ति का दिव्य प्रतीक है, उसमें उनकी संगमरमर की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। नित्य नियमपूर्वक प्रतिमा की पूजा आरती होती है। ष्ठाष्यों को वे कभी-कभी स्वप्न में दर्ष्ठान देकर उनका पथ-प्रदर्ष्ठान करते रहते हैं। योगिराज योगपुरुष महात्मा गम्भीरनाथ योग, ज्ञान, तपस्या और भक्ति के चिन्मय मूर्तिमान प्रतीक-स्वरूप थे।

-योगवाणी, 'नाथसिद्धचरित' विष्ठेषांक, जनवरी, 1984 से संकलित।

卐

महाविद्यालय में अकादमिक परामर्श समिति

प्रो. यू.पी. सिंह	पूर्व कुलपति	बीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर
प्रो. राम अचल सिंह	पूर्व कुलपति	राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद
प्रो. एस.सी. बोस	पूर्व अध्यक्ष	अंग्रेजी विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गो.वि.वि.गो.
प्रो. सी.बी. सिंह	पूर्व अध्यक्ष	राजनीतिशास्त्र विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गो.वि.वि.गो.
प्रो. जयप्रकाश	पूर्व प्रतिकुलपति	दीनदयाल उपाध्याय गो.वि.वि.गो.
प्रो. ईश्वरदास	पूर्व अध्यक्ष	रसायनशास्त्र विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गो.वि.वि.गो.
प्रो. शिवशंकर वर्मा	पूर्व सदस्य	माध्यमिक शिक्षा चयन बोर्ड, उत्तर प्रदेश
प्रो. जे.एन. पाण्डेय	पूर्व अध्यक्ष	भूगोल विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गो.वि.वि.गो.
प्रो. सदानन्द गुप्त	आचार्य	हिन्दी विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गो.वि.वि.गो.
डॉ. वेद प्रकाश पाण्डेय	पूर्व प्राचार्य	किसान पी.जी. कालेज, सेवरही, कुशीनगर
श्री रोहिताश्व श्रीवास्तव	प्रवक्ता	अंग्रेजी, महात्मा गांधी इण्टर कालेज, गोरखपुर
प्रो. गोविन्द पाण्डेय	प्रोफेसर	मदन मोहन मालवीय प्रोद्यौगिकी विश्वविद्यालय, गोरखपुर
डॉ. राज किशोर सिंह	एसोएिट प्रोफेसर	बी.आर.डी. मेडिकल कालेज, गोरखपुर
श्री एस.के. अग्रवाल	अध्यक्ष	चेम्बरर्स ऑफ इंडस्ट्रीज, गोरखपुर
श्री अजय सिंह	वरिष्ठ पत्रकार	गोरखपुर